श्रीहरिः ॥

"सा विद्या तन्मतिर्यया" ॥

श्रीमद्भगवद्गीता
गुंजन

· प्रसारक :

भागवतभूषण, भागवतरत्न, भगवच्छास्त्रनिष्णात

नवनीतप्रिय जेठालाल शास्त्री

वल्लभवेदान्ताचार्य (प्रथमस्वर्णचन्द्रक), काव्यतीर्थ

सिविल एन्जिनीयर

· प्रकाशक :

"विद्यानिधि" (ट्रस्ट), नडीआद

॥ श्रीहरिः ॥

॥ "सा विद्या तन्मतिर्यया" ॥

श्रीमद्‍भगवद्‍गीता
गुंजन

: प्रसारक :

भागवतभूषण, भागवतरत्न, भगवच्छास्त्रनिष्णात,
नवनीतप्रिय जेठालाल शास्त्री
वल्लभवेदान्ताचार्य (प्रदत्तस्वर्णचन्द्रक); काव्यतीर्थ,
सिविल एन्जिनीयर

: प्रकाशक :
"विद्यानिधि" (ट्रस्ट), नडीआद ।

श्रीहरिः

"सा विद्या तन्मतिर्यया ।"

"विद्यानिधि" ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित इस लेखकके अन्यग्रंथ :

ग्रंथनाम	**न्योछावर**
(१) श्रीमद्‌भागवत रसास्वाद	७०–००
(२) सुमंगल– नवनीत संचय	– –
(३) सुलभ– शान्ति	२–००
(४) कराल कलिकालमें कल्याण	१–००
(५) त्रिविध– नामावलि	२–५०
(६) दुःख– दयाका दान	१–५०
(७) सुलभ– शान्ति (हिन्दी)	२–००
(८) जीवन– मंगल	२–००
(९) श्रीपुरुषोत्तम सहस्रनाम स्तोम्	४–००
(१०) पत्र–परिमल	८–००
(११) व्रज– विहार	२५–००
(१२) श्रीमद्‌भागवत– प्रथम दृष्टिमें (हिन्दी)	–
(१३) श्रीमद्‌भागवतमें अद्‌भुत विज्ञान–विहार (श्रीमद् वल्लभाचार्यजीकी नजरोंमें)	१००–००

अन्यत्रसे प्रकाशित

(१) श्रीस्वामिन्यष्टकम् (२) गुप्तरस (३) श्रीमद्‌भागवत प्रथम नजरे (४) पुष्टि– मार्ग (५) पुष्टि– मंगल (६) द्विज–दिव्यता (७) संग्रह– कुंज

श्रीहरिः

श्रीमद्भगवद्गीता
गुंजन

विनम्र– समर्पण

गीता कृष्णेन कृष्णाय
दृष्टा कृष्णमहर्षिणा ।
दीप्ता कृष्णास्यकारुण्यात्
तेभ्यो गुंजनमर्प्यते ॥

गीता गाई कृष्णने ! अपने कृष्ण (अर्जुन)के लिये ! देखी कृष्ण– द्वैपायन महर्षि व्यासजीने ! यथार्थ प्रकाशित हुइ– कृष्णास्य महाप्रभु श्री वल्लभाचार्यजीकी करुणासे ! उनको (गीता का यह) गुंजन सस्नेह समर्पण !

सं. २०४७– रथयात्रा !
अषाढ शुक्र–२
दि. १३–७–९१,
"व्रजविहार",
नडियाद.

विनीत– कृष्णकृपाकांक्षी,
नवनीतप्रिय शास्त्री

श्रीभागवत प्रतिपदमणिवरभावांशुभूषितमूर्तिः ॥

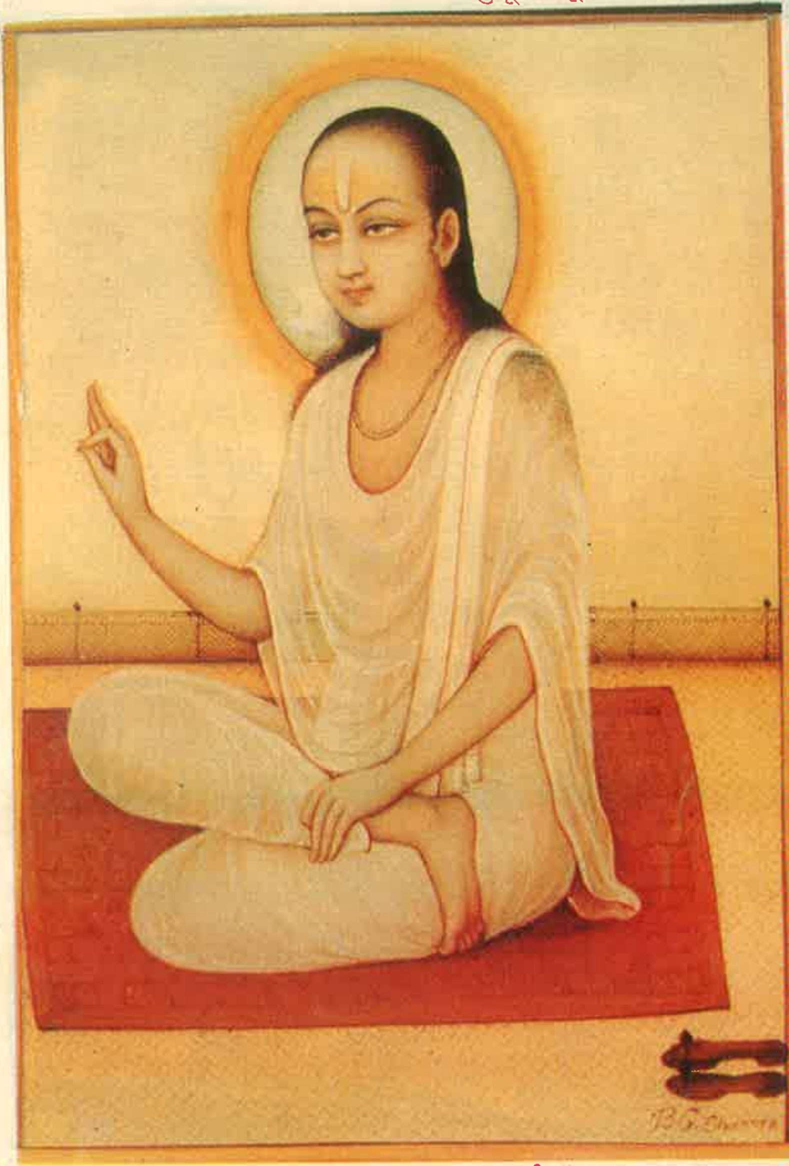

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण ।

श्रीहरिः

श्रीमद्भगवद्गीता

गुंजन

स्वान्तः– संलाप

अद्भुत लीला है– लालन– गोवर्धनधरकी ! अशक्यको सुशक्य बना देते हैं । अयोग्यको सुयोग्य बना देते हैं । अकल्प्यको सुकल्प्य– साकार– कर देते हैं । सत्को सत् मिलाते हैं । भक्तको आवश्यक हो इससे पहले सबकुछ (साधन)– फल तैयार रख लेते हैं । गरिमा है– भक्तिमार्गकी! भक्तिप्रदाता– भगवानकी ! दोनोंके प्रदाता– श्रीमहाप्रभुजीकी !

श्रीभागवतकथा बम्बइमें चल रही थी । एक दिन विदेशसे फोन आया । दूरध्वनिमें ध्वनिसे निकट बुलाया । ध्वनि सुनी! धन्यता लगी । न जान ! न पहचान ! अत्यंत आतुर अंतःकरण उमड रहा था ! –"आप हमको भागवतजी सुनाओगे? हमको प्रिय– प्रभुको जानना है । मन भरके मग्न हो जाना है । कुछ मिला नहीं । कोइ सिखाता नहीं । आप सिखाओगे?!" आवाज– आर्ति, अंतःकरणको आर्द्र बनाके बहा गई ! याद आ गई, मेरी मुश्किल अनुभूति ! सिखनेके लिये सिरदर्द जैसी तडपन ! मुझे भी भागवतजी पढना था । कथाकार तो थे !– प्रथा तो चलती थी ! व्यथा सुननेवाला नहीं था कोइ । भगवान्मार्ग– भागवत– बतानेवाला कोई नहीं मिला था । विनती करता था, व्यवहार बताते थे ! हृदय विदीर्ण हो जाता था ! भगवानने ही कृपा

अपार कर दी । अपने भगवदीय मिला दिये ! प.भ.नि.ली.मु. मोहनकाकाने वात्सल्य बरसाया । मार्गप्रवेश कराया । पं.भ.पू.पा. नि.ली. दादाजी– (व्रजवल्लभभाई शास्त्रीजीने) प्रगाढ पुष्टि प्रेमप्रवाहमें पुष्ट कर दिया ! जीवन प्रभुका बनाया । प.भ.पू.पा.नि.ली. नागरदास (काका) बांभणीआजीने स्वतः श्रम लेकर, सामने घर आकर, अकारण अनुग्रह– औदार्यसे शास्त्र, प्रवेश करा दिया ! भगवदीयोंने दिया, मेरा क्या है ? भक्त द्वारा ही भगवान् सब कुछ करते हैं । मैं किसी आर्तिसभरको ना कैसे कह सकूँ? भगवानने ही चाहा । सिंगापुरमें भगवद्गुणानुवाद हुए । चि.सौ.रेखाकी सेवा– कथाकी उत्कट स्वाभाविक ऊर्मि एवं सन्निष्ठाके स्वानुभावसे स्वान्तः सन्न हो गया ! भाई श्री भरतभाई राजकी भद्रतासे मन भर गया ! परिवारके पुत्र– पुत्रियाँका प्रगाढ प्रभुप्रेम प्रसन्न कर गया ! गत अधिक मासमें पुनः कथाप्रसंग हुआ । दोपरमें गीताजीका गान ! प्रभुका ही दान ! शामको श्याममें– एकतान ! भागवतजीका रस पान ! प्रभु– महाप्रभुजी– संप्रदाय– समाज– सेवाका– सुदृढ– सुंदर मनोरथ हुआ चि.सौ. रेखाके संनिष्ठ स्वान्तःमें ! श्रीगीताजीसे श्रीमहाप्रभुजीके भक्तिमार्ग– सिद्धान्त मिले तो पुष्टि हम सब स्वकीयोंको पुष्ट कर दें । करते हैं – भगवान् । कराते हैं– भगवान् । आरंभ हो गया, "गीतागुंजन"को शब्द स्वरूपमें साकार करना ! रात– दिन चलता रहा यह सेवाक्रम ! ता. २२–४–९१से प्रारब्ध, हो गया, फलित ताः ३०–७–९१ मुद्रितरूपमें ग्रंथमुद्रामें "गुंजन" ! "गुंजन"– गोविंदका ! पान– पार्थका ! दान– दैवीजीवोंको ! दुनियाके दुःखी– सुखी जीवोंको ! भगवान् निमित्त भी बनाते हैं– स्वकार्यमें सुजनोंको ! चि. सौ. रेखा, श्रीभरतभाई राजको, तो क्या कहूँ ?! सहभागी है– सद्भागी है– सेवामें ! शब्द नहीं है, संवेदन ही है ! निवेदन ही है– श्रीनाथको ! स्वजन परिवारकी पुत्रवधू चि.सौ. लता जयेश परीख (बी.ए.)ने प्रूफ रिडिंग– प्रभृति प्रभुकार्य रात– दिन एक करके किया, करती ही रहती है । आशीर्वाद देने नहीं पडते हैं! सहायता भी दी है उस कार्यमें चि. कु. जयश्री सोनी तथा चि. कु. दर्शना ज. कापडीआने ! मंगलाशीवार्द ! सहृदय कवि श्रीदीपकभाइ काशीपुरिया (एम.ए.) भद्रतासे भाषाशुद्धि देख गये । आर्टवेलके श्रीप्रकाशभाइने कवरपेजके ब्लोक सुंदर बना दिये । उभयको हार्दिक धन्यवाद ! "युगांचल"– प्रिन्टर्स तो एक महिनमें ग्रंथ पूरा मुद्रित कर देनेमें कटिबद्ध ही नहीं, लगातार लगा रहा ! भूरि भूरि धन्यवाद ! लाखों रुपयोंकी सेवा, प्रसिद्धि बिना, भगवत्प्रीत्यर्थ, गुप्तरीतिसे, करनेवाले सुजनोंको सस्नेह भगवत्स्मरण– मंगलकामना ! ज्ञाताज्ञात सब सहयोगि– जनोंको हार्दिक धन्यवाद ! "विद्यानिधि" ट्रस्ट प्रभुसेवामें बद्ध– परिकर है, ग्रंथसे पंथ– प्रकाश करके कथको प्रसन्न करनेकी सेवामें रत रहता है– रहे, ऐसी मंगलकामनाऐ विश्वस्त सदस्योंको हार्दिक धन्यवाद !

कहाँ गीताजी?! कहाँ स्वल्पमति मैं ?! कविकुलगुरु, महाकवि कालीदासजीको तो रघुवंश– सागर तैरनेमें उडप भी था । मैं तो केवल निःसाधन !– गीताका ज्ञान नहीं ! भक्तिका भान नहीं!

शास्त्रकी समज नहीं । केवल कृष्ण– कृष्णास्यकी कृपा ! कृष्णने ही कर दिया– "गीता गुंजन" !! है ही– कृष्णका । उसमें अपनी मस्तीका गुंजारव है । स्वमंडन है, खंडनका हेतु नहीं । सिद्ध–प्रसिद्ध, नामी– अनामी, ज्ञात– अज्ञात, सब गीतासेवनशील–ग्रंथपंथ– प्रकाशकोंको प्रेमपूर्वक प्रभुवंदन !

सदैर्न्य वंदन– मेरे कृष्ण– कृष्णास्यके कोमल पादपद्मोंमें कहीं "गुंजन"में मेरे ही प्रकृति– प्रमाद– अज्ञानादिसे गडबड कर दी हो, आपको श्रम कराया हो, तो सांजलि–बद्ध सानुनय क्षमायाचना ! विदित करनेकी विनंती विभुरत विद्वद्वृंदको ।

सं. २०४७–आषाढ शुक्र–९ — कृष्णकृपाकांक्षी
ता. २०–७–९१ शनिवार — **नवनीतप्रिय शास्त्री**
ठि. "व्रजविहार",
मोदीसांथ– मोटीपोल,
मु. नडियाद (३४७००१).

श्रीहरिः

"गीता– गुंजन"– आवरणपृष्ठ– चित्रका भावार्थ

१. गीताका गुंजन कृष्ण–भ्रमर–का है – उसका सूचक है–भ्रमर !

२. कृष्णके सूचक है– वेणु और मयूरपिच्छ !

३. गीता कृष्णका निर्मल वाणीनाद है । सूचक है– सफेद वर्तुल!

४. कृष्णके वाणीनाद (गीता)में वर्णित कतिपय मुख्यविषयोंके निर्देश विशिष्ट– हेतुसे वेणुके ऊपर रंगीन अक्षरोंमें हैं ।

जीवन–मंगल–दर्शन– कराते हैं – पुरुषोत्तम कृष्ण !–कृष्णवाणीनाद– गीताजी (भागवतजी)से ! स्वयं कृष्ण तो अपने –को पुरुषोत्तम कहते हैं ! भगवान् कृष्णने मुख्यतः व्रजभक्तोंको वेणुनाद सुनाया और अन्यभक्तोंको वाणीनाद ! संसारीओंका भी उनसे जीवनमंगल हो जाता है । अतः नाम लालरंगसे बताये हैं ।

यर्थाथ गीतागौरव तो भगवानने अंतमें शरणागतिसे सफलतामें ही बताया है । जीवन उससे हराभरा होनेसे ये नाम हरे रंगमें बताये हैं ।

अपरोक्षानुभूतिके– दर्शनका पुष्टिस्वरूप बताकर शास्त्रसुधा–

संदोह बताया है । अन्य संदोह यहाँ अन्यत्र भी है । इससे नीले अक्षरोंमें नाम हैं ।

भक्तिरस– भव्यता तथा कृष्णयोग तो कृपैकलभ्य है, लोक–प्रसिद्ध नहीं हैं, सर्वजनलभ्य नहीं है । इस लिए गूढ हैं । आह्लादरूप है । अतः शीघ्र– स्पष्ट– न दिखाई दे, ऐसे पीलेरंगसे नाम सूचित किये हैं ।

गीताके अंतमें "मन्मना भव" तथा "मामेकं शरणं व्रज"– भगवदाज्ञाका, "करिष्ये वचनं तव"–से, आज्ञापालन रूप आत्मनिवेदन– तत्पर पार्थका प्रतीक है,– सज्ज धनुष्यबाण !

आत्मनिवेदनकी प्रगति– सूचक हैं–नील रेखाएं ! आकाश तक सर्वत्र फैलता, सर्वव्यापक, उसका संदेह– रहित संदेश है– भक्ति ! उसके भाव– बादलोंमें स्वैर–विहार–रत पक्षी है– प्रेमनिरत, भगवानको यर्थाथ जाननेवाला,– भक्त !

श्रीहरिः

श्रीमद्भगवद्गीता
गुंजन

अनुक्रमणिका

अ.नं	विषय	पृ.नं.
१.	**समर्पणम्**	
२.	**स्वान्तःसंलाप**	
३.	**अंतःकरणका उत्कट अभिलाष**	
४.	**श्रीमद्भगवद्गीताका प्राथमिक– परिचय**	
	(१) गीता भी है– श्रीमद्भागवत	I
	(२) गीता– गौरव	II
	(३) गीता– विद्यापर्व	III
	(४) गीताके विविध नाम	IV
	(५) गीतामृत– दोहन	V
	(६) गीतामृत– दोहन– विशिष्टता	VIII
	(७) गीताशास्त्र	XI
	(८) प्रमाण– व्यवस्था	XII
	(९) गीता– संवाद है: दो गृहस्थोंका, उपदेश या आदेश नहीं है	XIV

(१०) कृष्णगीता- कृष्णकी अनुभव स्मृति XV
(११) गीता- कृपालाभ XVI
(१२) गीता- दूर- श्रवण- दर्शन- सामर्थ्य विज्ञान- विहार XVII
(१३) गीता- श्रोता XIX
(१४) गीता- तात्पर्य XX
(१५) गीता- अनुबंध- चतुष्टय XXI
(१६) गीतामें नवधाभक्ति XXXIII
(१७) गीतामें साधनभक्ति- साध्यभक्ति- पराभक्ति XXXV
(१८) गीतामें अनन्य- भजन XXXVII
(१९) गीतामें साकार- ब्रह्मवाद XXXX
(२०) गीता- सर्ववाद- विश्राम XXXXIII
(२१) गीता- श्रद्धालुको संमत- जीवन-- मंगल- संदेश, भारतीय शास्त्र जीवन- -विवेक XXXXV
(२२) बुद्धि- इन्द्रिय- मनः- प्राणका यथार्थ उपयोग XXXXVII
(२३) गीतामें बुद्धिकी विशिष्टता, भगवदीय- बुद्धिसे जीवन- सफलता L
(२४) गीतामें चार पुरुषार्थ- नः संयमयुक्त बुद्धिवालोंके लिये LIV
(२५) गीताजीके छः छः अध्यायके तीन विभाग LVI
(२६) गीताके अठारह अध्याय (योग)का संकलन LVII
(२७) गीताजीमें १८ अध्याय के १८ योगसे- भी अधिक योग LXIX
(२८) सर्वयोगका समन्वय- कृष्णयोग LXX
(२९) गीताकी श्लोक संख्या LXXII
(३०) प्रसिद्ध- विविध- गीताऐं LXXIII
(३१) श्रीमद्- भगवद्गीता- प्रतिपाद्य विषयमें विभिन्नमत LXXV
(३२) श्रीवल्लभ- मतमें गीता- साहित्य LXXVII
(३३) गीतामें विचार- स्वातंत्र्य LXXXV
(३४) कृष्ण- भ्रमर ! गीता- गुंजन LXXXVI

५. **अध्याय- १ अर्जुन- विषादयोग**

(१) अद्भुत गीतागान 1
(२) धृतराष्ट्रका श्रवण 2
(३) मानवका यथार्थ- स्वार्थ 4

(४) स्वमानन्यतासे अनर्थ 4
(५) निर्णायक- युद्ध 5
(६) जीवनका क्लेश बीज- जीवनमें "महाभारत" और "भागवत" 6
(७) अयोग्य द्रव्य- अधःपतनका कारण 7
(८) महाभारतयुद्ध कौरव- पांडवोके बीच नहीं हुआ है 8
(९) दुर्योधनकी कूटनीति 9
(१०) उभय सेना- परिमाण 10
(११) युद्धभूमिमें माधव- पांडव- प्रवेश 11
(१२) अद्‌भुतकर्मा कृष्ण 11
(१३) भक्त वत्सल भगवान् 13
(१४) अर्जुनकी विकलता 13
(१५) कृष्णकृपासे भक्त विषाद- विषादयोग, विषादयोग- फल 15

६. **अध्याय- २- सांख्ययोग**

(१) आनंदमय भगवान् कराते हैं, उद्वेग भी 16
(२) स्वजनवध दोष है- यह समझना भूल 17
(३) अर्जुन- विषादमूल 17
(४) शिष्य अर्जुनके समर्थ गुरु कृष्णने बतायें हुए योगः गीताके १८ योग, ज्ञान भी भक्ति योगमें समाविष्ट 20
(५) प्रपन्न और शरणागतका अंतर 22
(६) शोकनिवृत्तिका उपाय 22
(७) अर्जुनकी उलझनका स्वरूप प्रायः सबकी मनोदशा 23
(८) प्रज्ञावाद- परिचय 24
(९) धीर पुरुषका जीवन-गंगा-प्रवाह-तरंग 27
(१०) जीवनका ध्येय 28
(११) ब्रह्मसे अनन्य है, अतः सत्य है- जगत् 28
(१२) आत्माकी नित्यताः सांख्य 33
(१३) अन्यमत- निरूपण 34
(१४) आश्चर्योंका भंडार भगवान्ः 34
(१५) युक्तिसे युद्ध- प्रेरणा 35
(१६) योगनिरूपण 36
(१७) भगवद्धर्मकी महत्ता 37
(१८) स्थितप्रज्ञ- लक्षण 42

७. **अध्याय- ३ : कर्मयोग**

(१) निष्ठा- प्रकार 55

(२) "तत्त्वमसि" खंडवाक्य है, महावाक्य नहीं है 55
(३) स्थितप्रज्ञ और मिथ्याचार 58
(४) मनकी मुख्यताः मनको वश करनेका उपाय 59
(५) देहनिर्वाह भी यात्रा है, पवित्र कार्य है 61
(६) जीवन यज्ञ रूप है, जीवन- व्यवहार भगवत्सेवारूप भी है 62
(७) यज्ञ- स्वरूप 63
(८) यज्ञात्मक- कर्मसे भी कृतार्थता 67
(९) कामना- रहित कर्म 68
(१०) स्वधर्मसे धन्यता 69
(११) पापाचरणका मूलः- काम 70

८. अध्याय- ४ : ज्ञान- कर्म संन्यास- योग

(१) भगवानका स्वमार्ग- स्थापन 70
(२) परंपराकी महत्ता 71
(३) श्रीभागवत- परंपरा 73
(४) कर्मयोग परंपराः कर्मयोगी- सूर्यदेवः क्षत्रियोंका विद्याप्रदान
(५) शुद्धभावमें भाषाकी गौणता 75
(६) अवतार लीला रहस्य दर्शन 75
(७) भगवानका अवतार और जीवोंका उद्धार 78
(८) माया तो भगवानकी सामर्थ्य है 81
(९) अन्यमतमें अवतार- विचार 81
(१०) जगतका अभिन्न- निमित्तोपादान- कारण है- ब्रह्म ! ब्रह्मका अधिकृत- परिणाम है- जगत् 82
(११) शास्त्रोंमें साकार- ब्रह्मवादका प्रसंग 83
(१२) धर्मग्लानिके समय भगवानका भक्तज्ञानीके रूपमें प्रकट होना, धर्म- प्रचारक- रूपमें अवतार 85
(१३) साधुरक्षाके लिए भगवानके अंशांशादि- अवतार 86
(१४) अवतार- स्वरूप 88
(१५) ज्ञानकर्म संन्यास 89
(१६) सबकी ब्रह्मरूपता- ब्रह्मवाद 91
(१७) विविधयज्ञ 92
(१८) ज्ञानप्राप्तिका एक प्रकार 93

९. अध्याय- ५ कर्मसंन्यासयोग

(१) वैचारिकक्रांतिके ज्योतिर्धर कृष्ण 94

(२) अर्जुनकी कामना– निश्चित– कल्याण प्राप्तिकी 95
(३) यथार्थ– कर्मयोग– कृष्णसेवा 96
(४) नित्यसंन्यासी– कृष्णकी क्रांतदृष्टि 98
(५) सांख्य– योगका एक्य 99
(६) यथार्थ कर्मयोगीः युक्तः– कर्मबंधन– रहित होता है 100
(७) अज्ञानसे ढके हुए ज्ञानसे जीवको मोह 101
(८) जीवात्मज्ञानसे नहीं, ब्रह्मज्ञानसे मोक्ष 102
(९) भगवतकृपासे ही भगवज्ज्ञान होता है 102
(१०) ब्राह्मणकी विशिष्टता– विद्या– विनयसे है 103
(११) पंडित समदर्शी है, समवर्ती नहीं 104
(१२) दुःखका मूल– लौकिक– स्पर्शज– भोग, सच्चा सुखी– काम– क्रोधावश– सहन करनेवाला 105
(१३) भगवान् श्रीकृष्णके ज्ञानसे शांति 105

१०. अध्याय– ६ : आत्म–संयम–योग

(१) सबकुछ करते– कराते हैं भगवान् 106
(२) अनर्थमेंसे संपूर्ण शांतिका उपाय 108
(३) कर्म– ज्ञान– भक्तिमें रुचि प्रभु देते है त्रिविधसृष्टि भगवान् स्वलीलार्थ करते हैं 108
(४) सबके लिये कृतार्थ होनेका सरल– सफल– उपाय 110
(५) आवश्यक– कार्य– करनेवाला गृहस्थ भी संन्यासी है– योगी है 111
(६) अपना उद्धार अपने आप ही करें 113
(७) भगवानके साथ जीवन– मन– जोडनेवाला योगी 117
(८) नीरोगी रहनेका राजमार्ग 117
(९) योग– युक्तको सुखानुभव 119
(१०) मनकी चंचलता दूर करनेका उपाय 121

११. अध्याय– ७ : ज्ञान– विज्ञानयोग

(१) वेद– भगवान्– धर्म– पुष्टि– सनातन है 123
(२) अर्जुनका अधिकार– पुष्टिमर्यादाके अनुकूल भगवद्वचन 124
(३) स्वतंत्र– रीतिसे पुष्टिकी बात भी गीताजीमें कही है 125
(४) प्रस्थान– चतुष्टयका ज्ञान– विज्ञान 125
(५) कृष्ण और सेवाकी फलरूपता 126

(६) स्वामी- सेवक- धर्म 127
(७) पुष्टिभक्तिमार्गमें भगवान् आरंभसे ही मिल जातें हैं 128
(८) कृष्णसेवा अपने घरमें- अपने तन- धन- मनसे 129
(९) ब्रह्मज्ञान तो कृष्णसेवाका गौणफल है, कृष्णसेवा करते ही अनायास ब्रह्मज्ञान हो जाता है 130
(१०) भक्तका जीवन- ध्येय- भगवान् 131
(११) आसक्ति और आश्रय एकमें होनेसे दृढता होती है 132
(१२) विज्ञान- सहित ज्ञानका प्रदान श्रीगीतामें 132
(१३) श्रीभागवतमें भी विज्ञान- सहित ज्ञानका प्रदान है 133
(१४) ज्ञान- विज्ञानका स्वरूप श्रीभागवतमें 134
(१५) लाखोमें से कोई एक ही सिद्ध-पुरुष भगवानको यथार्थ जानता होगा 135
(१६) भगवानने स्वमहिमा ज्ञान देते हुए, अपनी प्रकृत्ति- दो प्रकारकी बताई 136
(१७) भगवानकी माया, तैरनेका उपाय 138
(१८) मैं प्रभुका हूँ, प्रभुका अंश होने से दास हूँ, प्रभु मेरे स्वामी है 139
(१९) भगवानको भजनेवाले- चार प्रकारके भक्त 141
(२०) केवल ज्ञानी नहीं, परंतु ज्ञानि भक्त भगवानकी आत्मा है 142
(२१) ज्ञानीको भी अंतमें शरणागति ही करनी पडती है 142
(२२) विविध- कामनावश अज्ञानी लोगोको विविध देवता रूपसे भगवान् ही फल देते हैं 143
(२३) प्रकट पूर्ण भगवान् कृष्ण नराकार है- निराकार कहाँ है ? उभयरूप हैं- सर्वसमर्थ भगवान् 144

१२. **अध्याय- ८ : अक्षरब्रह्मयोग**

(१) सोचनेकी भिन्न- भिन्न कक्षाएं 147
(२) अर्जुनके सात प्रश्न 148
(३) "तद्ब्रह्म" विचार, प्रत्यक्ष- परोक्ष- अपरोक्ष- ब्रह्म- विचार 150
(४) प्रत्यक्ष- ब्रह्म- विचार 151
(५) परोक्ष- ब्रह्म- विचार 153

(६) अपरोक्ष- ब्रह्म- विचार, अपरोक्षानुभूति याथार्थ्य 158
(७) श्रीभागवतमें भी अपरोक्ष- परोक्ष- प्रत्यक्ष- ब्रह्म- विचार 161
(८) भगवान् श्रीकृष्णका सर्वोत्तमभाव 163
(९) अपरोक्ष- परोक्ष- प्रत्यक्ष- ब्रह्म- गाथा 164
(१०) अक्षर- ब्रह्म- स्वरूपः 165
(११) अध्यात्मस्वरूप 167
(१२) कर्म- स्वरूप 168
(१३) अधिभूत- स्वरूप 169
(१४) अधिदैव- स्वरूप 170
(१५) अधियज्ञ- स्वरूप 171
(१६) अंतकालमें ज्ञेय- स्वरूप 172
(१७) श्रीभागवतमें नित्य अनुस्मरणका आदेश 173
(१८) यथार्थ मानव- कल्याण- कार्यः भगवानके अनुस्मरणसे जीवनकी उन्नति 174
(१९) चित्तवृत्तिका जीवनमें प्रभाव 176
(२०) अंतमें अनुस्मरणसे सद्गति 176
(२१) भगवद्धाम “ओ३म”का स्वरूप दर्शन 176
(२२) भगवान् तो सुलभ है 177
(२३) ब्रह्माजीके आयुकी गणना 178
(२४) जगतकी उत्पत्ति- स्थिति- लय लीला है- कृष्णकी 179
(२५) अव्यक्त- अक्षर, भगवानका धाम 180
(२६) अक्षर ब्रह्मसे पर पुरुषोत्तम अनन्यभक्ति से लभ्य है 181

१३. अध्याय- ९ : राजविद्या- राजगुह्ययोग

(१) निजजनको गुह्य- गुह्यत्तर- गुह्यत्तम सर्वगुह्यत्तम भी कहा जाता है. 183
(२) स्नेहल शिष्यको केवल सुनाते नहीं, देते हैं 184
(३) विज्ञान- सहित ज्ञानसे सफलता 185
(४) जीवन- व्यवहारोपयोगी प्रत्यक्षज्ञान 186
(५) विश्वरूपमें भगवान् ही खेलते हैं, जीवन- मंगल- दृष्टिोण 187
(६) यथाधिकार ही अनुभव होता है 195
(७) अज्ञानसे प्रकट प्रभुकी अवज्ञा लोग करते हैं 196
(८) महामनालोग ही भगवानको भजते हैं 197

(९) शीघ्र प्रभु- प्रसन्नताके चार व्रत 198
(१०) भक्ति न कर सकने- वाले ज्ञानयज्ञसे भगवानको भजते है 200
(११) ज्ञानसे भजनेका प्रकार 201
(१२) सबका मूल है- भगवान् 202
(१३) सकाम- कर्मफल- भोग- भ्रमण 203
(१४) अनन्यभक्तोंका योगक्षेम- वहन प्रभु करते है 203
(१५) भक्तका छोड दिया हुआ मोक्ष अन्य लोग परम फल मानके ले लेते हैं 205
(१६) अनन्योका भजन, भगवानका योगक्षेम- वहन 207
(१७) अन्यदेवताका भजन अविधिपूर्वक कृष्णभजन ही है 208
(१८) भगवान् संपत्तिसे नहीं, स्नेहसे संतुष्ट होते हैं 210
(१९) जो कुछ भी करे- उत्तम करे, प्रभु- प्रसन्नताके लिए करे, समर्पित करे 212
(२०) भगवान वेदोंसे स्वतंत्र सामर्थ्य- पुष्टि- बतातें हैं 213

१४. अध्याय- १०- विभूतियोग

(१) भगवानकी महिमा 217
(२) प्रीत हो वहाँ हित होता है 218
(३) भक्त ही भगवानको जानते हैं, न देव, न ऋषि, न मुनि 219
(४) सबका आदि- "अहम्" 221
(५) कोई भगवानको नहीं जानता है, कोई ज्ञानी नहीं है 222
(६) भगवाज्ज्ञानात्मक एक फल 223
(७) भगवानका लीलानुरूप विविधभाव प्रदान 224
(८) भगवानकी विभूति और योग 225
(९) प्रत्येक शरीरमें भिन्न- भिन्न जीव और अंतर्यामी- रूपमें भी भगवान् ही है 226
(१०) भूतमात्रके आदिमध्य- अंतमें होता है- सत् 226
(११) विभूति और योगसे- अविकंपयोग 228
(१२) प्रीतिसे भजनेवालोंको भगवान् देत हैं- बुद्धियोग- 230

(१३) ज्ञानदीपसे भगवान् ही अपने भक्तोंके अज्ञानको नष्ट कर देते हैं 231

(१४) भगवद्–विभूति सत्–चित–आनंदरूप 235

१५. **अध्याय– ११ : विश्वरूप– दर्शनयोग**

(१) प्रेम देते है– प्रभु, प्रेममें फँसते भी है प्रभु 242

(२) विनम्र शिष्य अर्जुनकी विभूति योगयुक्त स्वरूपका दर्शन– विनती, योगेश्वरकी कृपा 246

(३) भगवान् स्वेच्छासे ही मिले– पुष्टि प्रसिद्ध प्रसंग है 247

(४) "पश्य"– शब्दसे विवर्त नहीं, वास्तवदर्शन ही कराते हैं– भगवान् अपने भक्त अर्जुनको 249

(५) भगवान् जादुगर नहीं है, दिव्य गतिवाला नट है, कृष्ण तो "नटवर" प्रसिद्ध है 250

(६) बाललीलामें अपने मुँहमें विश्वदर्शन, वामनावतारमें भी विराट– दर्शन 253

(७) अर्जुनको दिव्यचक्षुका दान 254

(८) एक ही समयमें एक ही साथमें पूरा विश्वदर्शन 254

(९) विश्वकी अचिन्त्य– विशालता 255

(१०) विश्वरूप– दर्शन 256

(११) भगवान्– कालरूप 257

(१२) भगवान्– कालरूप– मृत्युप्रद, भगवान्– पुरुषरूप– अमृतप्रद 258

(१३) भक्तोंको भोग कराके भी मोक्षद है– भगवान् 259

(१४) भक्तके शत्रुओको मार रखते है– भगवान् 260

(१५) भयभीत अर्जुनकी विश्वरूप– स्तुति 261

(१६) प्रभुप्रसन्नतासे ही प्रभुप्राप्ति 262

(१७) विश्वरूप– कालरूप– देखकर अर्जुनको व्यथा क्यों ? अभयप्रद– अक्षर– ब्रह्मके दर्शनसे भय क्यों ? 263

(१८) भगवानके दर्शनादिका उपाय– अनन्य भक्ति ही 263

(१९) भगवानका (पांच गुणवाले) भक्त ही भगवानो प्राप्त होता है 264

१६. **अध्याय – १२ – भक्तियोग**

(१) विभुके वरणसे जीवन– मंगला चरण 265

(२) अक्षरोपासक– ज्ञानी और कृष्णोपासक भक्तमेंसे श्रेष्ठ उपायज्ञ कौन ? अर्जुन का प्रश्न 266
(३) भक्तिकी महिमा 268
(४) भक्तिका स्वरूप–दर्शन 269
(५) प्रभुकी प्रिया–भक्ति 270
(६) मुक्ति जीसकी दासी है, एसीभक्ति भूतल पर भक्तिका छायारूप 270
(७) ज्ञानकी पुत्री भक्ति 271
(८) भक्तिकी पुत्री भक्ति 272
(९) सत्संगकी पुत्री भक्ति 272
(१०) इश्वरमें परानुरक्ति–भक्ति 272
(११) परमप्रेम स्वरूपा–भक्ति 273
(१२) सर्वपापनिवारिका– भक्ति 273
(१३) सायुज्य मोक्ष देनेवाली–भक्ति– मुक्तिसे महेंगी–भक्ति 274
(१४) भक्ति मिली तो बाकी क्या रहा ! पांचवा पुरुषार्थ–भक्ति 274
(१५) ब्रह्मज्ञानी– ब्रह्मभूतको भी प्राप्तव्य फल है– भक्ति 275
(१६) परमहंसोको भी दुलर्भ–भक्ति कृष्णावतार– भक्ति– दानार्थ 276
(१७) प्रभुका प्रदान है–भक्ति. 277
(१८) भगवत्कथासे भक्ति–सुरवद् सर्वजनाद्धार–परायण– भक्ति 277
(१९) सत्पुरुषोकी आदत– भक्ति 278
(२०) महापुरुषोका मृग्य– भक्तियोग 278
(२१) भगवानका तत्त्वतः ज्ञान– दर्शन भक्तिसे 279
(२२) संसारके भागमें न रहना, भगवानके भागमें रहना है– भक्ति– भक्ति है गौणता 279
(२३) संयमीकी स्वाभाविकी मनोवृत्ति– भक्ति 280
(२४) सगुण– भक्तिः, निर्गुण– भक्ति 281
(२५) मयार्दाभक्तिः, पुष्टिभक्ति 281
(२६) पुष्टिभक्ति– मार्गीय–कृष्णसेवा,– निर्देश 282
(२७) अक्षरब्रह्मके आराधकको अधिक क्लेशादि 288
(२८) मन–बुद्धि भगवानमें, तो वास भगवानमें 291
(२९) जीवके लिये अमुल्य फल भी है 292
(३०) भक्तके ३२ लक्षण 294

(३१) ज्ञानि भक्त प्रभुको अत्यंत प्रिय है केवल ज्ञानी नहीं 294

(३२) प्रभुका गुणरूप– ज्ञान,– स्वरूपभूत– ज्ञान, ज्ञानी प्रभुका प्रियतम, फिर भी भक्तिसे ही कृतार्थता 295

(३३) भक्तको भगवानको अपने स्वरूपसे भी अत्यंत प्रियतम है 296

(३४) प्रभुके प्रियतम भक्त उद्धवजी भी पुष्टिभक्त श्री गोपीजनको ही सफल जन्मवाले कहते है. जिससे कोई प्रभुको अधिक प्रियतम नहीं हैं 297

१७. अध्याय–१३ क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ–विभागयोग

(१) एक और अद्वितीय ब्रह्म ही स्वलीलासे अनेक रूप 308

(२) लोकमें दो पुरुष : "भगवान्", "पुरुष"– कृष्ण ही है बाकी सब स्त्री–प्राय हैं 309

(३) भगवानके तीन रूप 310

(४) क्षेत्र– क्षेत्री– क्षेत्रज्ञ 311

(५) नष्ट होनेवाला है– शरीर 312

(६) नश्वरके लिये इश्वरको छोडते हैं, गौण गिनते है– अज्ञलोग 313

(७) शरीर तो क्षेत्र है, पवित्रस्थान है 315

(८) भगवान् भी क्षेत्रज्ञ है सब क्षेत्रोंका 316

(९) "ब्रह्मसूत्र"– हेतुमत् ही होते हैं 318

(१०) ज्ञानके गुण :– ज्ञानीके जीवन–व्यवहारमें होने आवश्यकगुण 320

(११) भगवानके बतीसगुण 323

(१२) सबका मूल है– भगवान् श्रीकृष्ण 329

(१३) विविध लोगोका भगवद्भजन 331

१८. अध्याय– १४ : गुणत्रय– विभाग– योग

(१) भगवानके अनंत गुण 332

(२) निर्गुण भगवानके तीन गुण 333

(३) भगवानकी सृष्टि– लीला– प्रक्रिया 334

(४) वक्ता– गुरुकी प्रतिमा 335

(५) सब ज्ञानोका उत्तमज्ञान 335

(६) त्रिगुण– संग्रह 340

(७) गुणातीत– लक्षण– उपाय 342

१९. अध्याय – १५ : पुरुषोत्तमयोग

(१) भगवान्– आनन्दमय 343

(२) सबको जीवाता है– आनन्दबिन्दु 343

(३) वेद–सच्चिदानंद–प्रतिपादक 344
(४) सच्चिदानन्द–श्रीकृष्ण–आनन्दसिंन्धु 345
(५) वेदमें आनन्दकी गिनतीः अक्षरब्रह्म गणितानन्द, श्रीकृष्ण–पुर्णानन्द 346
(६) रसार्द्र वेदान्त सिद्धांत–श्रीकृष्ण 347
(७) अक्षरब्रह्मकी प्रतिष्ठा– श्रीकृष्ण 348
(८) उर्ध्वमूल– अश्वत्थ, उसको जाननेवाला वेदवित् 348
(९) वेद– विषय है– सपरिकर– पुरुषोत्तम 349
(१०) "अश्वत्थ" (जगत)को जाननेवाला ही वेद–विद् है, वही सर्वविद् है 350
(११) वृक्षकी परोपकारकता, वृक्षके चार–पुरुषार्थ 351
(१२) विभु–वृक्ष, वेद–वृक्ष, विश्व–वृक्ष 355
(१३) किसीकाथी कल्याण करनगमें अपनी जीवन–सफलता है 360
(१४) त्रिदेवके वृक्ष पीप्पलकी कुछ महत्ता 361
(१५) गतिशील– परिवर्तनपरायण– जगत् 362
(१६) भगवानकी विविध जगत्– सर्जन–लीला 363
(१७) जगत् ब्रह्मका विवर्त नहीं हैं, अविकृत परिणाम हैः जगत्– संसार– भेद; रज्जुमें सर्प– दृष्टांत वैदिक नहीं है 365
(१८) जगत् सत्य है, संसार मिथ्या है 367
(१९) नित्यलीलात्मक आनन्दमय जगत् 371
(२०) शरणागतिसे भगवद्ध्यान–प्राप्ति 371
(२१) भगवद्धाम गमन– योग्य लोग 372
(२२) भगवद्धामका स्वरूप 372
(२३) जीवका स्वरूपः जीव भगवानका अंश है– दास है 373
(२४) भगवदिच्छासे ही जीवको बंधन और विपत्रीतता 377
(२५) भगवदिच्छासे हुए बंधनादि भगवदिच्छासे ही छूटे. ब्रह्मंबंधसे ही पुनः ब्रह्मधर्म– प्राकट्य 378
(२६) भोजन करता है–प्राणी, पचाते हैं प्रभु 380
(२७) सर्ववेदसे मात्र कृष्ण ही वेद्य है, स्मृति– विस्मृति कराते हैं– कृष्ण, नित्य– निकटमें रहते हैं– कृष्ण 381

(२८) भगवान् ही सबको कठपुतलीकी तरह नचाते हैं 382
(२९) वेदोक्त सर्व देव-देवीके रूपनाम विभेद, विभूति- रूपमें कृष्ण ही क्रीडा करते हैं 383
(३०) यथार्थ वेदज्ञ भगवान् ही हैं यथार्थ वेद सिद्धांत- है गीता-भागवत 383
(३१) जीवनकी सच्ची दिशा 384
(३२) सृष्टिमें सब कुछ भगवानकी लीला ही हैं 384
(३३) लोकमें दो (पुरुष) क्षर और अक्षर 385
(३४) उत्तम पुरुष- परमात्मा 386
(३५) "मेरा नाम पुरुषोत्तम है, मैं लोकवेदमें प्रसिद्ध हूँ 387
(३६) मयार्दाफल- ब्रह्मरूप होना, पुष्टिफल- पुरुषोत्तमको प्राप्त होना 389
(३७) पुरुषोत्तम प्राप्ति है- विविधरस-भोगचतुर भगवानके साथ यथेच्छा सर्व कामोपभोग करना, सगुण न ही, निर्गुण ही है 391

२०. अध्याय – १६ : दैवासुरसंपद- विवादयोग

(१) दैव- आसुर- संपत्- प्रतिपादन 392
(२) दैवीसंपत् 394
(३) दैवी-पुष्टि-मर्यादा; आसुर-प्रवाह-सृष्टि 400
(४) आसुरसृष्टिके क्रियादिलक्षण 401
(५) नरकके त्रिविध द्वार, अंदर जानेके- बहार निकलनेके प्रकार 405
(६) जीवन- व्यवहारमें शास्त्रका उपयोग 407

२१. अध्याय – १७ – श्रद्धात्रय विभागयोग

(१) उपदेश- प्रकार श्रद्धासे सफलता 408
(२) शास्त्र रहित, श्रद्धासे भजनेवालोंकी निष्ठाका प्रश्न 409
(३) त्रिविध-श्रद्धा 410
(४) श्रद्धानुरूप जीवन- व्यवहार 410
(५) ओ३म्- तत्- सत्- निर्देश 413

२२. अध्याय – १८ : मोक्ष सन्यासयोग

(१) अठारहाका महत्त्व 415
(२) शरणागतिसे सर्वसफलता. 415
(३) सबगतियोंमें शरणागतिकी उत्तमता 416
(४) 'संन्यास" और "त्याग"के तत्त्वोंकी पृच्छा 417

(५) कर्मसंन्यास और कर्मत्यागका निरूपण, कर्म- बंधन नहीं हो, ऐसे जिये, जीवन कला है 418

(६) भगवानका निश्चित उत्तममत 419

(७) सब कर्तृत्व ब्रह्मका ही है, जीवमें – तत्संबंधसे है 421

(८) बच्चोंको खिलौने दिलानेमें जैसे माँ- बाप बच्चोंकी प्रयत्न- कामना करते हैं 421

(९) "मैं-कर्ता हूँ" कर्तृभाव न होनेसे कर्म बंधन नहीं होता है 422

(१०) सांख्यमें ज्ञान- कर्म- कर्ता भी तीन प्रकार है-सात्त्विक राजस-तामस-भेदसे 423

(११) प्रकृतिके तीन गुणोंसे पर पृथ्वी या स्वर्ग में भी कोई नही है, स्वाभाविक गुणोंसे वर्णधर्म- विभाग- शूद्रका सेवा धर्म महान् है 425

(१२) अपने वर्ण (आश्रम) धर्मके कार्य भी प्रभुपूजन है 426

(१३) परधर्मके कई लाभसे भी कुछ न देनेवाला (लगने पर भी) स्वधर्म ही उत्तम है 427

(१४) सबकार्यारंभ दोषयुक्त है 427

(१५) तत्त्वज्ञानकी परानिष्ठा- अक्षर- ब्रह्म- प्राप्ति 428

(१६) ब्रह्मभूतका भी फल है- कृष्णकी पराभक्ति 428

(१७) पुष्टिभक्तिफल 429

(१८) परमहंसोको भी दुर्लभ है, कृष्णकृपा भक्ति 430

(१९) निर्गुणमें निरत आत्माराम मुनिलोग भी अहैतुककी भक्ति करते हैं, है ही भगवानके गुण ऐसे, भगवानके गुणोंमें मन फँस जानेसे तो श्रीशुकदेवजी श्रीभागवत पढे 430

(२०) भक्तिफल केवल ज्ञान नहीं है, पुरुषोत्तम- ज्ञान है, गीतालीलाअनुभव है 434

(२१) कृपासे ही विविध- फल- प्राप्ति भगवदाज्ञा न माने तो प्रकृति- प्रबलतासे करायेगी 436

(२२) सर्वभूतोमें इश्वर- अन्तर्यामीका निवास, शरणसे शान्ति 437

(२३) अनाग्रह– वैचारिक– क्रान्तिसे जीवन– परिवर्तन 438
(२४) प्रभुके स्वजनके हितकी बात 439
(२५) सर्वधर्म– त्याग–पूर्वक कृष्णकी ही शरणागति, अर्जुन– उद्धव दोनों गृहस्थोंको सर्वधर्मत्याग पूर्वक शरणागतिकी आज्ञा 440
(२६) "न्याज्ञादेश" – विचार 441
(२७) यह ज्ञान तपोरहित, भक्तिरहित, अशुश्रुषु, भगवन्निन्दकको नहीं कहा जाय 445
(२८) अर्जुनने उमडे हृदयसे स्वकृतार्थता कही,– आज्ञापालन करनेसे आत्मसमर्पण होता है 446
(२९) संजयकेसंवेदन 447

श्रीहरिः

अंतःकरणका उत्कट अभिलाष

पूज्य श्रीगुरुजी– महाराजके श्रीयुगलचरणकमलोंमें सस्नेह दंडवत्– प्रणाम– निवेदन !

भगवान् श्रीकृष्णजीकी असीम कृपासे यह पूरे पुरुषोत्तम मासमें सिंगापोर– निवासियोंको अद्‌भुत श्रीकृष्णकी अद्‌भुत गुंजन करती हुई, वाणीका रसास्वादन कराते हुए, पूज्य श्री गुरुजी– महाराजने, श्रीमद्– भगवद्‌गीताके जीवन– मंगल– संदेशका स्वान्तःस्पर्श कराके, जीवनध्येयकी ओर अंगुलिनिर्देश करके, जीवनलाभ– प्रदान किया ! भक्ति– ज्ञान और वैराग्यसे प्राप्त होनेवाले महान विवेककी वृद्धि किस प्रकारसे हो, यह बताते हुए, जीवनका उत्कर्ष– निर्देश किया ! संक्षिप्त श्रीमद्‌भगवद्‌गीताको मथके, विस्तृतरूपसे, श्रीमद् भागवतमें छिपे हुए रहस्योंको भी नवनीतके रूपमें, हम सबको परोसा! यथानाम तथा गुण ! अनुभवसे ज्ञात हुआ ! यह सिंगापोर– वासियोंका सौभाग्यही है, कि आपने हमारे सत्त्वको जगाये !! हमारे अनेक प्रश्नोंके उत्तर देते हुए, संवादके रूपमें श्रीमद्– भगवद्‌गीताका दौपरमें और रातको श्रीमद्‌भागवतजीका अद्‌भत रसास्वाद कराया है । आह्लादसे अंतःकरणको अभिमुख कर दिया है !

अंतःकरणका अदम्य आर्तनाद वर्षोंसे था, प्रभुको यथार्थ

समजनेका !– यथार्थ भक्ति– फलका लाभ लेनेका !– श्री महाप्रभुजीके सुदृढ– सर्वोत्तम– सिद्धांतोको समाजके सामने प्रस्तुत करने का ! भक्तिकी खोजमें, अनेक महानुभावोंकी निकटमें भगती रही ! अनेक संपर्कमें परस्पर– विरोधी– वातोंमें निरोध तो न हुआ हरिमें ! भक्ति पर आरोप सुनके अंतर उछल पडता, परंतु उत्तरके अभावमें स्वान्तः स्वभाव– क्षुब्ध– हो जाता था। कविज्ञोंसें भी उत्तर संतोषप्रद मिलते नहीं ! थक ही गई थी । प्रभुको आतुरतासे विनती करती रहती थी । इतनेमें अनायास आनंद छा गया ! आ गया प्रभुके गुणानुगान का दिन ! कृतार्थ करनेवाली कृपा हो गइ ! आर्तनादको आशीर्वाद मिले ! प्रभुकी यथार्थ समझका सुमंगल प्रारंभ हो गया !! भक्तिका स्वरूप प्रकट होने लगा । फल प्रफुल्लता देने लगा ! सिद्धांतोके श्रवण– दर्शन– सेवन स्थिरता देने लगे ! मनोरथ मुग्ध बनाते रहे ! सफलता सरलतासे दिखने लगी !

नडियाद और सिंगापोरमें मैंने, मेरे स्वजनने, स्वानुभाव किया ! कर्दम– ऋषिकी पत्नी देवहूतिकी तरह (विनोदाबहन) (गुरुपत्नी)को गृहस्थाश्रममें गृहसेवामें निरत देखी । सहज स्नेहसे मैं उसको दीदी कहती हूँ । पुत्र कीर्तनको भी एसे ही तत्पर देखा । मनमें आनंद आनंद हो गया ! ऐसे भगवत्कार्य तत्पर परिवारके संपर्कमें जाना, सानिध्यमें रहना, भी एक जीवनलाभ है ! मुझको मिला है ! प्रभुकी ही प्रसन्नता हैं । प्रभु अपने भक्तके द्वारा ही सबकुछ करते हैं ।

अंतःकरणका उत्कट अभिलाष था ! एक समय अभिव्यक्त हो गया, प्रभुने ही प्राप्त कराये हुए अज्ञाननाशक, ज्ञानप्रकाशक– गुरुजी– महाराजको विनंतीकी ।

जो अलभ्य लाभ हमको मिल रहा है– वह भक्तिसिद्धांत– सेवन सब सुजन– स्वजन– प्रभुजन कर सकें । ग्रंथके रूपमें ग्रथन किया जाय तो श्रीमहाप्रभुजीकी सेवा हो जाय ! कामना कृष्णकी ! अनुग्रह आचार्यजीका ! वात्सल्य गुरुजीका ! आरंभ हो गया– सेवाका समुहोत्सव ! रात– दिन २०के २२ घंटा कार्य तो कृष्णकृपासे चलता रहा ! आज यथार्थ साकार हो गया । अंतरके उल्लासकी बात है– श्रीमहाप्रभुजीका भक्तिका गौरव उद्घोषित होगा !– गोविंदकी गीता !, गुरुजीका गुंजन !, मेरा मंगल– मनोरथ ! पावन त्रिवेणी हो गई ! चाहतीथी ऐसे संमुखतासंपादक निरपेक्ष– भगवदीय– सर्वहितरत– संदेहवारक शास्त्रसेवाविज्ञ गुरुको जो भक्तिका यथार्थ प्रतिपादन करनेकी शक्ति दे, अनुरक्ति दे, प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही जीवन बीतानेका मार्ग बताये ! जिसके द्वारा हम प्रभु– महाप्रभुको समझे । यह चाहना आज साकार होने जा रही है ! उत्कट अभिलाष था अंतरका, कि प्रभु कोई मार्गदर्शक मिला दें ! श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धांत जीवनमें साकार करते हुए, वैष्णव– वैष्णव तक पहूँचाये । अकेले श्रीमहाप्रभुजी– श्री गुसांइजी जो उत्तमकार्य कर गये, हम सब मिलकर अब कुछ नहीं कर सकते?! अरे ! जो हैं उसको ठीक सम्हाल भी नहीं सकते?! जीवनमें चेतना– सत्त्व– को नहीं जगा सकते ?! पुष्टिप्रभुने प्रेम बरसाते हुए, अंतःकरणके उत्कट अभिलाषका अभिव्यक्त

रूप कर दिया– "गीतागुंजान"– नामसे ! "श्रीमद्भागवत–रसास्वाद" का लाभ तो हो चुका है । ग्रंथसे पंथका प्रारंभ करा दिया । उदार– अपार अनुग्रहसे पुष्टिस्थ भगवान् ही चलाते रहेंगे ! हमारे श्रीमहाप्रभुजी मुस्कराते हुए मुश्केलियाँमेंसे मार्ग देंगे । आपका ही बल मिला, फल तो है ही ! पुष्टिप्रभु! आस्वाद मिले, आहलाद्क मिले–, यह अंतःकरणका उत्कट अभिलाष है । मुझको मर पतिदेवको– परिवारको– प्रभु संमति दें, शक्ति दें, पूज्य गुरुजी महाराजकी कृपानिकटतामें यथार्थ जीवनमंगल मार्ग पर आगे ही बढते रहें ! श्रीमहाप्रभुजीको अनुकूल बने, प्रभु जिससे प्रसन्न हो, जीवन समर्पित हो जाय! कृपा चाहती, पुनः अंतःकरणके उत्कट अभिलाषको अभिव्यक्त करती नम्र दंडवत प्रणाम ही करती, ऐसी सतत कृपा कामना करती हूँ । सुज्ञाजनोंको विनती है, यह गुंजनका आह्लाद हृदयंगत करनेके लिये, विरामचिह्नोंको यथार्थ अनुकूल होकर ग्रंथ पढे तथा बताये हुए उद्दृत सब वाक्य– श्लोकादिको उस उस मल ग्रंथमें भी देखें । कृपाकांक्षा करती–

नम्रसेवक–

रेखा भरतभाई राजके सदैन्य दं प्रणाम ।

श्रीहरिः

श्रीमद्भगवद् गीतागुंजन

श्रीमद्भगवद् गीताका प्राथमिक– परिचय

(१) गीता– भी है –श्रीमद्भागवत् :

श्रीमद् भगवदगीता है– गोविंदका हृदय, हृदयगानका शब्दशरीर ! –अपने अभिन्नहृदय–मित्र अर्जुनके प्रति अकारण आत्मीयतासे अभिव्यकत हो गया हुआ– स्वात्मरहः प्रकाश ! श्रीमद्भागवत भी भगवानका स्वात्मरहः प्रकाश (अपना रहस्य प्राकटय) है । "**भगवता उदितं भागवतम् ।**" भगवानने कहा हुआ है– भागवत ! इस प्रकारसे गीताजी भी है– भागवत ! श्रीभागवतको पुराणकक्षामें माना गया है । श्रीगीताजीको स्मृति कक्षामें मानी गई है । "**पुरातनमपि नवं पुराणम् ।**"– पुरातन होते हुए भी नूतन है– पुराण ! "**स्मरणात् स्मृतिः**"– ऋषियोंके प्रभुप्रेरित पूर्वचरितस्मरण– (याद)– है– स्मृति ! "ब्रह्मसूत्र" (टीका)में गीताजीका निर्देश प्रायः सब आचार्योंने स्मृतिके रूपमें किया है। गीताजीके प्रत्येक अध्यायके अंतमें – "इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्स–" उल्लेख मिलता है । महाभारतके भीष्मपर्वमें जहाँ गीताजीके अध्याय हैं वहाँ उल्लेख नहीं है वेद– उपनिषद् भगवानके निःश्वाससे प्रकट हुए हैं । निःश्वासकी हृदयवार्ता, (गुप्ततमबात, स्वात्मरहःप्रकाश) तो विश्वास जिसमें

हो उसको ही कही जाय ! ऐसा मिला अभिन्नहृदय– मित्र– अर्जुन । भगवानने निःश्वासवार्ता विश्वासपात्र प्रिय अर्जुनको स्वमुखसे कही यह हूई गीताजी ! वेदोंका रहस्योद्‌घाटन है– गीताजी । भगवानके निःश्वासरूप– वायु– वेद है, तो विभुकी वाणीकी भी वरिमता– विशिष्टता– गीताजीकी उपनिषद्रूषता मानकर, स्वीकारी गई है ।

सामान्यतः जो गाया गया हो उसको गीत कहते हैं । “**गीतं भगवता ज्ञानं यत् तत् संग्राममूर्धनि । कालकर्म–तमोरूद्धं पुनरध्यगमद् विभुः ॥**”– (१–१५–३८)–श्रीमद्‌भागवतमें भगवानने युद्धारंममें गाया हुआ ज्ञान– “**गीतं**” – कहा है । नाम प्रसिद्ध है– श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ! गीताके प्रत्येक अध्यायके अंतमें “**इति श्रीमद्‌भगवद्‌गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां....**”, उसको “**ब्रह्मविद्या**” कही गई है । श्रीभागवत (१–९–३६)में “**कुमतिमहरदात्मविद्यया**”– कहकर पितामह भीष्मजी उसको “**आत्मविद्या**” कहते हैं । इस प्रकार यह विद्या होनेसे है–गीत! – स्त्रीलिंग शब्द कहा गया है ।

(२) गीता– गौरव :

स्वयं भगवानने महाभारतयुद्धमें प्रपन्न अर्जुनको गीता सुनाई। अर्जुन काल– कर्मके व्यवधानसे गीताको भूल गया !!– अज्ञानमें ज्ञान डूब गया !! व्यासजी भी –“**परितापवति व्यासे मुह्यत्य–ज्ञानसागरे**” – **(पद्म. पु. भाग. मा. २–७२)**– ज्ञानमहासागर होते हुए भी अज्ञानसागरमें डूब गये थे !– वेदवेदांतमें निष्णात, गीताजीको महाभारतमें गुंकित करनेवाले, भगवानकी ज्ञानकलाके पूर्णावतार भी अज्ञानमग्न हो गये थे !! अर्जुन नरका अवतार है, कृष्णका कृपापात्र है,– फिरभी भूल गया था– गीताजीको! एक समय अर्जुनने भगवानको गीता पुनः सुनानेको कहा । कृष्णने भी वह तो अशकय बताया ! यह है– गीताका गौरव ! कृष्णको क्या अशकय था?! सर्वसमर्थ– सर्वज्ञ भगवानने भी पुनः सुनानेकी अशक्यता बताते हुए “**अनुगीता**” सुनाई । “**अनु**”– गीताके पीछे, जो सुनाई गई वह अनुगीता है । भगवनके स्वधाम पधारनेके बाद शोकसंतप्त अर्जुनको गीता पुनः याद आई– प्राप्त हुई ! सर्वसमर्थ भगवानका समर्थ शिष्य है– अर्जुन !– कृपा है उसके उपर कृष्णकी ! कृपा कृतार्थ करती है– समर्थ बनाती है । “**कृपु सामर्थ्ये**”– धातुपाठ है ।

(३) गीता– विद्यापर्वः

गीताको ब्रह्मविद्या कही गई है,– आत्मविद्या भी ! उपनिषद्में “**आत्मैवेदं सर्वम्**”– आदि वाक्योमें, आत्मा शब्दभी प्रयुक्त हुआ है– ब्रह्मके लिये ! गीता भगवानका स्वरूप– परिचय कराती हैं । विद्याके पांचपर्व कहे गये हैं । – “**वैराग्यं सांख्ययोगौ च तपोभक्तिश्च केशवे । पंचपर्वैति विद्येयं ययाविद्वान् हरिं विशेत्।।**” १. **वैराग्य**– विषयभोगादिकी तृष्णा न होना। २. **सांख्य**– नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्वक सर्वपरित्याग । ३.

योग– एकांतमें यम– नियम– आसन– प्राणायाम– प्रत्याहार– धारणा– ध्यान– समाधि– रूप– अष्टांग योग । ४. **तपः**– विचारपूर्वक आलोचन, शास्त्रविचारसे सिद्धांत–दर्शन, एवं एकाग्रतासे स्थिति– संताप सहन करना । ५. **भक्ति**– निरंतर भावनासे परमप्रेम । यह प्रेम मोक्षप्रद है, सोपाधिक है, निरुपाधिक नहीं । इसका फल प्रभुप्रवेश– सायुज्य– कहा गया है । निरूपाधिकप्रेम तो श्रीगोपीजनका है, जिसका फल तो परमानंदप्राप्ति है, पुरुषोत्तमकी नित्यलीलामें प्रवेश हैं । विद्याके ये पाँच पर्वमेंसे किसी भी एकसे दृढतापूर्वक भगवानको भजनेसे भगवानका साक्षात्कार होता है ।– प्रभुमें प्रवेशरूप सायुज्यमोक्ष मिलता है । यह मोक्षं भी सबको नहीं मिलता है ! जो सात्विक हैं, दैवीसंपद्वाले हैं, शास्त्रविधिसे ही जीनेवाले हैं, उनको ही विद्यासे मोक्ष मिलता है । यह मोक्ष देनेवाली विद्या और बंधन देनेवाली अविधा दोनों, भगवानकी मायासे निर्मित, भगवानकी ही शक्तियाँ हैं । विद्या होनी चाहिये केशव– संबंधिनी । “**क**”– ब्रह्मा, “**ईश**”– शंकर, रजोगुण– तमोगुणकी अधिष्ठात्री, देवता। उन दोनोंको, रजोगुण– तमोगुण– जन्य दोषनिवृत्तिपूर्वक, “**वं**”– अमृत– सुख– देनेवाला है– “**केशव**”– कृष्ण । गीता विद्या होनेसे सामान्यतः इसमेंभी ! वैराग्य– सांख्य– योग– तपः– भक्तिकी बाते दिखाई देती है ।

(४) गीताके विविधनाम :

श्रीमद्– भगवद्– गीताका महत्त्व तो भगवद्वाणी होनेसे है ही, परंतु विशेषतः तो इसमें निरूपित जीवनमंगलदर्शनसे है। भगवत्संबंध अवतारदशामें कृतार्थ कर देता है, परंतु अनवतार–दशामें भगवदभक्त– भगवत्कार्य– भगवद्वाणी– तज–जन्य कर्म– ज्ञान– भक्ति कृतार्थ करते हैं । गीताजीनें तो साक्षाद् भगवन्मुख संबंध है । भगवद्वाणीकी शोभा– श्री– स्वयं भगवान् ही है, अलंकादादि नहीं । भक्तप्रेम– परवशतामें भगवानने सर्वशास्त्रसार संयुक्ति निरूपण कर दिया है । अर्जुनको केवल शास्त्रसंग्रह ही नहीं, गुह्य– गह्यतर– गुह्यत्तम् बाते भी प्रियत्वसे कह दी है, वह तो शोभा हैं, भगवान्– भक्त और गीता की ! इसलिये यह “**श्रीमत्**” है ।– इसलिये तीन प्रकारसे गीताजीका नामाभिधान शक्य है । १. **श्रीमद्भगवद्गीता,** २. **श्रीमती भगवती गीता,** ३. **श्रीमता भगवता गीता** । भगवानके संबंधसे शोभावाली, भगवद्वाणी होनेसे स्वयं शोभावाली, शोभासभर भगवानने गाई हूई– गीता है । अतः “**श्रीमतो भगवतो गीता**”– भी हो सके !

(५) गीतामृत– दोहन :

“**प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये । ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृत–दुहे नमः ।।**” प्रपन्नोंके लिये अभिलषित फलप्रद कल्पतरु है – कृष्ण ! सबको तो भगवान् प्रायः सबके कर्मानुसार ही फल देते हैं । परंतु अपने प्रपन्नोंको तो कर्मनिरपेक्ष होकर

भी मनोवांछित फल दे देते हैं । यह स्वातंत्र्य एवं सामर्थ्य है– भगवानका ! प्रपदको पकडता है– वह प्रपन्न है । सामान्यतः पूज्यपुरुषोंके पैरमें प्रणाम किये जाते हैं, चरणस्पर्शभी किये जाते हैं । आगेकी ओरसे, पदकी अंगुलियाँ– अग्रभाग– पंजा– प्रपद कहा जाता है, वहाँसे वंदन– स्पर्शादि होते हैं । पीछेके पार्ष्णि– पेनी–के भागसे तो नहीं ! यद्यपि व्यक्ति– चरण –रजः आदि तो वही ही है, फिरभी आगेसे ही प्रणाम– स्पर्श होते हैं, उससे होती है– संमुखता ! पीछे करनेसे होती है– विमुखता ! संमुखता सुखद होती है और विमुखता (लौकिक) विषादप्रद ! प्रपन्न प्रभुको– शरण– चरणको पकड रखता है–, जैसे बंदरियाका बच्चा अपनी माँको पकड रखता हैं । शरणागतिमें प्रायः प्रभु– (शरणदेनेवाले)–ही शरणागतको स्वयं पकड रखते हैं, जैसे बिल्ली अपने बच्चेको सम्हालके– पकडके– ले जाती है– अर्जुन आरंभमें तो प्रभुको पकडता है– प्रपन्न है– “**शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**”–(२–७) तुम्हारे प्रपन्नको मुझको आज्ञा करो” और भगवानके “**मामेकं शरणं व्रज**”–(१–८–६६) “मेरी एककी शरणमें आ” कहेने पर, अंतमें “**करिष्ये वचनं तव**” (१८–७३) “आपकी आज्ञाका पालन करूँगा”– कहता हुआ मात्र शरणागति ही नहीं, सबसे पृथक्– शरणागति एवं सर्वस्वसमर्पण एवं आत्मनिवेदन भी भगवानको कर देता हैं । प्रपन्न– पारिजत प्रेमपूर्ण प्रभु उदारतासे अंगीकार कर लेते हैं । अर्जुनने गीता सुनकर यही मंगल– जीवनव्यवहार स्वीकार कर लिया है, विषादका विकार हटा दिया है । यही गीताका स्वारस्य है,– अपनी कृष्णको शरणागतिपूर्वक सर्वस्व– समर्पण करनेमें आज्ञापालनरूप आत्मनिवेदनसे आत्मीयता कृष्णसे करनेमें, अपनी अहंता– ममता प्रभुको ही समर्पित कर देनेमें, प्रभुके होकर प्रभु प्रसन्न हो एसा प्रसन्न जीनेमें ! प्रपन्न– पारिजात प्रभु प्रेमसे प्रसन्नता देते हैं ।

प्रभु– प्रेम– परायण जीवन ही प्रसन्न जीवन होता है । प्रेमसे ही प्रसन्नता होती है,– प्रभुको और प्राणीमात्रको ! प्रेम मोहमें मलिन न हो जाय, वासनामें विलीन न हो जाय, भोगमें भ्रष्ट न हो जाय, पापमें पतित न हो जाय, स्वार्थमें क्षुब्ध न हो जाय, ऐसी सावधता आवश्यक हैं । इसलिये आवश्यक है– हमारे कृष्ण हमारे जीवनरथके सारथि हो, इन्द्रियाश्वोंकी बागडोर अपने हाथमें लेकर, चाबुक भी स्वकीयतासे फटकारनेके लिये हाथमें लेकर विराजमान हों !– तोत्रवेत्रैक– पाणि प्रभु हमारी इन्द्रियोंका नियंत्रण करें, निग्रह करें । इन्द्रियाश्व प्रभुको सोंप दिये जाय– संचालनके लिये ! इन्द्रियाँ प्रभुके कार्यमें ही विनियुक्त हो । अन्यथा उनका संयम हो ।

प्रभुका प्रेम एवं प्रसन्नता हो, सेवारत एवं संयमशील इन्द्रिय हो, तो प्रभु स्वपरिज्ञान कराते हैं, जीवनका मंगल– मार्गदर्शन प्रदान करते हैं । ज्ञानमुद्रा करते कृष्ण उपदेश देते हैं ।– प्रेरते हैं स्वमार्गमें,– सन्मार्गमें। प्रभुप्रेम– प्रसन्नता, मनः संयम,

भगवदर्थ– इन्द्रियविनियोग एवं भगवद्यत्त ज्ञान जिसके जीवनमें है, वह तो कृतार्थ है । यह कृतार्थता देता है– गीतामृत । उसका दोहन किया है,– सदानंद भगवान् कृष्णने ! फल है,– गीतामृतपानका,– सदानंदलाभ !

(६) गीतामृत– दोहन– विशिष्टता :

गीतामृत– दोहनकी अद्भत बात ओर भी प्रसिद्ध है,– "**सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनंदनः । पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।।**" सब उपनिषद् गायें हैं। उप– निकटमें, नि– हमेशां,– षद् – "षद् विशरण– गत्यवसादनेषु"– धातुपाठ है, जो ब्रह्मके निकटमें हमेशां पूर्णरूपसे ले जाकर जीवको विश्राम कराती है ! ज्ञान कराती है, अविद्यादि दोषोंको नष्ट कर देती है, वह उपनिषद् है । जीवको पूर्वधर्मसे अलग करके, संघांतमेंसे उद्धृत करके, ब्रह्म प्राप्त कराके, वहाँ स्थिर करे वह उपनिषद् है । सब उपनिषद् गायें हैं, दोहनेवाला है– गोपालनंदन ! गोपालके बिना ओर कोन करता है गोदोहन ?! इसलिये तो यदुनंदन – देवकीनंदन– वसुदेवनंदन नहीं, गोपालनंदन कहा गया है । नंदराजकुमार– नंदनंदन दोग्धा है । पार्थ– भक्त पृथा (कुंती)का पुत्र अर्जुन भक्त है, अनुगृहीत है, कृष्णका ! कृष्णशरण लेनेकी सद्‌बुद्धि होनेसे "**सुधी**" है । यह वत्स है । गायको दोहते समय ग्वाल बछडेको पासमें रखता है। बछडाके लिये ही गाय दूध देती है।

दूध है– गीता । इतनेसे ही अर्थ तो सिद्ध हो जाता है, फिरभी "**अमृतं– महत्**" – कहा है ! अमृतसे आस्वाद– आह्लाद तो है ही, परंतु परिणाममें मोक्ष है, जीवनमुक्ति एवं मुक्ति है । गीता अमृत होनेसे जीवनमें आस्वाद और आहलाद देती है, जीते जी ही संसार (अहंता– ममता) के बंधनोसे छुडा कर जीवन्– मुक्त बनाती है, प्रारब्धभोगके बाद शरीर छूटने पर जन्मबंधनसे छुडाती है, पुनर्जन्म नहीं होता है, मुक्ति सुलभ हो जाती है । गीता उपनिषद्का सार होनेसे यह तो स्वाभाविक ही है । परंतु इसमें पुनः "**महत्**" – पूज्य– उत्तम होता है । स्वतः प्रमाणभूत वेदकी मोक्षादि– साधन– मर्यादासे भी उत्तम बात गीतामें भगवानने जो स्वतंत्ररूपसे अपने स्वरूपबल– प्रमेय– से कही यह "**महत्**" है– पुष्टि है ! स्पष्ट शब्दोंमें गीताजीमें भगवान् आज्ञा करते हैं–

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।" – (७–१४)
"अपि चेत्सुदुराचारः भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः।।" – (९–३०)
"मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रस्तेऽपि यान्ति परांगतिम्।।"(९–३२)
"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।" (१८–६६)

मेरी यह गुणमयी दैवी माया है, दुख्यय है, मेरी ही शरणमें जो आते हैं, वे वह माया को तैरते हैं । सुदुराचारी होनेपर भी अगर अनन्य होकर मुझको भजता है वह साधु ही मानना चाहिये। उसने अच्छा निश्चय किया है । हे पार्थ ! मेरा ही दृढाश्रय करके जो भी पाप– जन्मवाले हैं, स्त्रियाँ वैश्य तथा शूद्र, वे भी परमगतिको प्राप्त होते हैं । सर्वधर्म छोडके मेरी एककी शरणमें आजा । मैं तुझे सब पापोंमेंसे छुडाऊँगा । शोक न कर । एसी बाते वेदमें नहीं मिलती है। सर्वसमर्थ भगवान् तो– "**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु समर्थः** "– करनेके लिये, न करनेके लिये, और अन्यथा करनेके लिये समर्थ है । भगवान् लोक– वेद– मर्यादाओंसे पर है । स्वेच्छासे मर्यादा रखते हैं, नहीं भी रखते ! सर्वतन्त्र– स्वतंत्र– है– भगवान् ! गीताजी उपनिषदोंका दोहन होनेसे इसमें उपनिषद्के विषय– विचारादि तो है ही, परंतु उपनिषद्के कई श्लोक– शब्दादिभी ज्यों के त्यों मिलते हैं । "न जायते भ्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् । अजो नित्यः शाश्वतोSयुं पुराणो न हन्यते न हन्यमाने शरीरे ॥ हन्ता चन्मन्यते हन्तुँ हतश्चेन्मन्यते हतम् । उभौ तौ न विजनीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥"– कढोप निषत्– (२–१८–१९) "य एनं वेत्ति हंतारं यश्चैनं मन्यते हतम् । उभो तौ विजनी तो नायं हन्ति व हन्यते ॥ न जयते भ्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयाः । अजोनित्यः शाश्वतोSयं पुराणां । न हन्यते न हन्यते शरीरे ॥"– गीताजी (२–१९–२०)

यहाँ प्रायः स्पष्ट है समानता ! पुनः विचार समानता देखें,– "इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परंमनः । मनसस्तु पराबुद्धि र्बुद्धेः परसस्तुसः ॥ गीताजी (३–४२) यहाँ प्रकरणसंगत तो अंतमें "सः"– "काम" है, परंतु, "आत्मा" वा "भगवान" ही लिया जाता है ! वह उपनिषत्से संगत है । "इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिबुद्धिरात्मामहान् परंः । कठोपनिषत्– (१–३–१०) । यहाँ बुद्धिसे पर (श्रेष्ठ)– "आत्मा" कहा है । अतः गीतामें लेते हैं ।

(७) गीता शास्त्र है :

श्रीमद्‌भगवद्‌गीताको स्वयं भगवानने भी शास्त्र कहा है । आख्यायिका प्रसिद्ध है । श्रीवल्लभाचार्यजी श्रीजगन्नाथजीके दर्शनके लिये पधारे । इस समय वहाँ शास्त्रार्थ चल रहा था। "मुख्यशास्त्र कौनसा? मुख्य देव कौन ? मुख्य मंत्र कौनसा ? मुख्य कर्म क्या?"– इस विषयमें कोई निर्णय नहीं हो पा रहा था । श्रीवल्लभाचार्यजीने अपने मंतव्यको अभिव्यक्त किया और निर्णयके लिये श्री जगन्नाथ भगवानके पास कागज– कलम रखे गये । समय होने पर मंदिरके बंध दरवाजे खुले । स्वयं प्रभुने लिखा हुआ कागज पढा गया । लिखा था इसमें :,–

'एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव । मन्त्रोSप्येकस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥"

शास्त्र एक (मुख्य) है-- देवकीपुत्र कृष्णने गाया हुआ- गीता । देव एक (मुख्य) है- देवकीपुत्र भगवान् कृष्ण ही । मन्त्र भी एक (मुख्य) है- इन (देवकीपुत्र श्रीकृष्ण) के सब नाम । कर्म भी एक (मुख्य) है- वह देव (देवकीपुत्र भगवान् श्रीकृष्ण) की सेवा । यहाँ देवकीपुत्र श्रीकृष्णने गाया हुआ शास्त्र गीता एवं श्रीमद् भागवत भी है । भगवान् कृष्णने अपने भक्त- प्रिय- मित्र- उद्धवजीको भागवत सुनाया है । भक्त- प्रिय- मित्र अर्जुनजीको गीता सुनाई है। दोनों शास्त्र मुख्य हैं । "शास्त्रीति शास्त्रम् ।" शासन करे वह शास्त्र । संसारी ओर विरक्त सबको नियंत्रणमें रखे श्रेयः योग्य बनावे, वह शास्त्र हैं । भगवान् कृष्णने ही अपने भक्त- प्रिय- मित्रोंको सुनायें हुए दोनों शास्त्र परस्पर अविरोधी है । गीतामें स्वल्प शब्दोमें कही हुई बात भागवतमें लीलारूपमें विस्तारसे कही गई है ।

(८) प्रमाण व्यवस्था :

श्रीमद् वल्लभाचार्यजीने अपनी प्रमाण- व्यवस्था बताते हुए सुंदर क्रम बताया है- "**वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि । समा-धिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ।। उत्तरं पूर्वसंदेहवारकं परिकीर्तितम् । अविरुद्धन्तु यत्त्वस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा ।। एतद्विरुद्धं यत्सर्वं न तन्मानं कथंचन।।**"- अन्य प्रमाण निरपेक्ष, स्वतः प्रमाणभूत वेद ही सर्वप्रथम प्रमाण है । यथार्थज्ञानका साधन, अज्ञातको ज्ञात

करनेवाला, प्रमाण कहा जाता है । अलौकिकज्ञापक शब्द- वेद- है । वेदके पूर्वोत्तरकांड एवं अर्थवाद- प्रभृति सब प्रमाण है । गीतामें कहे गये कृष्णवाक्य प्रमाण हैं, धृतराष्ट्र- संजय- अर्जुनके वाक्य गीतामें हैं भी, परंतु कृष्णवाक्यसे अविरोधी हो तो प्रमाण है, अन्यथा नहीं । भगवानके मुखसे निकल हुए वाक्य वेदरूप होते हुए भी, शिष्यरूपसे प्रपन्न अर्जुनके अधिकारका स्मरण करते हुए भगवानने अपना वेदोद्‌गमक गुरुरूप तथा वेदार्थ भी स्मरण करके जो कहा वह- गीता- स्मृतिरूप है । महर्षि व्यासजीके ब्रह्मसूत्र तथा उससे अविरोधी जैमिनी सूत्र भी प्रमाण है । व्यासजीकी समाधिभाषा- श्रीमद् भागवत-भी प्रमाण है । समाधिमें अनुभव करके, समाधिलब्ध शब्दोंमें जो निरूपण किया है- वह समाधिभाषा है। भागवतमें लोकरीतिसे किये निरूपण- लौकिक भाषा है, परमतानुकूलरीतिसे निरूपित परमतभाषा है । वह दोनों समाधिभाषासे अविरोधी हो तो प्रमाण है, अन्यथा नहीं । इस प्रकार- वेद, कृष्णवक्य, व्याससूत्र तथा व्यासजीकी समाधिभाषा चारों एक वाक्यतासे यथार्थ –ज्ञानजनक है,- प्रमाण है । यह चारों प्रमाण उत्तरोत्तर पूर्वपूर्वके संदेहको दूर करते हैं । वेदमें होते हुए संदेह गीतासे दूर होते हैं, गीतामें होते संदेह ब्रह्मसूत्रसे, ब्रह्मसूत्रमें होते हुए संदेह भागवतसे निवृत्त हो जाते हैं । उनसे अविरुद्ध हो तो "**मनुस्मृति**"- आदिका प्रामाण्य है, अन्यथा नहीं । इससे जो विरूद्ध है- उसका कोई प्रामाण्य नहीं है । सर्वसंदेह- निवारक श्रीमद्‌भागवत प्रधानप्रमाण

है । इस प्रकासे प्रस्थान– चतुष्टयका पारस्परिक संबंध है, एक वाक्यता है ।

(९) गीता– संवाद है,– दो गृहस्थोंका ! :

उपदेश वा आदेश नहीं है :

गीता तो कृष्णार्जुन– संवाद है । दो सहृदय– मित्र, जीवनकी निर्णायक पलोमें हृदय खोलके, स्वानुभाव एवं स्वसंवेदनोंके आधार पर शास्त्रानुरूप मार्ग निकालना चाहते हैं । स्वयं भगवान् कहेते हैं,– "**अध्येष्यते य इमं धर्म्यं संवादमावयोः**" (१८–७०) अपन दोनोंका धर्मयुक्त यह संवादका जो व्यक्ति अध्ययन करेगा वह ज्ञानयज्ञसे मेरा पूजन होगा । संजय भी यह प्रसंगको संवाद कहता है ।– "**इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः । संवादमिमश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ।।**"– (१८–७४) "**राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् । केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ।।**" (१८–७६) मैंने वासुदेव और महात्मा पार्थका यह अद्भुत रोमांचकारी संवाद सुना । हे राजन् केशव और अर्जुनके यह अद्भुत संवादको पुनः पुनः स्मरण करके मैं बारंबारं हर्षित होता हूँ । यह संवाद है–, उपदेश– आदेश– संदेश– आदि नहीं है ! अपने जीवनकी समस्या सुलझानेके लिये आतुर मित्रको दूसरा मित्र स्नेहसे अपने अनुभवोंसे, जीवनोपयोगी बाते बताता है,– यह ऐसा संवाद है । अर्जुनके "**शिष्य**" कहनेसे यह गुरु– शिष्य– संवाद भी कहा जा सके।

अर्जुन गृहस्थ है, कृष्ण भी गृहस्थ है । यह संवाद दो गृहस्थोंके बीच हुआ है, कोई संन्यासीसे नहीं !! युद्धारंभकी उत्तेजनामें भी तत्त्वज्ञान– चर्चा– धैर्य– बुद्धि– कौशल दोनोंमें है !!

(१०) गीता– कृष्णकी अनुभवस्मृति है :

कृष्ण भगवान् तो है ही, परंतु अवतार लेकर मनुष्यचेष्टा भी करते हैं, इस दृष्टिसे देखें तो, प्रचंड प्रतिकूलताओंके बीचमें भी प्रसन्न रहता हुआ, सर्वतोमुखी प्रतिभा, संपन्न प्रबल पुरुषार्थी भी देखा जाता है ।– कृष्ण जन्म हुआ तब माँ– बाप केदमें है, तुरंत ही अन्यत्र गुप्तवासमें जाना पडा ! अन्यके घरमें रह कर, उनकी जीवनपद्धति स्वीकारके गोचारण किया ! गोचारणमें अनेक असुर आयें, सबका सामना किया । मुश्किल प्रसंगोमें भी मधुर मुस्कराता रहा ! वेणु बजता रहा, गाता रहा, नाचता रहा! हथियार लिये बिना हाथोंसे हटाता रहा– दुष्टोंको ! मदद करता रहा– मित्रोंको ! अत्यंत प्रेमपूर्ण स्वजनोंको छोड कर पुनः मथुरामें आया ! कंसके क्रूरशासनके सामने झुके बिना विजय पाया ! नये स्वतंत्र राज्य पर आये आक्रमणोंको हटाता रहा! धर्मानुकूल गुरुकुलवाससे विद्याविभवका विकास बताता रहा ! सब उत्तम– आदर्श– लोगोंका संगट्ठन करता रहा ! अनेक आक्रमणोंका सफल प्रतिकार किया ! मथुरा छोडके द्वारका जाना पडा ! गृहस्थाश्रममें रहकर भी संयम– स्वधर्माचरण– स्नेहकी दिक् दर्शाता रहा ! स्वयं राज्य लिये

बिना राज्य अधिकारियोंको देता रहा ! स्वजनोको मंगल मार्गदर्शन देता रहा । गीतामें अपने अनुभवोंका प्रतिकूलताके प्रतिकारोंका, स्मरण करके वात्सल्यसे बताया मार्ग अपने प्रिय मित्रको ! स्मृति है न गीता ? !

(११) गीता है– कृपालाभ :

अर्जुनका अधिकार देखकर ही तदनुसार भगवानने कृपासे गीता गायी है । सुनाई है– केवल अपने प्रियमित्र अर्जुनको ! युद्धके मैदानमें, मरने मारनेके मौके पर, युद्धारंभकी उत्तेजनाके बीच, धैर्यसे धर्मकी बाते बतायी है । कोई मंडपमें, गद्दी पर बैठ कर, श्रोतांओकी टोलियाँ जमा कर, लाभपूजार्थ– प्रयत्नपूर्वक, गीता– कथा नहीं सुनाई हैं– कृष्णने ! सुनने के लिये युद्धमैदानमें उपस्थित सर्वधर्मज्ञ भीष्मजीको, धर्मनिरत धर्ममूर्ति युधिष्ठिरजीको भी, नहीं बुलाये हैं ! कृष्णा मुखसे गीता सुनी है– अर्जुनने ! कृष्ण कृपासे कृतार्थ हुआ है । पुनः गीता सुनी है– धृतराष्ट्रने ! उसने तो कोई धर्मभावनासे नहीं, युद्धसमाचार– जिज्ञासासे, समाचारके भागरूपमें, गीता सुनी हैं! संजयने व्यासजीकी कृपासे सुनाई हैं– उसको ! संजय कहता है– "**व्यासप्रसादा च्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् । योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥**" –(१८–७५)– व्यासजीकी कृपासे संजयको दूरदर्शन– दूरश्रवण– सिद्धि मिली है । महाभारतके युद्धके आरंभमें व्यासजी धृतराष्ट्रके पास आये

थे । युद्धके समाचार जाननेके लिये धृतराष्ट्रको योगबलसे दृष्टि देनेको कहा । धृतराष्ट्रने अपना कुलनाश अब अंतिमदशामें देखना नहीं चाहा ! इसलिये व्यासजीने संजयको कृपासे सामर्थ्य दिया । कृपा कुचड नहीं देती, समर्थ बनाती है ।

(१२) गीता– दूरश्रवण– दर्शन– सामर्थ्य– विज्ञानविहारः

महाभारतके युद्धमें कौरव सेनापति भीष्म दश दिवस लडनेके बाद गिर पडे । अर्जुनके तीक्ष्णशरोंकी शय्या मिली ! उपधान (सिरहाना)भी ! इसके बाद संजय धृतराष्ट्रकी पासमें आया । सब समाचार कहे । तब ही, धृतराष्ट्रके युद्ध समाचार पूछने पर, संजयने आरंभसे कथा कही । इसमें गीता कही । दश दिवसके पूर्व जो घटना घटीथी वह संजयने दश दिवसके बाद भी प्रत्यक्ष देखी,– संवाद सुना ! व्यासकृपा है,– योगसामर्थ्य है !

"**अनागतमतीतं च वर्तमानमतीन्द्रियम् । विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः ॥**" – श्रीभागवत (१०–६१–२१) आया न हो ऐसा (ज्ञापकरहित वा धर्मान्तर– प्राप्त), हो गया हुआ (अनुभव न किया हो ऐसा), वर्तमान, इन्द्रियोंसे पर, उसी स्थलमें न हो ऐसा (दूर रहा हुआ), अंतराय (दिवार– आदिके अवरोध)वाला, योगिलोक अच्छी तरहसे देख सकते है । अखंड प्रवाह है– कालका ! इसमें बहते रहते हैं । प्रवाहमें जिस समय, जो वस्तु, जिस स्थलमें होती है इसी समय वहाँ

दिखाइट देती है–, अन्यत्र नहीं । साथमें जानेवाले भी देख सकते हैं । देवतालोक मनुष्योंसे अधिक देख सकते हैं । कालज्ञलोक भी जानते हैं । ध्यानसे ज्ञान योगीको होता है। योगिलोक जब योगजधर्म प्रकट होता है तब इतने अंशमें सर्वज्ञ होते हैं । सामान्य आदमी अपनी आंखोसे देखता है, ऐसे योगी योगबलसे देखता हैं । दश दिवस पूर्वका प्रसंगभी संजयने ऐसे सामर्थ्यसे देखा– सुना है ! आजके दूरदर्शन (टेलिविझन) एवं वीडियोके समान कुछ सिद्धि यह लगती है ! परंतु यह युद्धसमयमें किसीने ऐसी योजना तो की नहीं थी !!

आकाशवाणी (रेडियो),– दूरदर्शन (टेलीवीझन)– प्रभृतिमें कार्यक्रम तो प्रसारित किये जाते हैं । आवाज तथा चित्र (दृश्य)भी तरंगोके माध्यमसे दूर तक भेजे जाते हैं । यह तो यथासमय उपलब्ध हो सकते हैं । वी.डी.ओ. माध्यमसे प्रसारित कार्यक्रमका संग्रह करके बादमें, जब भी मनपसंद हो तब, भूतकालिन संगृहीत कायक्रमको पुनः देख सकते हैं, सुन भी सकते हैं । प्राचीनकालमें यह भोगबलसे, कोई साधनके बिना भी, हो सकता था ! संज्य–प्रसंगसे स्पष्ट होता है । विज्ञान–विकास भी इतना था कि यह सब कुछ शक्य था ! टेलीवीझन– रेडीओमें तरंग वातावरणमें फैल जाते हैं, – पुनः पकडे जाते हैं । आज वैज्ञानिक ऐसे तरंगोंको पकड कर पुनः मूल आवाज– दृश्य– उपलब्ध करनेका प्रयत्न कर रहे हैं ! अगर भगवत्कृपासे सफल हो जाय तो पुनः भगवान् श्रीकृष्णकी आवाजमें ही गीताजी सुननेका

सौभाग्य हो सकता है !! भगवान् सर्वसमर्थ है । उसकी इच्छा ही बलवती – फलवती – है !

(१३) गीता–श्रोताः

गीताजी मुख्यतया तो अर्जुनने कृष्णसे सुनी है । और धृतराष्ट्रने संजयके पाससे सुनी है । श्रवणका जो उद्देश था, तदनुरूप फल हुआ है । अर्जुन कृष्णशरण, आज्ञापालन– सेवासे कृतार्थ हो गया । धृतराष्ट्रने तो समाचारकी तरह सुन ली, असर तो प्रायः नहीं हुआ ! भगवानने धृतराष्ट्र जैसे, भाइटका राज्य अन्यायसे छीन लेनेवाले, अनेक अनर्थोकों मौनसंमति देनेवाले, धर्म जानके भी अधर्म करने–वाले,– ढोंगीको भी, स्वजन– स्वार्थ– समाचारके बहाने भी, गीता सुनने की प्रेरणा–परिस्थिति– दी है ! कृष्णकी करुणा क्या नहीं करती ?! श्रीशुकदेवजीने राज परीक्षितको भगवत्संबंधसे हुई भगवदीयतासे कथा श्री भागवतकी सुनाई, उसकी सभामें बैठे हुए संसारी तो कुतूहलवश आये थे, उनको भी करूणासे कथा सुनाई ! अधिकार–रहितको भी कृतार्थ करती है, – कृष्णकी – कृष्णभक्तोंकी – करूणा! कृष्णने धृतराष्ट्रको और शुकदेवजीने संसारीओंको तो करुणासे कथा सुनाइे है, – इसलिये वही करुणा आज भी ऐसे अनधिकारी संसारी – ढोंगी – प्रभृतिको भी सुननेका सुलभ हो जाता है । धृतराष्ट्र–संजय– संवादसे ही गीता सर्वसुलभ हो गई है !

श्रीकृष्ण जब अर्जुनको गीताजी सुना रहे थे तब अर्जुनके

रथ पर वरदानसे विराजते हुए हनुमानजीने भी संभवतः सुनी है ! परंतु शायद मर्यादा–पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीके सेवकने मर्यादारक्षाके लिये दो मित्रोंकी परस्परकी बात न भी सुनी हो!! अन्यको ज्ञात न हो ऐसे, गीता सुनी है पितामह भीष्मजीने ! कौरव– सेनापति भीष्म सावधतासे पांडवोंकी सेना पर निगाह रखते हैं । ध्यान रखने जैसे थे – कृष्ण – अर्जुन ! भीष्म इनको देखते थे, और एककान होकर के बात भी सुनते थे ! यह तो युद्धोचित है ही ! भीष्मजीने गीता सुनी है – सार भी समजे हैं, – इसलिये शरशैय्या परसे अंतकालमें करूणा–वरूणालय श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कहते हैं, –

"**व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य स्वजनवधाद् विमुखस्य दोषबुद्ध्या । कुमतिमहरदात्मविद्यया यश्चरणरतिः परमस्य तस्य मेSस्तु ।।**" –श्रीभागवत (१–९–३६) व्यूहबद्ध–सेनाके मुख (अग्र)भागको देख कर, स्वजनवधसे दोषबुद्धिसे विमुख अर्जुनकी कुमति आत्म विद्यासे जिसने हर ली (दूर कर दी) वह (गुरुरूप) परम (श्रेष्ठ– भगवान् पुरुषोत्तम)के चरणमें मुझे रति हो !

(१४) गीता– तात्पर्यः

भगवानकी ईच्छा–आज्ञानुसार चलना – सब कुछ करना – यह सुमति है । भगवानकी आज्ञानुसार न करना, – प्रकृति–परिस्थितिकी पकडमें फँस कर बरबस – मनोविकृतिसे –

अंन्यथा करना, – वह तो कुमति है । कितने भी लौकिक या वैदिक विरोध होने पर भी भगवदाज्ञाका पालन करना, प्रतिकूलताको प्रसन्नतासे पचा देना, यह सुमति है । भगवानने अर्जुनको आत्मविद्यारूप गीताजीका प्रदान किया । गीता सुनाके अर्जुनको निष्क्रिय नहीं बनाया, गृह वा कर्तव्य– त्याग– निर्णय नहीं लिवाया, युद्ध ही करवाया, भगवानने तो !!! अर्जुन जिनको स्वजन मानता है – स्वजन वधसे हिचकाता है – वे तो सब पृथ्वीके भाररूप, आसुर है, विश्वक्रीडा करते भगवानके मुह पर बढ गये हुए दाढी–मुछके बाल जैसे है ! अर्जुनका कार्य तो नापित जैसा है ! मुखशोभा बिगाडनेवाले बालोंको दूर कर दें, ऐसे अर्जुनको दृप्त– दुष्ट – लोगोंको दूर कर देनेके हैं । यह तो भगवदिच्छा – आज्ञानुसार करनेमें सेवा है, – सेवकका स्वधर्म है । गीताजीमें जो समजाया है, – वह संक्षिप्तमें तो है, – "सर्वत्र मैं (श्रीकृष्ण) ही हूँ । मैं ही सब कुछ करता हूँ । मुझे पसंद है । मुक्तिदानके लिये शरीररूप जडभाग ही दूर करनेका है । जीव तो मेरा अंश ही है । इसलिये यहाँ वधमें दोष नहीं है । सब धर्म छोडके तुँ मेरी एककी शरणमें आजा। शोक मत कर ।"

(१५) गीता– अनुबंध– चतुष्टयः

प्राचीन परंपरा है कि,– ग्रंथमें अनुबंध – चतुष्टय आवश्यक है । (१) **अधिकारी,** (२) **विषय,** (३) **प्रयोजन,** (४) **संबंध।**

यह चार, ग्रंथमेंसे बताना चाहिये । गीताजीके बारेमें भी यह स्पष्ट है । (१) **अधिकारी** – जिसके लिये ग्रंथ क्रिया गया हो – यह अर्जुन है । यहाँ अर्जुन आर्त–जिज्ञासु भक्त है । भगवानने उसका अंगीकार पुष्टिमर्यादा भक्तिमें किया है । यहाँ पुष्टि– प्रेम– गौण है, शास्त्रमर्यादा मुख्य है, अर्जुनके द्वारा सब आर्त – जिज्ञासु – सद्‌बुद्धिवाले अधिकारी समझे जाते हैं । धृतराष्ट्र द्वारा संसारी भी सामान्याधिकारी है । (१८–६७)में, अतपस्वी (विचार न करनेवाला), अभक्त, (भक्तिरहित), अशुश्रूषु (श्रवणेच्छा वा सेवारहित), असूयावाला (प्रभुमें दोष–द्रष्टिवाला, निंदक) को भगवान् अधिकारी नहीं मानते हैं। कहनेकी ना कही है । अधिकार अंतःकरणकी स्थितिसे है । अधिकार फलमें उपकारक है ।

(२) **विषय**– ग्रंथमें प्रतिपादित विषय – तात्पर्य – निर्णयके लिये छः लिंग (चिह्न) बताये हैं ।– “**उपक्रमोपसंहारावभ्यासो -ऽपूर्वता फलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये।**” १. **उपक्रम–उपसंहार** – ग्रंथके आरंभ और अंतमें जो कहा गया हो । गीताजीका आरंभ अर्जुनकी प्रपत्तिसे होता है । “**शिष्यस्तेऽहिं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।**” (२–७) अर्जुनने अपनी “मैं आपका शिष्य हुं, मैं आपका प्रपन्न हूँ, मेरा शासन करो” – कह कर, प्रपति की, शिष्यत्त्व स्वीकारा, बादमें भगवानने मार्गदर्शन आरंभ किया । शिष्य न हो प्रपन्न न हो तो सिखाया किसे जाय ?! मार्ग दिखाया किसको जाय ?! प्रपतिमें विश्वास प्रयुक्त स्नेह होता है । गीताजीका उपसंहार अर्जुनकी ही आज्ञापालनकी तत्परतासे होता है । – “**करिष्ये वचनं तव ।**” (१८–७३) – आज्ञापालनमें शरणागति है, समर्पण है, विश्वस–प्रयुक्त स्नेह है । प्रपत्ति और आज्ञापालनमें विश्वासके साथ स्नेह होता है, – इसमें भक्ति देखी जाती है । अर्जुनवाक्योंसे उपक्रम–उपसंहार मानने पर यह स्फुट होता है। कृष्णवाकयों से आरंभ – अंत – देखे तो, आरंभमें “**अशोच्यानन्वशोचस्त्वं।।**” –(२–११)में, मित्रसहजस्नेहसे वा गुरुसहजवात्सल्यसे अर्जुनको उपालंभ (उराहना) देते हैं, मार्गदर्शन भी ! मित्र या गुरु स्नेहसे मार्गदर्शन ऐवं उपालंभ देते हैं । अंतमें, “**मामेकं शरणं व्रज।।**” – (१८–६६) में, अपनी (कृष्णकी) ही शरणागति करनेको स्नेहसे कहा है । शरणागति विश्वास–स्नेह प्रयुक्त होती है । इस तरह आदि–अंतमें स्नेह–भक्ति होनेकी स्पष्टता होती है ।

२. **अभ्यास** – ग्रंथमें बारबार जो कहा गया हो । गीताजीमें भक्ति बारबार कही गई है । “**तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।**” (२–६१), – सब इन्द्रियोंका संयम करके युक्तिसे चित्त स्थिर करके, मेरेमें (श्रीकृष्णमें) परायण हो । कृष्णपरायणता भक्तिसे होती है । “**त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।**” (४–९) भगवद्‌भक्त भगवद्‌लीला – जन्मादिज्ञानसे लीलामें अलौकिक देहसे भगवानको प्राप्त है, पुनर्जन्म नहीं होता है । “**तद्‌विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।**” – (४–३४) – प्रणिपात परिप्रश्न, भगवद्‌बुद्धिसे

सेवा–से भगवद्दर्शन प्राप्त लोग भगवानका ज्ञान देंगे। यहाँ गुरुसेवादिमें भक्ति भी आवश्यक है। “**मनः संयम्य मच्चितो युक्त आसीत मत्पंरः ।**" (६–१४) – मनः संयम करके, प्रशांतात्मा भक्त, मेरेमें चित्त युक्तिसे रखकर, प्रभुपरायण रहें। “**श्रद्धावान् भजते यो मां ममे युक्ततमो मतः ।**"– (६–४७) ज्ञानीओंसे भी योगी (भगवत्संयोगवाला) उत्तम है, इनमेंसे भगवानमें श्रद्धावाला भगवानको प्रेमसे भजता है – वो पुष्टि भक्त अत्यंत युक्त है – मुझे प्रिय है। “**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।**" (७–१४) मेरी ही शरणमें जो आते हैं। वेही यह मायाको तैरते हैं। “**चतुर्विद्या भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।**" (७–१६) चार प्रकारके सुकृति लोग मुझे भजते हैं। “**उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।**" (७–१८) – भक्ति करने–वाले ये सब उदार (उत्तम) है, (भक्तिमिश्र) ज्ञानी (जो भक्ति करता है) वे मेरी आत्मा ही है। ऐसा मेरा मत है। “**मद्‌भक्ताः यान्ति मामिपि ।**" (७–२३)– मेरे भक्त मेरे को भी प्राप्त करते हैं। “**पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।**" (८–२२) हे पार्थ ! परम पुरुष तो अन्यन्यभक्तिसे प्राप्य है। “**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां येजनाः पर्युपासते ।**"– (९–२२) जो लोग अनन्य, – चिंतन करते हुए, मेरी उपासना (भक्ति) करते हैं। “**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।**"– (९–२६) – पत्र– पुष्प– फल– जल जो मेरेको भक्तिसे अर्पण करता है। “**मन्मना भव मद्‌भक्तो**"– (९–३४) मेरेमें मनवाला हो, मेरा भक्त हो। “**एवं सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वक ।**"– (१०–१०)– इस प्रकार सतत युक्त, प्रीतिपूर्वक भजने–वालोंको (मैं बुद्धियोग देता हूँ। “**भक्त्या त्वनन्य शक्यमहमेवं विधोऽर्जुन ।**" – (११–५४) अन्यन्य–भक्तिसे ही मुझे इस प्रकार जानना शक्य है। “**यो मे भक्तः स मेप्रियः ।**" (१२–१४) – जो मेरा भक्त है वो मुझे प्रिय है। “– **भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः** " (१२–२०) – वे भक्त मुझे अतिप्रिय है। “**मद्‌भक्त एतद्‌विज्ञाय–।**" (१३–१८) – मेरा भक्त यह जानके। “**मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।**"– (१४–२६) मुझे जो अव्यभिचारी भक्तियोगसे भजता है। “–**स सर्वविद्‌भजति मां सर्वभावेन भारत ।**" – (१५–१९) – वह सर्वज्ञ मुझे सर्वभावसे भजता है। “**भक्त्या माम–भिजानाति**" (१८–५५) – भक्ति से मुझे जानता है। “**मन्मना भव मद्‌भक्तो ॥**" (१८–६५) मेरेमें मनवाला हो, मेरा भक्त हो। “**भक्तिं मयि परां कृत्वा ।**" (१८–६८) – मेरेमें (कृष्णमें) परम भक्ति करके ॥ एसे अनेक वाक्योंसे बारबार भक्तिके विषयमें कहा गया है।

३. अपूर्वता – अन्यत्र – पूर्वग्रंथोमें – नहीं कही गई हुई (नवीन) बात। गीताजीमें भक्तिविषयक अपूर्वबात कही गई है। “**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।**" (७–१४) – मेरी (श्रीकृष्ण की) ही जो शरणमें आता है वह इस मायाको सरलतासे तैर जाता है। “**अपि चेत्सुदुराचारः भजते मामनन्यभाक् ।**

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यक् व्यवसितो हि सः । क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति । कौन्तेय प्रतिजानी हि न म भक्तः प्रणश्यति । मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोन यः । स्त्रियो वैश्यास्तया शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम् । किं पुनब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा । अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् । मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामैवैष्यसि युक्त्वैवं‑मात्मानं मत्परायणः ।" (९–३० से ३४) महादुराचारी भी अगर अनन्यभावसे मेरेको (श्रीकृष्णको)– भजता है तो वह भी साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ – उत्तम– निर्णयवाला है । (वह पुरूष) शीघ्र धर्मात्मा होता है, शाश्वत् शांतिको प्राप्त करता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक जान ले कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता है । क्योंकि, हे अर्जुन ! स्त्रियाँ, – वैश्य – शूद्र– तथा कोई भी पापयोनिमें जन्म प्राप्त हो, वे भी मुझे भजकर परमगति (मोक्षसे पर परब्रह्म श्रीकृष्ण)को प्राप्त होता हैं । तो फिर ब्राह्मण–पुण्यपुरूष – भक्त – तथा राजर्षिलोग (मुझे प्राप्त हो इसमें तो) क्या (कहना ही) ? (इस लिये) क्षणभंगुर सुखरहित, इस लोकको (मनुष्यदेहको) प्राप्त होकर मेरा भजन कर । तु मेरेमें चित्तवाला, मेरा भक्त, मेरा पूजक हो। मुझे नमस्कार कर । इस प्रकार चित्तको एकाग्रकरके मत्परायण (कृष्णपरायण) हो के मुझे ही प्राप्त होगा । "**भक्त्या त्वनन्यया शक्यमहमेवंविधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।"** (११–५४) – हे अर्जुन ! हे परंतप ! अनन्यभक्तिसे ही ऐसा (विश्व) रूपवालामैं तत्त्वतः (वास्तवतया) जाननेके लिये तथा (साक्षाद्) दर्शन करनेके लिये और प्रवेश करनेके लिये (प्राप्त होनेके लिये) शक्य हूँ । "**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेम्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।"**– (१८–६६) (वर्ण–आश्रम– सामान्य धर्मादि) सर्वधर्म (तथा अधर्म) छोड कर मेरे अकेलेकी ही शरणमें आजा, मैं तुझको सर्वपापोंमेंसे छुडाऊंगा । तू चिंता न कर ।– इस प्रकारसे गीताजीमें भगवानने अपने प्रमेयबलसे वेदादि–प्रमाणोंसे पर, स्वतन्त्र, अपूर्वबात स्पष्ट कही है । भक्तिकी भव्यता – भद्रता – फलोपयोगीता स्पष्ट ज्ञात होती हैं । अधिकमें देखें तो, अनन्यचिंतन – पर्युपासन – अभियुक्तत्वसे योगक्षेमवहन (९–२२), अनन्यचित्तसे कृष्ण स्मरणसे कृष्ण–सुलभता (८–१४), सततयुक्तत्व–प्रीतिपूर्वक भजनसे बुद्धियोग–प्रदान और इससे कृष्णप्राप्ति (१०–१०), ऐसे भजनेवालोंको पर अनुग्रहके लिये भगवान् द्वारा ज्ञानदीपसे अज्ञानजन्य तमः नाश (१०–११), अनन्यतासे भजनेवाले लोगोका मृत्युसंसार सागरमेंसे भगवान द्वारा समुद्धरण (१२–७) आदि कई विशेषताएँ भक्तिकी बताई हैं ।

४. **फल** – ग्रंथमें बताये गये फल । गीताजीमें भगवानने भक्तिफल बताये हैं । "**मद्भक्ताः यान्ति मामपि**" – (७–२३) – कृष्णभक्तोंका – भक्तिका – फल भगवान् ही है । – भक्त

भगवानको प्राप्त होते हैं । “**पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।**” – (८–२२) – वह परम पुरूष अनन्य–भक्तिसे लभ्य है । “**ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।**” (९–२९) – भक्तिसे (कृष्ण) भगवानको भजनेवाले कृष्णमें रहते है और कृष्ण इनमें रहते हैं । “**अपि चेत्सुदुराचारो।।**” (९–३०) अनन्यभक्तिसे सुदुराचार भी धर्मात्मा हो जाता है, शश्वत् शांतिको प्राप्त होता है । “**मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य ।**” (९–३२) – कृष्णभजनसे स्त्री – वैश्य – शूद्र – सब पापजन्मवाले – परा गति – परब्रह्म (श्रीकृष्ण) को प्राप्त होते हैं । “**अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्‌भावं याति नास्त्य संशयः ।**” (८–५) – जो पुरूष अन्तकालमें कृष्णस्मरण ही करता हुआ शरीर छोडके जाता है, वह कृष्णभाव (स्वरूप) को प्राप्त होता है । अनन्यभजनसे योगक्षेमवहन (९–२२), कृष्णसुलभता (८–१४), बुद्धियोगप्रदानसे भगवतत्प्राप्ति (१०–१०) अज्ञाननाश (१०–११), मृत्यु संसारमेंसे उद्धार (१२–७), अनन्यभक्तिसे पुरूषोत्तम – ज्ञानदर्शन–प्रवेश (११–५४), स्पष्ट कहा है । “**मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।।** ” (१४–२६) जो मुझे अव्यभिचारी (अनन्य) भक्तियोगसे भजता है (सेवा करता है) वो प्रकृतिके गुणोंको योग्यरूपसे लांघ कर ब्रह्मभावको प्राप्त होता है । “**भक्त्या मामभिजानाति – ।**” (१८–५५) भक्तिसे भगवज्ज्ञान होता है । “**मन्मना भव मद्‌भक्तो –।**” (१८–६५) – भगवानमें मनवाले, कृष्णभक्त, कृष्ण–पूजन, नमस्कारसे कृष्णप्राप्ति, कृष्णप्रेम होते हैं। “भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः” (१८–६८) मेरेमें परम भक्ति करके निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होता है । ऐसे निःसंदिग्ध वाक्योंसे (भक्तिका) फल भी निरूपित किया गया है ।

५. **अर्थवाद** – ग्रंथमें की हुई प्रशंसा । गीताजीमें भक्तिकी प्रशंसा सुस्पष्टरूपसे की गई है । “**योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।**” – (६–४७) भगवानने सकामकर्म – करनेवालोंसे, तपस्वियोंसे, ज्ञानीयोंसे भी योगीको अधिक – उत्तम कहा है । सब योगियों (कर्म–ज्ञान– भक्ति – योगादि–वालों) मैंसे भी जो श्रद्धावान्, भगवानमें एकाग्र अंतःकरणसे भगवान् कृष्णको भजता है वह अतिश्रेष्ठ – माना हुआ है । “**चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।**” (७–१६) “**तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते । प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।**” (७–१७) हे भरतर्षभ! हे अर्जुन । आर्त (दुःखी), जिज्ञासु, अर्थार्थी (लौकिक–पदार्थों–की कामनावाला), और ज्ञानी, (इस) चार प्रकारके पुण्यशाली मनुष्य मुझे भजते हैं । इनमें भी नित्ययुक्त (मेरेमें सदा स्थिर), अनन्यभक्तिवाला – ज्ञानी (भक्त) विशिष्ट है, क्योंकि ज्ञानी–भक्तको मैं अत्यंत प्रिय हूँ । और – मुझे वह ज्ञानिभक्त अत्यंत प्रिय है । – “**उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।**

आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।" (७–१८) ये सब (भक्त) उदार (उत्तमकोटिके) ही है, तथापि ज्ञानि–भक्त तो मेरी आत्मा ही है – मेरा स्वरूप ही है । ऐसा मेरा मत है। क्योंकि स्थिर बुद्धिवाला वह (ज्ञानी–भक्त) अत्युत्तम गतिरूप मेरेमें ही संपूर्ण रीतसे स्थित हुआ है । यहाँ ज्ञानि – भक्त की प्रशंसा स्पष्ट है । केवल – रूक्ष – शुष्क – ज्ञानी (अभक्त)की प्रशंसा नहीं है । "**भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।**" – (१२–२०) वे भक्त मुझको अत्यंत प्रिय है । "**यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् । स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ।**" (१५–१९) – हे भारत ! इस प्रकार जो ज्ञानी मुझको पुरूषोत्तमको जानता है, वह सर्वज्ञ सर्वभावसे मुझको भजता है । इस प्रकार स्पष्ट शब्दोमें भक्तिकी प्रशंसा गीताजीमें की गई है।

६. **उपपत्ति** – ग्रंथमें विषय– प्रतिपादनके लिये बताई गई (की गई) युक्तियाँ । गीताजीमें भक्ति–प्रतिपादनकी अनेक युक्तियाँ दिखाई देती है । "**येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्। ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ।**" (७–२८) – (निष्काम भावसे) जिन पुण्यशाली पुरुषोंके पाप नष्ट हो गये हैं, वे तो राग द्वेषादिरूप द्वन्द्वके मोहसे मुक्त होकर दृढ निश्चयवाले होकर मुझे भजते हैं । पाप निवृत्तिके बाद ही द्वन्द्व मोह निवृत्ति होती है । तब दृढनिश्चय भगवद्भजनका होता है। तब भक्ति होती है । युक्तिसे यहां है, – भक्तिका प्रतिपादन! "**मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामे वैष्यस्यशंसयम् ।**" (८–७) – मेरेमें

मन–बुद्धि – जिसने अर्पण कर दिये हैं, – एसा तू मेरेको ही प्राप्त होगा । इसमें संशय नहीं हैं । भगवानमें समर्पित मन–बुद्धि होते हैं – भक्तिसे ! भक्तिसे होती है – भगवत्प्राप्ति ! यहां है – भक्तिका युक्तिसे प्रतिपादन ! "**भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।।**" (९–२५) – भूतोंको पूजनेवाले भूतोंको प्राप्त होते हैं, मुझे पूजनेवाले भी मुझे प्राप्त होते हैं । यहां भूतपूजनसे भूतप्राप्ति होती है, वैसे भगवत्पूजनसे भगवत्प्राप्ति होती है ! यहाँ भी युक्तिसे प्रतिपादन है । (७–२५) में भी, – "**देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।**" देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते है, मेरे भक्त मुझको भी प्राप्त होते हैं । "**अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।**" (१०–८) – मैं सबका उत्पत्तिमूल (कारण) हूँ, मेरेसे सब चलता है (अस्तित्त्व है), ऐसा समझकर बुद्धिमान् पुरुष भावयुक्त होकर मुझको भजते हैं । यहाँ माहात्म्यज्ञान द्वारा युक्तिसे भक्ति बताई है । "**यो मे भक्तः स मे प्रियः ।**" – (१२–१४) – जो मेरा भक्त है वह मेरेको प्रिय है, कह कर प्रियताको भक्तिसे कही है। "**स सर्वविद् भजति मां – ।**" (१५–१६) – भगवान्को पुरुषोत्तमरूपसे जाननेवाला सर्वज्ञ भगवानको भजता है । "**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।**" (१८–५४) – ब्रह्मज्ञानसे ब्रह्मभूत हो गया हुआ पुरुष, प्रसन्नात्मा होता है । वह शोक

नहीं करता है, ईच्छा नहीं करता है,– सब प्राणीओंमें समानभाव–वात्मा होता है, वह मेरी परम (प्रेमलक्षणा) भक्तिको प्राप्त करता है । ब्रह्मज्ञानका फल होता है, – ब्रह्मरूप होना । "**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति ।**" – श्रुति है । ब्रह्मभूत ब्रह्मज्ञानी प्रसन्न अंतःकरणवाला होता है, वह शोकइच्छादि नहीं करता है, समत्व उसमें होता है । ऐसेको भी भगवद्भक्ति – ब्रह्मज्ञानके बाद – फल रूपमें – कृष्णकृपासे मिलती है । ब्रह्मज्ञान – ब्रह्मभावापन्नदशासे भी अधिक – उत्तम है – पराभक्ति – कृष्णकृपासे प्राप्त पुष्टिभक्ति ! यहाँ युक्तिसे भक्तिकी ब्रह्मज्ञानसे भी उत्तमता बताइ है ! "**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।**" – (१८–६६) – सब धर्म छोडके तू मेरी एककी ही शरणमें आ जा । यहाँ भगवानने अर्जुनको अपनी ही शरणागति करनेको कहा है । यह शरणागति परा–फलात्मिका – भक्तिके अंगरूप है । यहाँ भी इस युक्तिसे भक्तिका प्रतिपादन है ।

इस प्रकार, यह छत्रलिंगसे गीताजीका विषय है,– भक्ति ! यह सुस्पष्टरूपसे निश्चित हो जाता है । (३) **प्रयोजन** – गीताजीका फलापर पर्याय है– परम पुष्टि–भक्ति एवं भगवानकी प्राप्ति शरणागतिपूर्वक कृष्णसेवा– जीवनमंगल– दर्शन । (४) **संबंध**– प्रयोजन (फल) – प्रयोजक (गीता) – भावसंबंध है। प्रतिपाद्य (विषय) – प्रतिपादक (गीता) भाव संबंध है । इस रीतिसे, अनुबंध– चतुष्टय गीतामें स्पष्ट है ।

(१६) गीतामें नवधाभक्ति :

श्रीमद्भगवद्–गीतामें नवधा–भक्ति भी दिखाई देती है । क्रमबद्ध निरूपण तो नहीं मिलता है, परंतु प्रसंगोपात्त – वर्णन है । अ. १२– भक्तियोगमें पुरूषोत्तम– भक्ति – अक्षरब्रह्म – भक्ति–भेद बताते हुए, भक्तभेद भी बताते हैं । भक्ति–प्रक्रिया – परिणाम भी कहे हैं । विकल्प भी बताऐं हैं। भक्तिकी असरसे व्यक्तिका जो जीवनव्यवहार बना, इसमें दिखाई देते हुए गुणोंका (लक्षणका) वर्णन करते हुए, भक्तिसे अपनी प्रियताका उद्घोष करते हैं – भगवान् ! अर्जुनके प्रश्नानुसार यह निरूपण हुआ है । इसलिये नवधाभक्ति अन्य साधनोंके साथ प्रसंगानुरूप कह दी है । संकलन यथासंभव हो सकता है । नवधाभक्ति : १. **श्रवण** – "**अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते । तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।**" (१३–२५) इस प्रकार न जाननेवाले अन्यलोग तो अन्यलोगों (गुरुजनादि)से सुनकर उपासना करते हैं । वे भी श्रवण–साधनमें परायण होकर मृत्यु (संसार–अज्ञान–मौत) को तैर जाते हैं, मुक्त हो जाते हैं। २. **कीर्तन**– "**सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।**" (९–१४) दृढनिश्चयवाले भक्त सतत मेरा कीर्तन करते हुए, मेरी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करते हुए – उपासना करते हैं । ३. **स्मरण** – "**अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः । तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः** " – (८–१४) हे अर्जुन! जो पुरुष अनन्य चित्तसे सदा मेरा सतत स्मरण

करता है, – मेरेमें नित्ययुक्त उस योगीको मैं सुलभ हूँ । ४. **पादसेवन**– “**मां च योऽव्यभिचारेण – भक्तियोगेन सेवते।**” (४४–२६) – जो पुरुष अनन्यभक्तियोगसे मेरा सेवन करता है, – यहां सेवन–सर्वांग होनेसे पादसेवन तदन्तरगत होता है। दर्शन कोई स्वतंत्र–भक्ति न होने पर भी पादसेवनके अंतर्गत आते हैं । सेवन आँख मुंदके नहीं होता है । सेवा करनेवालेको सेवाके आवश्यक अंगरूप दर्शन हो ही जाते हैं । सेवा करनेवालेको साधिकार– स्वाभाविक दर्शन सुलभ हो जाते हैं। ५. **अर्चन** – “**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।**” (१८–४६) उस (सर्वप्रवृत्तिमूल – सर्वव्यापक – परमेश्वर) का अपने स्वाभाविक कर्मसे अर्चन (पूजन) करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त करता है । ६. **वन्दन** – “**नमस्यन्तश्चमां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।**” – (९–१८) मुझे नमस्कार करते हुए नित्ययुक्त लोग भक्तिसे मेरी उपासना करते हैं । ७. **दास्य** – “**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।**” (२–७) – आपका मैं शिष्य हूँ, आपके शरणमें आये हुए मेरा शासन करो । “**करिष्ये क्वनं तव ।**” – (१८–७३) – आपकी आज्ञाका मैं पालन करुँगा । शिष्यत्व और आज्ञापालकत्व दासमें होता है, इससे दास्य होता है । ८. **सख्य** – “**भक्तोऽसि मे सखा चेति ।**” – (४–३) तू (मेरा) भक्त है और सखा है । सख्य और आत्मनिवेदन तो भगवान् स्वीकारे तब तो हो सकते हैं । ९. **आत्मनिवेदन** – “**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।**” (१८–६६) सब धर्मोंको छोडकर (तू) मेरी एककी शरणमें आजा । इस शरणागतिमें समर्पण– आत्मनिवेदन हो जाता है । अन्य धर्मादि को छोडनेसे उनसे अलग (पृथक्) होना पडता है, केवल कृष्णके ही अनन्य हो जाना पडता है । इसलिये यहाँ पृथक्शरण भी है । यहाँ भक्तिको अंगभूत शरण कहा है ।

(१७) गीतामें – साधनभक्ति– साध्यभक्ति – पराभक्तिः

ये नवधा वगैरह भक्ति तो साधनभक्ति है । गीतामें साध्य–(परा)भक्ति भी दिखाई देती है । फलापेक्षा–रहित नवधा–भक्ति भगवत्प्रीत्यर्थ की जाय, भगवदर्पित की जाय, इससे होती है, – दशवीं – प्रेमलक्षणा भक्ति ! – इसे साध्य फलरूपा भक्ति भी कहते हैं । “**भक्त्या संजातया भक्त्या ।**” – से कहा है – साधन भक्तिसे फल–परा – भक्ति होती है । “**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा मद्भक्तिं लभते पराम् ।**” (१८–५४) – ब्रह्मभावापन्न – ब्रह्मभूत प्रसन्नात्माको भी कृष्णभक्ति तो कृपासे फलरूपमें मिलती है, यह है – पराभक्ति ! मुक्तोंको भी दुर्लभ! साधन भक्तिसे ब्रह्मज्ञान होता है, – (भगवन्माहात्म्यज्ञान होता है) बादमें कृपासे होती है – फलरूपा पराभक्ति ! इस क्रमसे भी गीताजीका तात्पर्य भक्तिमें है । “**य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति। भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ।**” – (१८–६८) – जो पुरुष यह परम रहस्ययुक्त

(श्रीमद्‌भगवद्‌गीता शास्त्र)को मेरे भक्तोंके लिये (भक्तोंको) कहेगा (निष्कामभावसे– भगवत्सेवाबुद्धिसे – सिखायगा, व्याख्या द्वारा अर्थावबोध करायगा) वह मेरेमें परम– भक्ति प्राप्त करके निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा । ऐसे, यहां साधन भक्ति–एवं पराभक्ति स्पष्ट दिखती है।

"**भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।**" (१८–५५) तत्त्वतः मैं जितना (प्रभावसे – माहत्मयसे), और जो (स्वरूपवाला) हूँ वैसा मेरेको भक्तिसे पूरे रूपसे जानता है, पीछे तत्त्वसे मुझको जानकर बादमें मेरे स्वरूपमें प्रविष्ट होता है । यह भी पराभक्ति है । "**भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।**" (११–५४) – हे परंतप! हे अर्जुन ! अनन्यभक्तिसे मैं ऐसा (विश्वात्मक) रूपवाला हूँ, ऐसा वास्तवरूपमें जाननेके लिये तथा दर्शन करनेके लिये, प्रवेश करनेके लिये शक्य हूँ । गीतामें ऐसे पराभक्ति एवं अनन्यभक्ति भी स्पष्टरूपमें प्रभुने कही है । "**मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ।**" (१४–२६) – जो पुरूष अव्यभिचारी (अनन्य) भक्तियोगसे मुझको भजता है, वह (मायाके) इन गुणोंसे पर होकरके ब्रह्मभावकके लिये समर्थ होता है । अनन्य भक्ति–योगमें सामर्थ्य है, – भगवद्‌दर्शन करानेका, भगवत्तत्त्वज्ञान करानेका और प्रभु प्रकट प्राप्त कराके उसमें प्रवेश

करानेका ! "**पुरुषः स परः पार्थ भक्तया लभ्यस्त्वनन्यया।**" (८–२२) वह सनातन परम पुरूष तो केवल – अनन्यभक्ति से लभ्य है । यह सामर्थ्य कर्मयोग – ज्ञानयोग अथवा अन्य किसी भी योगमें नहीं ही है । कृपायोगसे ही यह भक्तियोग सुलभ हो जाता है ।

(१८) गीतामें – अनन्यभजन :

श्रीगीताजीमें स्वयं भगवानने अपना भजन अनन्यतासे करनेका बारबार सुस्पष्ट कहा है । अन्य नहीं वह अनन्य है । भगवान् श्रीकृष्णके सिवाय अन्यका भजन नहीं वह होता है, – अनन्यभजन – अनन्यभक्ति ! शास्त्रदृष्टिसे तो यद्यपि सर्वत्र सर्वदा भगवान् ही सबकुछ है, – सब रूपसे है, सब कुछ करते हैं । "**वासुदेवः सर्वमिति –**" (७–१९) – सबकुछ वासुदेव है। – "**वसति विश्वमस्मिन् इति वासुः । वासुश्चासौ देवः वासुदेवः ।**" – विश्व जिसमें बसता है) वह वासु, वासु जो देव है, क्रीडावाला है, दशलीलाविशिष्ट है, वह वासुदेव है । जगत जिसमें वसता है और जो लीलायुक्त है – वह व्यापक साकार भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण वासुदेव है । वासुदेव ही सबकुछ है । अन्य कुछ है ही नहीं । परंतु – "**स महात्मा सुदुर्लभः ।**" (७–१९) – स्पष्ट है । यह समझनेवाला महात्मा सुदुर्लभ है । भगवान् वासुदेव स्वेच्छासे स्वलीलार्थ अनेक उच्चनीचरूपसे अपने आप प्रकट हो जाते हैं। सर्वभवनसमर्थ

भगवान् क्या नहीं हो सकते ?! सर्वसमर्थ भगवान् क्या नहीं कर सकते ?! जो होते हैं – बनते हैं – सब भगवान् ही है – अन्य नहीं है । प्रतीति अन्यथा मायामोहसे होती है, पदार्थ तो प्रभु ही है । पदार्थ अन्यथा नहीं होता है । सचिदानन्द प्रभु स्वलीलार्थ अनेकरूप – नाम – विभेदसे प्रकट हो जाते हैं । पदार्थमें आवश्यक ही गुणधर्म प्रकट करते हैं और नहीं, सब नहीं । इसलिये, कुछ भी अन्य न होते हुए भी, जब तक सब वासुदेव है, – ऐसा प्रतीत नहीं हो तब तक, जहां जहां अन्य लगे वहाँ वहाँ भजन नहीं करना चाहिये । अन्य नहीं लगे, परंतु जहां – जैसे – जो वासुदेव (कृष्ण) का स्पष्ट ही अनुभव–संबंध हो, मात्र वहां ही भजन करना वह अनन्य भजन है । परंतु कई लोग तो अन्यदेवतादिका भजन करते दिखाई देते हैं ! गीताजी उसका भी कारण स्पष्ट बताती हैं, – "**कामैस्तै स्तैर्हृतज्ञाना: प्रपद्यन्तेऽन्य देवता: । तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नितया: स्वया ।**" (७–२०) – अपनी प्रकृतिसे पराधीन लोग, उस उस भोगोंकी कामनाओंसे जिनका ज्ञान चला गया है (अपहृत हो गया है !) ऐसे लोग, उस उस (भोगप्रद देवताओंके) नियमोंको धारण करके, अन्य देवताओंको भजते हैं । उन सकाम भक्तोंके श्रद्धानुरूप विभूतिरूपों (उस उस देवतारूप)से उनकी श्रद्धाको स्थिर करते हैं । वह श्रद्धासे सकामभक्त देवताओंकी पूजा करता है । और उस देवताके पाससे भगवानने ही विहित क्यिे हुए इच्छित भोगोंको निश्चितरूपसे प्राप्त करता है । उन अल्पबुद्धि–

वालोंके ऐसे फल भी नाशवंत होते हैं । देवपूजक देवको प्राप्त होता है, कृष्णभक्त तो कृष्णको ही प्राप्त होते हैं । अपने ही मोह– एवं शूद्रकामनाओंके कारण जीवन शूद्रप्राप्तियोंमें व्यर्थ ही गँवाना पडता है । शास्त्रसमज्के दृढता – अनन्यता–से भगवान् श्रीकृष्णको अपने तन–धन–मनसे सेवानुकूल – अपने घरमें भजना जरूरी है । अन्यदेवता भी भगवानकी विभूतियाँ होनेसे आवश्यक – शास्त्रसंमत – प्रसंगोमें उनका आदर करें, – परंतु उनसे अपेक्षा वा भय नहीं रखना चाहिये । अन्य देवताके पास अपने आप न जाय, प्रसंगवशात् – अनिवार्य – शास्त्रानुकूल – जाना पडे तो कोई फल–लाभ– अपेक्षा तथा भय न रखें । प्रलोभन तथा भयके बिना भगवद्–विभूति होने से; आवश्यक यथोचित आदर करें । अनन्यशरण – अनन्यचिंतन – अनन्यभक्ति भगवान् कृष्ण स्वयं उपदेशसे स्पष्ट बताते हैं । अनन्यभजन सप्रमाण है, स्नेहकी स्वाभाविकता है, दोष नहीं है, अनिवार्य सद्‌गुण है । "**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ।**" (७–१४) (मेरी ही शरणमें आता है, – वही मायाको तैरता है ।), "**अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।**" – (८–५) (अंतकालमें मेरेको ही स्मरता हुआ, देहको छोडके), – इन दोनोंमें "एव"–कार अन्ययोग–व्यवच्छेदक है । – कृष्णके ही शरण–स्मरणसे कृतार्थता होती हैं । – अन्य किसी भी प्रकारसे नहीं । "**अनन्यचेता: सततं–**" (८–१४) (अनन्यचित्तवाला सतत), "**पुरुष: स पर: पार्थ**

भक्त्यालभ्यस्त्वनन्यया ।" – (८–२२) (वह परम पुरुष अनन्यभक्तिसे लभ्य है), "**भजन्त्यनन्य मनसो –**" (९–१३). (अनन्य मनवालें भजते है), "**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ॥**" (९–२२) (अनन्य मेरा चिंतन करते हुए), "**भक्त्यात्वनन्यया शक्य मेवंविधोSर्जुन** "। (११–५४) (अनन्यभक्तिसे मैं इस प्रकार शक्य हूँ), "**मय्येव मन आधत्स्व ।**" (१२–८) (मेरेमें ही मन रख), "**मयि चानन्यभावेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।**" (१३–१०) (मेरेमें ही अनन्य भावसे अव्यभिचारिणी अनन्य भक्ति), "**मां च योSव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।**" – (१४–२६) (मेरेको जो अव्यभिचार (अनन्य) भक्तियोगसे भजता है), "**यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तम् ।**" (१५–१९) (मेरेको ही असंमूढ पुरुषोत्तम जानता है), "**तमेव शरणं गच्छ।**" (१८–६२) (उसकी ही शरणमें जा), "**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।**" (१८–६६) (सर्वधर्म छोडके मेरी एककी शरणमें आजा), प्रभृति वाक्योंसे स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण् स्पष्ट अनन्यभजनका ही निरूपण करते हैं । भक्ति तो प्रदान है – प्रभुका !

(१९) गीतामें साकार ब्रह्मवाद :

वे है प्रभु श्रीकृष्ण "**स्वयं भगवान्**" हैं । "**साकारत्वात्तु सौन्दर्यं श्रीशष्देनाभिधीयते ।**" – साकारतासे स्वरूप और स्वभावकी सुन्दरता "**श्री**" – शब्दसे कही जाती है । त्रिभुवनसुन्दर

है – भगवान् श्रीकृष्ण ! "**कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृति–वाचकः तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ।**" – श्रुति है । – कृष्ण है – सदानन्द ! "**आनन्दमयोभ्यासात्।**" – ब्रह्मसूत्र (१–१–११) तथा "**विकारशब्दान्नेति येन्न प्रापुर्यात् ।**"– ब. सू. (१–१–१२)– से भगवान् कृष्ण "**आनन्द–प्रचुर**" हैं । पुर्णानन्द हैं । "**सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोSक्षि–शिरोमुखम् ।**" – (१३–१३) से साकार व्यापक आनन्द प्रचुर भगवान् श्रीकृष्ण हैं। सर्वप्राकृत देहेन्द्रिय– गुणोंसे रहित सर्व अप्राकृत – देहेन्द्रिय गुणोंसे सहित हैं – भगवान् श्रीकृष्ण ! "**अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः**" (७–२४) स्वयं भगवान् गीतामें कहते हैं, – प्रकट हुअे मुझको बुद्धिरहितलोग अव्यक्त – (अप्रकट – निराकारादि) मानते हैं । "**अवजानन्ति मां मूढा मानुषी तनुमाश्रितम् । परं भावमजानन्तो मम भूत महेश्वरम् ॥**" (९–११) – प्राणीमात्रके महान– ईश्वररूप मेरे श्रेष्ठ स्वरूपको न जानते हुए मूढलोग मर्त्यलीलौपयिक मनुष्य–शरीरका आश्रयकरके रहा हुआ मुझको साधारण समजते हैं, उपेक्षा करते हैं । नामरूपसे अव्याकृत ब्रह्म था, तब अव्यवहार्य था, स्वेच्छासे स्वलीलार्थ स्वतः व्याकृत होनेसे व्यवहार्य हुआ है । "**इक्षतेनशिब्दम्**" (ब्र.सू. १–१–४) में स्पष्ट है, – सर्वव्यवहार– प्रमाणातीत ब्रह्म होने पर भी उसने विचार किया – इच्छाकी – मैं लोकसृष्टि द्वारा व्यवहार्य होऊँगा । इससे यथा यथा किया तथा तथा स्वयं कहा ! अतः प्रमाणबलसे

अविषय है, स्वेच्छासे विषय है । ब्रह्म वेद – व्यवहार-प्रतिपाद्य होता है । वेदमें ब्रह्मका कर्तृत्व–अकर्तृत्व – दोनों दिखते हैं । उसमें द्वैधा निर्णय है । ब्रह्म सर्वभवनसमर्थ है, विरुद्धसर्वधर्मोंका आश्रय है । ईक्षत्यादि गुणयुक्त परमात्मा गौण नहीं है – मायाशबल नहीं है । वेदान्तमें आत्मा शब्द निर्गुण परब्रह्मवाचक है । यही जगत्कर्तृ है । स्वातंत्र्य न होनेसे सगुण कर्ता नहीं होता । अस्ति– भाति– प्रियत्वादि धर्मवाला ब्रह्म ही गुणातीतकर्ता है । तन्निष्ठ मुक्त होता है – कहा है – इस लिये गौण नहीं है । अवतारका स्वरूप स्पष्ट करते हैं, – "**अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूताना मीश्वरोऽपि सन् । प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।**"– (४–६) – मैं अविनाशी – (अविकृत– अप्राकृत), अजन्मा होने पर भी, सब प्राणीयोंका ईश्वर होने पर भी, मेरी अपनी (आनंदमयी) प्रकृतिको अधिष्ठान (आधार) बना करके मेरी (सर्वभवन– सामर्थ्यरूप) योगमायासे प्रकट होता हूँ । स्वयं भगवान् अपना अप्राकृत–अविकृत – अविनाशी स्वरूप –प्राकट्य बताते हैं । इसको भी उसके ही – बोले हुए गीतावाक्योंसे निराकार ठहराना तो दुःसाहस – वैपरीत्य– ही कहा जय !!! श्रीमधुसूदन सरस्वती – शांकरमतके उद्भट विद्वान्– अपनी गीताद्वीकामें मुक्तकंठसे उद्घोष करते हैं,– "**बंशीविभूषित – करान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुण बिम्ब–फलाधरोष्ठात् । पूर्णेन्दु– सुन्दर मुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ।**" वंशीविभूषित

करवाले, नूतनमेघ जैसी कान्तिवाले, पीताम्बरवाले, अरुण बिम्बफल जैसे अधरोष्ठवाले, पूर्णचन्द्र जैसे मुखवाले, कमल जैसे नेत्रवाले, कृष्णसे अधिक–श्रेष्ठ किसी भी तत्त्वको मैं नहीं जानता हूँ । – निराकार–निर्गुण– माने गये ब्रह्मको भी नहीं ! यह ज्ञानका फल – भक्ति – आप अपनेको मिले ऐसा चाहते है, इसलिये सूचकरूपे "जाने" आत्मनेपद –प्रयोग क्या है ! ओरोंकी बात ओर जाने ! "**ओर कोठ समजें सो समजें, हमको इतनी समज मली । ठाकुर हमारे नन्ददुलारे, और ठकुरानी वृषभानलली ।** " **प्रभुर्नन्दकुमारो मे स्वामिनी वृषभानुजा । कृतार्थोऽहं कृतार्थोऽहं कृतार्थोऽहं न संशयः।।**"

(२०) गीता–सर्ववाद–विश्राम : मौंकी गोद :

श्रीमद्भगवद्–गीता भगवद्वाणी है, – भगवद्रूपा है । भगवानकी तरह वह भी लीलासे सब वादोंका भी पोषण करती हैं, वादानुरोधिनी हो जाती है, – सर्ववादोंके अनवसर होने पर भी ! गीता कोई वाद नहीं कहती है, परंतु सर्ववाद गीतामें विश्राम पातें हैं । गीता तो संवाद ही है, इसमें वाद–विवाद – अपवाद – प्रवाद – बकवाद – तकवादादि नहीं ही है । संप्रदायके कूंडालें, कूदके, पंथापंथकी दिवारें लांघके, यह दिव्य चैतन्य प्रवाह स्पर्शसे चैतन्यमय हो जानकी बात आपापतः रमणीय तो लगती है । यथार्थ विचारनेमें तो योग्य नहीं ठहरती है । **संप्रदाय**– शब्द **सं** + **प्र** + **दा** + **धम्** – वर्णोसे बनता

है। **सं– सम्यक्** – गुरुपरंपरासे प्राप्त, **प्र– प्रकृष्ट, दा– दान** – ब्रह्मज्ञान, घञ् – **भाव–कृपा–पूर्वक;** संमिलित अर्थ होता है – **गुरुशिष्यपरंपरासे प्रकृष्ट ब्रह्मज्ञानका कृपा–भाव–पूर्वक दान दिया जाता है वह "संप्रदाय" है, कूंडाले नहीं हैं,** ब्रह्मज्ञान–रहित तो पंथ कहे जाते हैं। ऐसे भारत वाडे नहीं हैं। उदात्त् अर्थवाले संप्रदायोंको "वाडे" "कुंडाले" कहनेवाले भी कुछ सोचें ! आज "वाडे" "कुंडाले" क्या राजकारणके पक्ष, विविध संगठन, विविध कार्यक्षेत्र, राष्ट्रवाद, प्रांतवाद, जातिवाद, कोमवाद, भाषावाद, चेलाचेलियोंकी अपने ही वर्चस्ववाली परंपरादि, भी नहीं है ?! उन सबको स्वार्थबश पोषते हुए अज्ञान वा दांभिक लोग यथार्थ "संप्रदाय"को समझे बिना ही व्यर्थ प्रलाप करते हैं। उदार आदर्श – परंपरामेंसे लोंभोकी निष्ठाको तोडके निष्फलतामें जोडते हैं। श्रीशंकराचार्यजी अपने गीताभाष्यमें स्पष्ट कहते हैं, – "**सर्वशास्त्रविदपि असंप्रदाय–विद् मूर्खवदुपक्षणीय एव ।**" (१३–२) – सर्वशास्त्रज्ञ होने पर भी जो संप्रदायको नहीं जानता है वह मूर्खवत् उपेक्षणीय ही है। सब ही संप्रदाय,– परस्परमें मतभेद होते हुए भी, गीताको तो प्रमाण मानते हैं। वेद– गीता – ब्रह्मसूत्र तो सब आस्तिक–संप्रदायोंको प्रमाणरूपमें मान्य है, प्रस्थानत्रयी इसे कहते हैं। श्रीवल्लभाचार्यजीने इसमें श्रीमद्‌भागवत को जोडकर प्रस्थान– चतुष्टयी कर दी है ! सब भी वाद, गीता अपने मतको अनुकूल वा मत गीताके अनुकूल वा – मूल – बताते

हैं ! यह है – गीता का विशाल – अगाध – उदार – सर्वतोमुख – सर्वस्वीकृत – प्रतिपादन ! यथा माँ अपने अनेक बच्चोंको, परस्परमें मतभेदवाले होने पर भी, स्नेहसे रक्षण–पोषण– शिक्षण देती है, तथा गीता विविधवादोंका वत्सल–विश्राम है, सबको गीतासे रक्षण–पोषण – शिक्षण मिलता है। किसी संप्रदायमें न माननेवाले – स्वतंत्र विचारक भी गीताको मानते हैं। विभिन्न – प्रकारके आदर्श दृष्टिकोण–जीवनमंगल संदेश– गीतासे मिलते हैं। गीताको अपनी वाक्–कुमुमांजलि देते हैं, – स्वमतप्रतिपादक टीकाएँ – अर्थघटन लिखते है, कहते हैं– गीता को "अम्ब" !– माँ कही है !! माँकी गोदमें कौन नहीं खेलता ?

(२१) गीता – श्रद्धालुको संमत जीवनमंगल– संदेश : भारतीय शास्त्र : जीवनविवेकः

गीता सभी श्रद्धालुको जीवनमंगल–संदेश प्रदान करती है। "**श्रद्धया सत्यमाप्यते ।**" – वेदवाक्य है। – श्रद्धासे सत्य प्राप्त होता है। स्वश्रद्धानुसार सबको सत्य समझमें आता है। श्रद्धा– विशुद्ध – बुद्धि सत्यमें – स्वसन्मार्गमें – जीवनपथमें स्थिरता देती है। श्रद्धालु तो कोई भी जीव हो सकता है, कोई भी जीव भगवानका भजन कर सकता है। किसी भी देशका – जातिका – धर्मका – वयका – क्षेत्रका – स्थितिका – वर्णका – आश्रमका – श्रद्धालु – विचारक – जीव (व्यक्ति) वेद– गीता– ब्रह्मसूत्र– भागवतादिमेंसे यथाधिकार लाभ ले

सकता है । भारतीय–शास्त्र अमुक समाज– समय – स्थिति – प्रभृतिको लक्ष्यमें लेकर सीमित ध्येयसे नहीं दिये गये हैं । हिन्दुके माने गये – कहे गये – इन शास्त्रोंमें कहीं भी "हिन्दु" शब्द नहीं दिखाई देता है ! सब शास्त्र जीवके लिये हैं । जीव भगवानका अंश है, – सहज दास हैं । दास उदास न हों, दासको त्रास न हों, दासको उल्लास हो, दासका जीवनह्रास न हो, यह सब कुछ सर्वसमर्थ स्वामी – अंशी – भगवान् ही सबके लिये संपादन करते हैं । प्रभुके संपादित शास्त्रमार्गसे संस्कार– संपन्न, व्यक्ति जो अपने दोषोंको दूर करता है, नष्ट करता है, वह "हिन्दु" है । "**हिनस्ति दुष्टान् दोषान् इति हिन्दुः।**"– अपने अज्ञान, संकुचित स्वार्थ, रागद्वेषादि, द्वन्द्व, असमर्थता, गरीबी, वासना, दुष्टमनो–वृत्तियां, समाजविरोधी प्रवृत्तियां, भ्रष्टाचार, अनाचार, दुराचार, आदर्शहीन जीवन, आदि सब दोषोंको जीवन व्यवहारमेंसे दूर करनेमें प्रयत्नशील व्यक्ति "हिन्दु" है । अपनी परंपरासे, प्रभुप्रदात – शास्त्रानुसार जीनेवाले "हिन्दु"ओंका संगठन उदात्त आदर्शो की रक्षा तथा वृद्धिके लिये आवश्यक है ही । बहारसे आये आक्रमक नहीं है – आर्य ! इसी ही देशमें जन्में हैं । जीव प्रायः जीनेके लिये ही प्रयत्नपरायण रहता है । अपनी–अपनी मनमानी रीतिसे जीनेकी कामना करता है । कामनाए उसको कष्ट देती है– कुचड देती है – क्लेश कराती है – जीवन जरूरतोंमें लगातार लगा रखती है ! सुख–शांति '– आनंद– कल्याणको जीव चाहता है, मथता है; किंतु मिलते हैं, – दुःख – अशांति – उद्वेग !! तब मार्ग–मदद चाहता है, खोजता है । भगवान्‌ने उदार अनुकंपासे इसलिये उनके लिये शास्त्र – प्रणयन कर रखा हैं – वह कार्य ऋषि–आचार्यादि द्वारा भी करवाते हैं । आप भी अवतार लेते हैं । धर्मसंस्थापन, साधुपरित्राण, दुष्टदमन, अभय – आनंद–प्रदान, जीवनमूल्योंका संस्थापन– संवर्धन, भक्तिप्रदान, भक्तसुखसंपादन – आदि लीलाएं प्रकट करते हैं । अवतारदशामें भगवान् स्वसंबंध–मात्रसे काम–क्रोध– भय– स्नेह– एक्य– सौहृदादि को भी द्वार बनाकर, तन्मय हो गये, जीवोंका उद्धार करते हैं। सर्वसमर्थ – स्वतंत्र भगवानको अशक्य क्या होता है ?! अनवतारदशामें भक्ति – कर्म – ज्ञानकी आवश्यकता रहती है। इस लिये उपयोगी होते है, – बुद्धि, इन्द्रिय, मनः, प्राण !

(२२) बुद्धि– इन्द्रिय– मनः – प्राणका यथार्थ उपयोग :

श्रीमद्‌भागवतमें श्रीशुकदेवजीने सिद्धान्त बताया है, – "**बुद्धिन्द्रिय मनः प्राणान् जनानामसृजत् प्रभुः । मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मने कल्पनाय च ।**"– (१०–८७–२)। सब श्रुतियाँ ब्रह्मका प्रतिपादन करती हैं । खंडशः वाक्यका तात्पर्यवृत्तिसे ब्रह्म प्रतिपादकत्व है । अभिधासे ब्रह्मधर्म – प्रतिपादकत्व है। इस प्रकार, महावाक्यका भगवत्प्रतिपादकत्व है । स्वबुद्धि–परिकल्पित ब्रह्मविचार तो उपेक्ष्य है । वेदान्तमें जैसा भी समझा जाता है, ऐसा ही ब्रह्म मानना चाहिये । अणु मात्र

भी अन्यथा – कल्पनासे तो महान् दोष होता है । मूलभूत, सर्वव्यवहारातीत होने पर भी ब्रह्म अपने आप स्वेच्छासे, अपनी लीलाके लिये, लीलामात्रसे सर्व स्वशक्तिरूप, सर्वधर्मरूप, सर्व–स्वकार्यरूप हुआ है । – श्रुति यही प्रतिपादन करती है । “**सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति ।**”– से स्वयं कहती है । भगवान् श्रीकृष्ण भी “**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ।**” – गीता (१५–१५) कहते हैं। सब–वेद ब्रह्म– कृष्णका ही प्रतिपादन करते हैं । इसलिये श्रुतियाँ सगुण (गुणवृत्तिवाली) नहीं है । ऐसे; शक्ति–धर्म– कार्य – आदि रूप और मूलरूप भी मात्र श्रुतिसे समझा जाता है । इसलिये उनके निर्देश लोकधर्म–साम्यसे, वैदिक–परंपरासे, ही होता है । भगवल्लीला तो अलौकिक होने पर भी लोकवत् कही है ! – लौकिक नहीं ! इस तरहसे, सर्ववेद भगवद्धर्मके खंडशः प्रतिपादक होनेसे संपूर्ण महा–वाक्यका अर्थ – ऐसे धर्मवाला ब्रह्म ही है । सर्व श्रुतियाँका ब्रह्मपरत्व हैं । यह सिद्धान्त कहते हुए श्रीशुकदेवजी चार प्रकारसे सृष्टिका प्रतिपादन करते हैं । भगवान् जीवकी विचारसिद्धिके लिये पहले बुद्धिको उत्पन्न करते हैं । बादमें इन्द्रिय, बादमें मन, – बादमें प्राण । “**प्रभुः**” – सर्वसमर्थ है । बुद्धिकी उत्त्पति मात्राके लिये हैं । “**मीयन्ते त्रायन्ते इति मात्राः ।**” – ज्ञान–क्रिया– उपयोगी विषय, सर्व जगत्; वह खंडशः शब्दसे बताये हुए भी, ज्ञान–क्रिया– विषयमें उपयोगी न हो, इसलिये बुद्धिको प्रकट की । बुद्धि सबको ग्रहण करती है । बुद्धिमें सब जगत स्फुरायमान होता है, बादमें इस बुद्धिसे जो भी ज्ञेय–कार्य (जानना–करना हो वह शक्य होता है । इसलिये, (ज्ञान–क्रिया) मात्राके लिये बुद्धि निर्माण की है । इसलिये, खंडशः अर्थ–प्रतिपादक वेदका महावाक्यार्थ – ज्ञान बुद्धिसे होता है । अतः श्रुतिका तात्पर्यसे ब्रह्मप्रतिपादकत्व होता है । “**भवः**” – उद्भव । बुद्धिसे ही सबका उत्कर्ष होता है । “**आत्मने**” – बुद्धिसे ही भगवन्निष्ठा और आत्मनिष्ठा होती है, भगवत्सेवा हो सकती है । “**अकल्पनाय च**” – बुद्धिसे ही ज्ञाननिष्ठा होती है । विविध पदार्थके ध्यानके लिये कल्पना भी बुद्धि करती है। ऐसे सर्वकार्यके लिये बुद्धिको उत्पन्न की है। अथवा “**भव**”– उद्भव – जन्मान्तरके लिये इन्द्रियकी है, बुद्धिसिद्धिके लिये, इन्द्रियसे कर्म और इससे जन्मान्तर होता है – विषय होता है। भगवत्सेवा भी इन्द्रियाँसे होती है । विविध कल्पना – रचना–योगादि द्वारा मोक्ष भी इन्द्रियसे होता है । आत्माके लिये मनका सर्जन करते हैं । इन्द्रिय–प्रवृत्तिके लिये मनकी सृष्टि है। प्राण कल्पनाको दूर करता है । सर्वगामि मन सबको आत्मगामि करता है । अगर प्राण न होते तो अन्न वगैरहके परिणामसे आत्यन्तिक प्रलयमें सर्व जगतकी एकता (आत्ममात्र विषयिणी) बुद्धि न होती । भुक्ति–भुक्तिमें उपयोगी क्रियाशक्ति इससे होती है । सर्वोपयोगके लिये भगवान्ने ये चार क्यिे हैं । बुद्धि – अत्यंत उपयोगकी है , प्रभुने दी है !

(२३) गीतामें बुद्धिकी विशिष्टता :

भगवदीय बुद्धिसे जीवन–सफलता :

भगवानने जीवोंके हितके लिये बुद्धि दी है। जीवनके सब ज्ञान तथा कार्यमें उपयोगी है – बुद्धि ! सबको ग्रहण करती है – बुद्धि ! भगवानका भी ग्रहण करती है – बुद्धि ! तब होती है– भगवन्निष्ठा ! भगवान् जब जीवकी बुद्धिको ग्रहण कर लेते हैं, – तब तो अपने आप बुद्धिस्थ–बुद्धिने ग्रहण किया हुआ – सब कुछ भी अपने आप भगवानको समर्पित हो जाता हैं। “**इति मतिरूपकल्पिता वितृष्णा–**” श्रीभागवत (१–९–३२) में पितामह भीष्मजीने अपनी मति – ‘बुद्धि’ भगवानको निवेदित कर दी ! मति समर्पणका कोई फल भोगना रहे नहीं ! और बुद्धिमें जो कुछ भी हो वह सब भगवानको निवेदित हो जाय! लौकिक तृष्णारहित और अलौकिक कृष्ण–तृष्णा– सहित की बुद्धि है – वितृष्णा ! भक्त कुंताजीने भी भगवानको विंनती की,– “**त्वयिमेऽनन्यविषया मति–र्मधुपतेऽसकृत् । रति–मुद्वहतादद्धा गंगैवोघमुदन्वति ।।**” – श्रीभागवत (१–८–४२) हे मधुपते ! अनन्यविषयवाली मेरी बुद्धि आपमें रतिका उद्वहन बारबार साक्षात् करे, जैसे गंगा प्रवाह सागरमें बहता है। उन्होंने भी बुद्धिप्रवाह प्रभुमें चाहा ! बुद्धि ही मानवको जीवनका उत्कर्ष कराती है, भगवत्सेवासे जीवन कृतार्थ कराती है। इसलिये, महत्त्वपूर्ण है – बुद्धि ! होने चाहिये बुद्धिके योग्य संस्कार !

अन्य सभी धर्ममार्ग–धर्मग्रंथादि प्रायः श्रद्धाके उपर आधारित है। गीतामें तो भगवान् श्रीकृष्ण श्रद्धाके साथ बुद्धिका भी सुस्पष्ट महत्त्व बताते हैं। श्रद्धा–विशुद्ध बुद्धि ही जीवनका उत्कर्ष करती है। सुख– शांति– सफलता– सेवादि इससे सुलभ होते हैं। शास्त्रमें भी समझनेकी बुद्धि है – एक अधिकार! अंतःकरणकी निर्दोषता, (आयु) स्वास्थ्यकी सुदृढता और बुद्धिकी निपुणता, शास्त्रज्ञानमें आवश्यक है। स्कूल–कालिजमें पढते विद्यार्थीको अपनी अपनी कक्षाके अनुसार बुद्धिविकास आवश्यक है, नहीं तो योग्यता नहीं रहती है। ऐसे गीता भागवतादि यथार्थ सुनने–कहने – पठने– समझनेमें भी गीता– भागवत–कक्षाकी बुद्धिकी निपुणता भी उपयोगी है। व्यासजीने शास्त्र– साररूप दिये हुए गीता–भागवतको अपनी अर्थगरिमा है, वह यथार्थ स्वीकारके सुचाररूपमें श्रद्धा– स्नेह–समन्वित बुद्धिनिपुणतासे यत्न सतत करते रहना आवश्यक है। सतत सुदृढ प्रयत्नसे अगर सफलता न भी होगी तो संताप–शरण– दीनता होने पर प्रभु प्रसन्न होंगे, भक्ति होगी – बुद्धि भगवानको समझने योग्य हो जायगी, श्रीगीता–भागवतसे भगवान् समझमें आही जायेंगे ! स्कूल–कालिजके सामान्य कमाई के ग्रंथ व्यवस्थित पढने चाहिये, वर्षो तक, तब कोई विषयमें स्नातक हो सके ! और जीवन– सफलताप्रदः श्रीगीता–भागवत घर बैठे पढ लें ?! उनके लिये कोई सतत अभ्यास श्रवण–कीर्तन–स्मरण – मननादि नहीं चाहिये ?! सामान्य – कमाईके लिये स्नातक होनेमें स्कूल– कालिजके

मिलकर प्रायः १०–१२ वर्ष तो व्यवस्थित पढना जरूरी होता है। कल्याणकारी – जीवनमंगलप्रद – जीवनधनरूप, भगवानमें प्रेम करानेवाले, भगवानको प्राप्त करानेवालें श्रीगीता श्रीभागवतादिमें व्यवस्थित सेवन कितने वर्ष तक करना चाहिये ?! आवश्यक है – आजीवन सेवन करते रहें, नियमित – व्यवस्थित–रूपमें – जिससे (भगवत्संबंध–वाली) – भगवदीय – बुद्धि हो, उससे जीवन सफल हो जय। भगवत्कार्य–सेवा – करते रहें । स्वतः प्रभु कृपा कर दें – यह तो अलग ही बात है – पुष्टि है !

बुद्धिकी विशिष्टता भगवानने गीताजीमें बताई है, “**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकहकुरूनन्दन ।**” (२–४१) निश्चयात्मिका बुद्धि यहाँ एक ही है । निश्चिन्त हो सकते है – निश्चयसे ! निश्चय होता है – बुद्धिसे ! “**बुद्धियुक्तो जहाती ह उभे सुकृत–दुष्कृते**” (२–५८) बुद्धियुक्त ही सुकृत–दुष्कृत (पुण्य–पाप) दोनोंको छोडता है । “**यदा ते मोहकलिलं बुद्धि र्व्यतित–रिष्यति।**” (२–५२) जब तेरी बुद्धि मोहकलिलसे बहार आयगी। मोहमेंसे बहार भी बुद्धि लाती है. । यथार्थ समीझसे! “**मनसस्तु परा बुद्धिः**”– (३–४२) – अर्थसे पर इन्द्रियाँ, इन्द्रियसे श्रेष्ठ (बलवत्) मन और मनसे उत्तम बुद्धि है । – वस्तुविषय, इन्द्रिय, मन सब की नियामिका है– बुद्धि ! बुद्धिसे सबको वशमें रखकर योग्य मार्गमें – योग्य कार्यमें उपयोगसे जीवन उन्नत बना सकते हैं । “**सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्य–मतीन्द्रियम् ।**” (६–२१) – जो आत्यन्तिक–सुख

है, वह बुद्धिग्राह्य है, इन्द्रियोंसे पर है । बुद्धि ही यह सुखका ग्रहण करती है । “**ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।**” (१०–१०) – उसको बुद्धियोग देता हूँ, जिससे मुझको प्राप्त होता है । भगवान् भी देते हैं – बुद्धिका अपने साथ योग ! “**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।**” (१२–८) – मेरेमें मन रख, मेरेमें बुद्धि स्थिर कर ! मन–बुद्धि प्रभुमें रहे तो रति–गति प्रभुमें ही होती हैं । “**यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।**”–. (१८–२७) – जिसको अहं–भाव (मैं कर्ता हूँ) नहीं है, बुद्धि आसक्त होती नहीं है ।– बुद्धि की आसक्तिसे कर्मफल भोगने पडते हैं, नहीं तो नहीं । “**बुद्ध्या विशुद्धया–**” (१८–५१) विशुद्ध बुद्धिसे धैयपूर्वक शब्दादि–विषय, राग द्वेषादि छोडके योग्य सदाचारसे ब्रह्मभाव प्राप्त होता है । “**बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव ।**” – (१८–५७) – बुद्धियोगका ठीक आश्रय करके सतको मेरेमें चित्तवाला हो । चंचल चित्तको भी वश करके प्रभु परायण बनाती है – बुद्धि! “**विमृश्यैतदशेषेण –**” (१८–६३) सारी कही हुइ बातोंको संपूर्णरूपसे विचारके यथेच्छ करे – यहाँ भी विचार (ज्ञान) क्रियामें बुद्धिका ही महत्त्व प्रभुने बताया है । देहेन्द्रियं– मनः– संयमपूर्वक भगवदीय बुद्धिका विनियोग भगवानके कार्यमें – सेवामें करनेसे होती है – जीवनसफलता!

जीवन– सफलता नहीं है – किसीके वा अपने जीवन प्रश्न रागद्वेषसे उलझानेमें वा सुलझानेमें ! गीताजीमेंसे प्रत्येक जीवन–प्रश्नका समाधान मिल जाता हो, तो उसका अर्थ यह नहीं है

कि गीताजीको प्रश्न समाधानमें ही सिमित करके उसमें जीवन-सफलता मान लें। जीवका सबसे बडा तो प्रश्न है – यही जन्ममें प्रभुप्राप्ति ! उसमें गीताका सदुपयोग करें। कृष्ण-प्रसन्नता ही जीवन- सफलता है। उसमें आवश्यक हो ऐसे प्रश्न सुलझलें, बाकी मुख्यतया तो कृष्ण- प्रसन्नता प्राप्तिमें ही गीताजी – भागवतजीका उपयोग मुख्य करें।

(२४) गीतामें चारपुरुषार्थ–मनः संयमयुक्तबुद्धिवालोंके लिये ! :

श्रीवल्लभाचार्यजीने "**बालबोध**"-में स्पष्ट कहा है – "**धमा–र्थकाममोक्षाख्या श्चत्वारोऽर्था मनीषिणाम् !**" – धर्म – अर्थ– क़ाम – मोक्ष – मामके चार पुरुषार्थ है –, मनिषीओंके। ये तो नामके पुरुषार्थ है ! मुख्यपुरुषार्थ तो है – भक्ति ! स्वयं पुरुषार्थरूप है – भक्ति – प्राप्य भगवान् ! नामके चार पुरुषार्थ भी सबके लिये नहीं है ! है – मनको संयममें रखनेवाली बुद्धियुक्त- मनीषिओंके लिये ही ! प्राणीमात्रके प्रयत्न है, १. **दुःखको दूर करना,** २. **सुखको प्राप्त करना,** दुःख–निवारणके दो उपाय, – १. **धर्म,** २. **अर्थ**। सुखानुभवके दो प्रकार, – १. **काम,** २. **मोक्ष** ! मिलके हुए चार पुरुषार्थ – धर्म, अर्थ, काम – मोक्ष ! मानव ही बुद्धिके सदुपयोगसे यह प्राप्त कर सकता है – प्रायः अन्य प्राणी तो नही ! इसलिये है – पुरुषार्थ, पुरुषार्थ, पुरुषके जीवन का प्रयोजन ! इन्द्रिय–मनः– संयम बुद्धिसे करनेवालोंको ही यह शक्य है, सबको नहीं ! श्रीभागवतमें – "**धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य ।**"

(१–२–९) में, पुरुषार्थोंका साधनक्रम बताया है, –१. **काम** – जीवनोपयोगी आहार–विहार, २. **अर्थ**– योग्य आहार- विहारसे प्राप्त जीवन, ३. **धर्म**– जीवनसे धर्म- ज्ञान- भक्ति- प्राप्ति, तत्त्व (कृष्ण- भगवान्) की जिज्ञासा (विचार), ४. **मोक्ष**– भगवानको जाननेसे संसार (अहंता- ममता) एवं जन्म (शरीर)- बंधनमेंसे मुक्ति ! गीतामें भी ऐसे निर्देशसे पुरुषार्थ- दर्शन होते हैं।– "

"**युक्ताहारविहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु ।**" – (६–१७) युक्त- आहार- विहार, कर्ममें युक्त क्रियाएँ–वाला पुरुषको योग दुःखनिवारक- सुखद होता है। यहाँ **काम- पुरुषार्थ** दिखाता है। "**धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।**"– (७–११) – प्राणीओंमें धर्मसे अविरोधी काम मैं हूँ। यही कामसे प्राप्त जीवन निष्काम कर्मयोग युक्त हो जाय। लोक- संग्रहार्थ ही कर्म करें, प्रभु- प्रसन्नताके ध्येयसे ही सबकुछ नित्य–नैमित्तक-कर्म- करें, ऐसा जीवन अर्थ- पुरुषार्थ रूप है। "**असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पुरुषः ।**" (३–१९) – आसक्ति-रहिंत, निष्काम कर्म करनेवालेको परमकी प्राप्ति होती है। "**लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ।**"– (३–२०) लोक-संग्रहसे भी देखके तू कर्म करने योग्य है। "**ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगंत्यक्त्वा करोति यः।**"– (५–१०) – भगवानकी प्रसन्नताके लिये, (ब्रह्मको समर्पित करके) फलमें आसक्ति-रहित जो कर्म करे, उसको पाप नहीं लगता है- बंधन नहीं होते हैं। यह हुआ भगवत्प्रीत्यर्थ जीवन- **अर्थ- पुरुषार्थ** !

इससे प्राप्त ज्ञान– भक्ति– भगवानका तत्त्वतः ज्ञानप्रप्तिके अनुकूल स्ववर्णाश्रमधर्म–पूर्वक प्रयत्न है– धर्मपुरुषार्थ ! "**यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।**"– (१५–१९) जो ऐसे मुझको पुरुषोत्तम जानता है वह असंमूढ– सर्वविद् सर्व–भावसे मेरेको भजता है। यहाँ ज्ञानसे हुई भक्ति ! यह हुआ धर्मपुरुषार्थ! इससे होता है– पुरुषोत्तम–प्रप्ति रूप–मोक्ष–पुरुषार्थ ! "**मद्भक्तयाः यान्ति मामपि**" –(७–२३)– मेरे भक्त मेरेको प्राप्त होते हैं। "**भक्त्या त्वनन्यया शक्य**"– (११–५४) अनन्य भक्तिसे शक्य हूँ मैं – इसप्रकार जाननेको, देखनेको, प्रवेश करनेको ! "**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।**"– (१२–८)– मेरेमें ही मन रख,मेरेमें बुद्धिका प्रवेश करा दे, मेरेमें ही – इससे आगे तू रहेगा, संशय नहीं है । अक्षरब्रह्म ज्ञानसे अक्षरब्रह्म प्रवेश और पुरुषोत्तमभक्तिसे– लीला– प्रवेश ! यह **मोक्ष पुरुषार्थ** है । ऐसे भागवतानुरूप, – धर्म– अर्थ– काम– मोक्षकी संगति गीताजीमें भी लगती है !

(२५) गीताजीके छः छः अध्यायके तीन विभाग :

गीताजीके विचारकोंने भिन्नभिन्न रीतिसे अपनी अपनी युक्तियाँसे छः छः अध्यायके तीन विभाग माने हैं । १. पहले छः अध्याय – **सूत्ररूप** हैं । स्वल्पाक्षरमें निःसंदिग्ध रूपमें – सारयुक्त– सूत्र होते हैं । २. दूसरे छः अध्याय –**वृत्तिरूप** हैं । संक्षिप्तमें अर्थावबोध वृत्तिमें होता है । ३. तीसरे छः अध्याय – **भाष्यरूप** हैं । सूत्रके अनुसारी शब्दोमें सूत्रार्थवर्णन, स्वशब्दवर्णन भी होता है – भाष्य ! अर्जुनविषादकी निवृत्तिके लिये भगवानने विवेकयुक्त सांख्य–बुद्धिसे धर्म कहा । उसमें अरुचि जानके धैर्ययुक्त योग–बुद्धिसे स्वधर्म कहा । प्रथम छः अध्यायमें यह कहा है । उसमें भी पार्थकी संदिग्ध बुद्धि जानके छः अध्यायमें माहात्म्य और छः अध्यायमें भक्ति कही है ।

कोईमतमें, पहले छःमें "**त्वं**" प्रदार्थ, दूसरे छः में "**तत्**" पदार्थ और अंतके छःमें "**असि**" (उभय ऐक्यी) पदार्थका निरूपण है। मिलके "**तत्त्वमसि**" – वेदवाक्यका निरूपण है।

किसी मतसे, प्रभम छः में **मुरली,** द्वितीय छः में **वेणु** और तृतीय छःमें **वंशीका** प्रतिपादन है । कोई विचारसे, **कर्म–भक्ति** और **ज्ञानका** क्रमशः निरूपण है । लगता है यहाँ ब्रह्मपतिपादन होनेसे, सच्चिदानन्द ब्रह्म (भगवान् श्रीकृष्ण)के, **सत्–चित्त–आनंदका** प्रतिपादन तीन अध्यायषटकमें हैं । भगवानके छः गुण – **ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य** – छ अध्यायरूप है । मिलके, अढारह ! अढारह–विद्याप्रतिपाद्य ब्रह्म यहाँ भी है!

(२६) गीताके अठारह अध्याय (योग) का संकलन :

अध्याय–१ : अर्जुनविषादयोग : श्लोक – ४७ :

भगवान् श्रीकृष्णने पांडवोंका स्वीकार पुष्टिमर्यादामें किया है। मर्यादा मुख्य, कृपा कुछ गौण है – इसमें ! अर्जुन आर्त–जिज्ञासु भक्त है । उसके लिये युद्ध केवल धर्म न रहते हुए, आज्ञापालनसे सेवा– भगवद्धर्म हो जाय, इसलिये तो भगवानने ही उसकी बुद्धिमें विषाद कराया ! भगवदिच्छानुरूप करना चाहता है –

अर्जुन ! भगवदिच्छाके अज्ञानसे हुआ – विषाद ! – मनमें हुआ अर्जुनके ! प्रपत्तिसे जोडा कृष्णसे ! हुआ – योग ! – अर्जुन विषादयोग ! भगवानसे न जोडने पर रह जाता – अर्जुनविषाद ! यहाँ, योग है – (भगवानके साथ अपनेको जोडनेका उपाय, साधन, मार्ग ! – दो सजातीय तत्त्वोंका मिलना योग है । शब्दोंकी संधि भी योग है । "युजिर योगे" – संबंध–जोडना योग है, "युज समाधौ" – चित्तकी समाधि–स्थिरता, "युज संयमने" – सामर्थ्य–नियंत्रण ! चितवृत्तिनिरोध भी योग है ।

अध्याय–२ : सांख्ययोग : श्लोक – ७२ :

अर्जुनको विषादसे वैराग्य होनेसे सांख्य–जोगका आविष्कार हुआ । विद्याके वे दो पर्व है । आत्मस्वरूप – ज्ञान तथा स्थिरबुद्धिमें वे दोनों कारणरूप है । बादमें, जीव भगवानका अंश है, इस बुद्धिसे भगवदाश्रय होता है । आश्रयमें होता है – आज्ञापालन ! आज्ञापालनसे – युद्ध ! इससे, युद्ध भी हो गई – सेवा ! पुष्टिमिश्र भक्तकी मात्र सांख्यमें रुचि नहीं होती है । सांख्य– योगके बीचमें स्वधर्म कहा है । इससे अर्जुनके हृदयमें पुष्टिस्थ प्रकार प्रकट होता है । यहाँ आरंभमें अर्जुनविषाद, बादमें सांख्य, स्वधर्म, योग और अंतमें स्थिरबुद्धि (स्थितप्रज्ञ लक्षण) कहे हैं । यहाँ, वस्तुस्वरूपका सम्यक् व्याख्यान होने से सांख्ययोग है ।

अध्याय – ३ : कर्मयोग : श्लोक – ४३ :

सांख्य–योग (त्यागात्याग)के बाद अब धर्मनिर्णय कहते हैं। अब आठ अध्यायमें, माहात्म्यज्ञान – भक्ति – करानेवाला वेदधर्म भगवानने कहा है । त्यागसे अत्याग उत्तम है । शरीर संबंध है, तब तक कर्मत्याग शक्य नहीं है । इसलिये, भगवदाज्ञासे सेवारूप कर्म ही करना उत्तम है । योगीको कर्म करना आवश्यक है । यज्ञरूप कर्म बंधनप्रद नहीं है । आसक्ति एवं फलापेक्षा–रहित कर्मसे कृतार्थता होती है । लोकसंग्रहके लिये भी कर्म आवश्यक है । प्रभुप्रसन्न हो ऐसे कर्म करे । पाप–प्रेरक कामका मनमेंसे नाश करें ! यहाँ, कर्मकी महत्ता बतानेसे यह कर्मयोग है ।

अध्याय–४ : ज्ञानकर्मसन्यासयोग : श्लोक – ४२ :

योगीको कर्म करना आवश्यक है, यह बताने के बाद, अब उसमें विश्वासके लिये कर्मयोगकी परंपरा बताते हैं । भक्त अर्जुनको रहस्य बताते हुए, नित्यता बताई । अवतारकी यथार्थता, कारण और दिव्यता कही ।–भगवानके ज्ञानपूर्वक किये हुए कर्म बंधनप्रद नहीं होते हैं । सर्वत्र ब्रह्मभावसे, आसक्ति एवं फलापेक्षा–रहित कर्म करनेसे योगी मुक्त होता है । यहाँ, ज्ञानपूर्वक कर्म(फल) त्याग (संन्यास)बतानेसे ज्ञान–कर्म–संन्यास–योग है।

अध्याय–५ : कर्मसंन्यासयोग : श्लोक–२९ :

योगमें स्वधर्म–मोक्षसाधन बताकर, यहाँ सांख्य– योगकी एकता बताते हैं । भगवत्प्रसन्नताके लिये, फलेच्छा तथा

अहंकार–रहित, कर्म करनेवालाको बंधन नहीं होता है। कर्ता, भोक्ता, नियामक, प्रेरक, सबके स्वाभाविक हितकर्ता भगवानको जानके शांति प्राप्त होती है। इसमें कर्मफल बंधनत्याग कहा है, अतः कर्मसंन्यास योग है।

अध्याय – ६ : आत्मसंयम योग : श्लोक–४७ :

सांख्य–योगकी एकार्थता है – कर्मयोगमें ! आवश्यक कर्म, फलकी इच्छारहित, कर्तव्यबुद्धिसे, करनेसे सांख्य–योग दोनों सिद्ध होते हैं, फलात्यागसे– सांख्य, कर्म करनेसे – योग ! दोनों की एकार्थता–सिद्धि होती है। यह होता है – आत्म–संयम– धर्मसे ! अपने आप ही अपना उद्धार करे ,– मनः–संयमसे! उसके उपाय यहाँ बताये, यह इसलिये आत्म–संयम–योग है।

अध्याय–७ : ज्ञानविज्ञान योग : श्लोक–३० :

सांख्य–योगका फल आत्म–स्वरूप ज्ञान पूर्वमें कहा है। अब माहात्म्य – ज्ञानपूर्वक भक्ति कहते हैं। माहात्म्यज्ञानसे भक्ति होती हैं। ज्ञान ही भक्तिमें परिणत हो जाता है। भक्तिमें **"भज सेवायां"** धातु है, **"क्तिन्"** भावार्थक प्रत्यय स्त्रीलिंगमें है। अर्थ होता है, – भगवानकी वशमें रह कर प्रेमसे भगवानकी सेवा करना है, – भक्ति ! योगियोंको भी अंतमें भगवानका माहात्म्य ज्ञान – उसका (अनुभव) विज्ञान–ही सिद्धिप्रद होता है, अन्य कुछ भी नहीं। कामनाओंसे यथार्थ ज्ञान चला–जाने पर लोग विभूतिरूप अन्य देवताओंको भजते हैं, स्वल्प फल

मिलता है। भगवानका माहात्म्यज्ञान यहाँ बताया है, अंतकालमें उसका स्मरण फलरूप होता है। योगधर्मसे भगवानका महिमा–ज्ञान होता है, बादमें प्रपत्ति होती हैं, बादमें भगवानका ज्ञान ! इसलिये, भक्तज्ञानीकी उत्तमता है। आत्मज्ञानवालासे भगवज्ज्ञानवाला उत्तम है। अतः स्वात्मज्ञानवाला निर्दोष भगवानको निरंतर भजता है। – ब्रह्मको जानता है। जिसकी सेवा करनेकी है, उसका माहात्म्य अवज्ञादिसे अपराध जीवका न हों – इसलिये, बताते हैं, – अतः यहाँ ज्ञानविज्ञानयोग है।

अध्याय–८ : अक्षरब्रह्मयोग : श्लोक–२८ :

तद्ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ क्या है ? अंतकालमें भगवानको कैसे जाने ? – यह प्रश्न यहाँ अर्जुनने पूछा। पूर्वाध्यायमें ब्रह्म–कर्मादिको निर्दोष भजनेवाला जानता है, – सुनके जिज्ञासा हुई। भगवानने उत्तरमें, तद्ब्रह्म – अक्षरादिके स्वरूप समझाये ! ओंकारात्मक अक्षरब्रह्म गणितानन्द – अव्यक्त– समष्टि – व्यष्टि – मूल – भगवद्धामरूप है। परमात्मा क्षर–अक्षरसे उत्तम है, प्रकटानंद है, दर्शनीय सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक है। भगवान् पुरुषोऽत्तम लोकवेद प्रसिद्ध, निर्गुण, सदानन्द दर्शनीयतिलक है। अनन्य भक्तिसे ही भगवानकी प्राप्ति, उससे ही अपुनर्जन्म कहा, नहीं तो ब्रह्माके दिवस–रात्रिमें उत्पत्ति–लयके क्रममें अवश घूमना होता है। यहाँ भगवानके अक्षरब्रह्म–रूप बताया है। अतः यह अक्षरब्रह्मयोग है।

अध्याय – ९ : राजविद्या–राजगुह्य–योग : श्लोक–३४ :

यहाँ भगवानने ज्ञान–विज्ञान–सहित, गुह्यतम, अपना अक्षर–रूपका एश्वर्यज्ञान कराया है। परंतु आसुरी–राक्षसी प्रकृतिवाले लोग मोहवश हो करके भगवानको भजते नहीं है, अवज्ञा करते हैं। दैवी प्रकृतिवाले महात्मा लोग भगवानको भजते हैं। सकाम यज्ञादि करनेवाले स्वर्गादिमें फल भोगके वापस लौटते हैं। भक्त तो भगवानको ही प्रेमसे भजकर कृतार्थ हो जते हैं। दुराचारी भी कृष्णके अनन्य भजनसे साधु ही हो जाता है। भक्त नष्ट नहीं होता है। दृढ भगवदाश्रयसे हीनलोग भी परम गति प्राप्त करते हैं। महा पतितपावन है – भगवान्! पूर्वमें अपने महिमाको सर्वोत्तम कहकर ज्ञानिभक्तको सुलभता कही थी। यहाँ भक्ति की असाधारण महिमा बताइ है। यहाँ विद्याओंमें राजा (मुख्य), गुप्तमें उत्तम (राजा), जैसी बाते भक्ति महिमाकी – पुष्टिकी– भगवानने कही है। इसलिये यह राजविद्याराजगुह्य योग है।

अध्याय–१० : विभूतियोग : श्लोक–४२ :

भक्तिकी – पुष्टिकी – महिमा पूर्वाध्यायमें बताकर, अब उस भक्तिकी वृद्धिके लिये अपनेसे ही सबका प्रभव प्रभु बताते हैं। सबका प्रभव है – प्रभु! सतत युक्तोंको भजनेवालोंको प्रभु देते हैं – बुद्धियोग! अर्जुनके पूछने पर भगवानने सबमें अपना योग बताकर अपना वैभव – विभूतिरूपमें बताया। सच्चिदानन्दरूप भगवानसे यह सत्–चित्–जगत् होता है।

सर्वत्र भगवद्दृष्टि, भगवन्महिमाज्ञान, भगवदनुसंधानके लिये, यही सच्चिदानन्दरूपकी समृद्धि – विभूति – जगतमें, जगद्रूपसे है, ऐसा बताया। पूर्ण भगवान् एकांशसे पूर्ण – विश्वरूप होने पर भी पूर्ण ही रहते हैं। यह पूर्ण प्रभुकी मुख्य– विभूति यहाँ बताई है। अतः यह विभूतियोग है।

अध्याय – ११ : विश्वरूप–दर्शन–योग : श्लोक – ५५:

तीनसे दश– ये आठ अध्यायमें महिमाज्ञान – भक्ति – करनेवाला वेदधर्म कहा। अब आठ अध्यायमें भगवानने अपने गुणोंसे आश्रयधर्म कहके अर्जुनको पुष्टिरूपसे मोहमेंसे छुडाया, यह कहते हैं। भगवानका ज्ञान करानेवाले निगमके वाक्योंसे माहात्म्य–ज्ञान होने पर भक्ति होती है, इससे स्वधर्म होता है, इससे मर्यादा होती है। साकार – सर्व सुंदर – सांख्य–योगरूप कुंडलयुक्त मुखवाले भगवानके दृढाश्रयसे ही स्वधर्म होता है, इससे पुष्टि होती है। यहाँ प्रभुके वचनसे मर्यादा और स्वरूपदर्शनसे पुष्टि है। इसलिये अर्जुनके अधिकार पुष्टि–मर्यादाके अनुसार मर्यादामिश्र पुष्टिरूप प्रभुने बताया है। पूर्वाध्यायमें अपनी विभूति और उनमें अपना योग, एकांशसे धारण, भगवानने कहे थे, अब यहाँ उनका प्रत्यक्ष दर्शन कराते हैं। विश्व भगवानका रूप है। अतः यह विश्वरूप दर्शन योग है।

अध्याय–१२ : भक्तियोग : श्लोक–२० :

भगवानका विश्वरूप भी अक्षरब्रह्मरूप होनेसे, अक्षरब्रह्म

भगवानका धाम भी होनेसे, कुछ भेद जैसा लगने पर अर्जुनने अक्षरब्रह्म और पुरुषोत्तमके भक्तविषयमें पूछा ! अनन्यतासे भक्त, अपने सामर्थ्यसे ही साकार सर्वसुंदर प्रकट आनन्दमय भगवानको प्रेमसे भजते हैं । अव्यक्त अक्षरको भजनेवालोंको क्लेश अधिक होता है । भगवानको भक्त अतिप्रिय हैं । ये भक्ति करनेवाले – भक्त के लक्षण बताये हैं । अतः यह भक्ति योग है ।

अध्याय–१३ : क्षेत्रक्षेत्रविभागयोग : श्लोक–३४ :

सातवे अध्यायमें भगवानने परा और अपरा दोनों अपनी प्रकृति कही थी । परा–प्रकृति है – सोपस्कर क्षेत्र ! और अपरा – प्रकृति है – चेतन – क्षेत्रज्ञ – जीव ! ये सबका मूल है – अक्षरब्रह्म ! यह ज्ञेयव है, उसका साधन है – ज्ञान ! तीन षटकके क्रमसे, पहले छः अध्यायमें जो कहा (सूत्र) उसका विवेचन (वृत्ति) दूसरे छः अध्यायमें क्रिया । पुनः उसका भी विजेचन (भाष्य) तीसरे छः अध्यायमें क्रिया है । इसलिये यहाँ पूर्वोक्तका विस्तार भी है । भक्तिसे भगवानका यथार्थ–ज्ञान होनेसे भी यहाँ ज्ञान–सेवादिका निरूपण है । इसलिये यह – क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ– विभागयोग है ।

अध्याय–१४ : गुणत्रयविभागयोग : श्लोक–२० :

क्षेत्र–शरीर, क्षेत्रज्ञ–जीवके स्वरूप पूर्वाध्यायमें कह कर, यहाँ उनका विस्तृत कार्यरूप बताते हैं । अर्क्षब्रह्मांश होनेसे अनादि–निर्गुण– पुरुष तो निर्मल है । अनादि होने पर भी प्रकृति

त्रिगुणात्मिका होनेसे मलिन है । यह प्रकृतिके संबंधसे प्राकृत सब पदार्थ–प्राणी त्रिगुणात्मक ही है । भगवान् और भगवन्निष्ठ ही गुणातीत है । जगतमें सब कुछ त्रिगुणात्मक – सत्त्व, रजः, तमोमय – होनेसे, यहाँ – तीन – गुणोंके विभागसे सबके विभाग बताये हैं । अतः यह गुणत्रयविभागयोग है ।

अध्याय–१५ : पुरुषोत्तमयोग : श्लोक–२० :

पूर्वाध्यायमें, गुणसंगसे पुरुषका प्रकृतिसंबंध भगवानने ही तारतम्यसे कराया है, ऐसे पूर्वोक्त सांख्यके विवरण– प्रसंगसे गुण– विभाग कहके, अंतमें गुणनिवृत्तिपूर्वक अक्षरब्रह्म–प्राप्ति पुरुषोत्तम– भक्ति– मूलक कोई भक्तिमार्गीयको होती है, ऐसा निरूपण क्रिया । अब भजनीय भगवान्, ब्रह्मादिके आश्रयभूत, मूलभूत, क्षराक्षरातीत, सर्ववेदान्ततात्पर्यभूत, पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण क्षराक्षरात्मक – बद्धमुक्त मूलभूत होनेसे सर्वविरुद्ध धर्माश्रयभूत है, – सर्वोत्तम है– सर्वप्रेरक नियामक है, यह यहाँ बताया है। नामरूपात्मक यह चिदचित्प्रपंच (जड चेतन जगत्) भगवानके सच्चिदंशसे हुआ है । उसके भी मूलभूत भगवान् पुरुषोत्तम भजनीय हैं । अक्षरब्रह्म उसका धाम है, जीव अंश है । भगवान् ही सर्वरूप, सर्वपोषक, सर्वाधार है । ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् – शब्द भिन्न है, तत्त्व एक ही है । यह है – लोकवेद प्रसिद्ध पुरुषोत्तम ! अतः यह पुरुषोत्तम योग है ।

अध्याय–१६ : दैवासुर– संपद्विभागयोग : श्लोक–२४ः

अगले अध्यायमें "जो असंमूढ मुझे इस प्रकार पुरुषोत्तम

जानता है," – कहा है । इसमें जाननेमें बुद्धि, ज्ञान, असंमूढता (असंमोह) इत्यादि आवश्यक है । ऐसे असंमूढ है – दैवी ! तदतिरिक्त, मूढ है – आसुर ! इस प्रकार, दैव– आसुर – विभाग स्पष्ट है । भगवद्‌वचनानुसार जीनेवाले, धर्मशील, रमणीयाचरण वाले, दैवी जीव है । स्वच्छंदी, अधर्मशील, अनाचारी आसुर होते हैं । क्रमशः मोक्ष–बंधन उनके फल होते हैं । अतः यह दैवासुर– संपद्– विभाग योग है ।

अध्याय–१७ : श्रद्धागयविभागयोग : श्लोक–२८ :

पूर्वाध्यायके अंतमें, शास्त्रप्रामाण्य कार्याकार्य– व्यवस्थामें बताया, शास्त्रविधि छोडके स्वच्छन्दसे कार्य करनेवालोंको सिद्धि–सुख – परमगति नहीं मिलते हैं, – कहा है । इसलिये, अर्जुनने पूछा, – श्रद्धा हो, परंतु शास्त्रविधि न हो, तो ऐसे लोगोंकी निष्ठा कौनसी होती है ? – सात्त्विक, राजस वा तामस? शरीरीओंकी स्वभावसे ही श्रद्धा त्रिविध होती है । सत्त्व – अंतः–करणके धर्मानुकूल यह श्रद्धा होती है । पूर्वपूर्व संस्कारानुरूप होता है – अंतःकरण ! तदनुरूप होती है – श्रद्धा! – शास्त्रज्ञानरहित अंतःकरणवालोंकी श्रद्धा भी ऐसी ही होती है। शास्त्रसहित अंतःकरणवालोंकी श्रद्धा भी ऐसी ही होती है । इससे शास्त्रविधिका त्याग वा स्वीकार होता है, व्यवहार ऐसा ही चलता है । इससे दैवासुर–भाव प्रतीत नहीं होता है । श्रद्धामय पुरुष है, श्रद्धा अंतःकरण– गुणानुरूप होती है, – सात्त्विकी, राजसी, तामसी । अतः यह श्रद्धात्रयविभागयोग है ।

अध्याय – १८ : मोक्षसंन्यासयोग : श्लोक–७८ :

अब अपने कहे हुए सबका सार देते हुए भगवानने, अर्जुनके प्रश्नानुरूप, संन्यास और त्यागका विनिर्णय बताया । काम्य– कर्मोंका त्याग संन्यास है । सर्वकर्म फलत्याग त्याग है । यज्ञ–दान– तपः कर्म, फल– आसक्ति– अहंतादि–रहित कहने आवश्यक है । "सर्वकर्माणिमनसा संन्यस्तास्ते सुखं वशी" – (५–१३) (सर्वकर्म मनसे छोडकर संयमी पुरुष सुखसे रहता है।) तथा "संन्यासयोगयुक्तात्मा विभुक्तोमामुपैष्यसि ।" (९–२८) – (संन्यासयोगसे युक्त अंतः करणवाला विमुक्त– मेरेको प्राप्त होगा) में, "संन्यास" – शब्द तथा "योगिनः कर्म कुर्वन्ति संग त्यक्त्वात्मशुद्धये ।" (५–११) योगिलोक आसक्ति छोडके आत्मशुद्धिके लिये कर्म करते हैं) में, "त्याग" शब्द सुनके संन्यास–त्याग एक ही है या भिन्न ?– यह जाननेके लिये अर्जुनने पूछा है । भगवानने दोनोंके निर्णीत स्वरूप बताये। सर्वधर्म– परित्यागपूर्वक अनन्य स्वशरणागतिसे मोक्ष कहा (पुष्टिभक्तिके अंगरूप यह शरण है ।) अतः यह मोक्ष संन्यासयोग है ।

पुष्टिमिश्र मर्यादा भक्त है – अर्जुन ! उसका विषाद देखा। सांख्य–योग कहे । मर्यादा कही । दोनों है – भगवानके मकराकृति कुंडल ! कुंडलावृत मुख है– भक्ति ! पुष्टिभक्तिरूप मुखसे सेवानुगुण शरण अंतमें कहा ! सेवा शरणानुरूप विवेक – धैर्य – आश्रय सत्रह अध्यायमें कहें । सत्रह श्लोकमें श्री महाप्रभुजीने "विवेकधैर्याश्रय" – ग्रंथ कहा है । विषाद– योगके

साथ हो गये – अढारह अध्याय ! अथवा नर – अर्जुन–का दुःख एक अध्यायमें कहा। सांख्य–योगाश्रय – सुखार्थ– दुसरे अध्यायमें कहा। पुनः मर्यादासे वाणीसे उपदेश ८ अध्यायमें। और ८ अध्यायमें भक्तिसे आत्मदर्शन सब छोडके कृष्णाश्रय सेवाकृति एवं भगत्कृपा पुष्टिधर्मसे सर्वथा मुक्ति कही। अथवा आर्त–जिज्ञासु भक्त है – अर्जुन ! भगवानने उसको, शास्त्रनिर्णयपूर्वक निवृत्तिनिष्ठा रहस्य बताया। सांख्य–योग, रहस्य, रहस्तम, अन्योन्याधिक्यनिर्धार, ज्ञान–विज्ञान–निर्धार, स्वस्वरूपनिर्धार, भजनेतर निर्णय इसमें कारणरूप गुणवैषम्य, सर्वशास्त्रनिर्णय बताया। यह भीतार्थ– निर्धार है।

इस प्रकार श्रीगीताजीके अढारह अध्यायके योगोंका परस्पर संकलन स्पष्ट है। अर्जुनकी विकलदशामेंसे ःउसको स्वस्थ – आज्ञानुरूप सेवारत – करनेके लिये भगवानने प्रश्नानुसार वा स्वतंत्र– स्नेहसे जो भी कुछ कहा वह संवाद है– गीता ! अध्याय विभाग भगवानने नहीं किये लगते हैं। महर्षि व्यासजीने गीताजीके दर्शन करके विषय–प्रकरण – विभाग – विवेक करते हुए अध्याय विभाग किया हो, ऐसा संभव है। श्री भागवतजीमें भी, लीला है – कृष्णकी ! समाधिमें दर्शन करके अनुक्रम किया है – व्यासजीने ! ऐसे गीताजीमें बाते कृष्णार्जुनकी, दर्शन करके व्यासजीने अध्यायविभाग किया लगता है। इसलिये भी कहीं कहीं पूर्वाध्यायमें भगवानके वक्तव्यसे समाप्ति होने पर भी नूतन – अग्रिमाध्यायके आरंभमें अनुसंधान वा संगतिक लिये "**श्री भगवानुवाच**" आता है।

श्रीगीताजीके प्रत्येक अध्यायका स्वतंत्र माहात्म्य भी प्रसिद्ध है। समग्र गीताका माहात्म्य भी प्रसिद्ध है।

(२७) गीताजीमें १८ अध्यायके १८ योगसे भी अधिकायोगः

गीताजीमें प्रति अध्यायोक्त १८ योगके बिना भी और कई योगके उल्लेख दिखाइ देते हैं। १. **ज्ञानयोगः–** "**ज्ञानयोगेन सांख्यानां।**" (३–३) – ज्ञानयोगसे सांख्योंकी निष्ठा है। यहाँ सांख्यके लिये ज्ञानशब्द है। २. **ब्रह्मयोगः–** "**सब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।**" (५–२१) वह ब्रह्मयोगसे युक्तात्मा अक्षयसुख भोगता है। ३. **संन्थासयोगः–** "**संन्यासयोग युक्तामा।**" –(९–२८) संन्यासयोगसे विमुक्त मुझे प्राप्त करेगा। ४. **अविकम्पयोग ः –** "**एतां विभूतिं योगं च मम योवेत्ति तत्त्वतः। सोऽविकम्पयोगेन युजयते नात्र संशयः।**" (१०–७) जो विभूति और मेरे योगको तत्त्वतः जानता है, वह अविकम्पयोग। (अचल भक्तिरूप योग)से युक्त होता है। ५. **बुद्धियोगः–** "**तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते ।।**" (१०–१०) वे सतत युक्त, प्रीतिपूर्वक भजनेवालोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मेरी पासमें पहूँचे। (१८–५७) मैं भी बुद्धियोग कहा है। ६. **आत्मयोगः–** "**मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शित–मात्मयोगत्। तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ।।**" (११–४७) हे अर्जुन ! प्रसन्न मैंने तेरेको यह उत्तम रूप आत्मयोगसे बताया है, (जो) तेजोमय विश्व, अनन्त, आद्य, मेरा रूप तेरे बिना अन्यने पहले देखा

ही नहीं है ! ७. **ऐश्वरयोगः–** **"न तु मां शक्यसे दृष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा । दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्यमें योगमैश्वरम् ।"** (११–८) तू मुझे यही स्वनेत्रसे देख नहीं सकता, तुझे दिव्यचक्षु दता हूँ, मेरा ऐश्वरयोग देख !

८. **अभ्यासयोगः–** **"अथ चिन्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् । अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ।"** (१२–९) मेरेमें चित्त स्थिर रखनेको समर्थ तू न हो तो अभ्यासयोगसे मुझे प्राप्त करनेकी इच्छा कर ! (८–८) में भी अभ्यासयोगका उल्लेख है ।

९. **मद्योगः –** **"अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योग–माश्रितः।"** (१२–११) अगर यह भी करनेमें अशक्त हो तो मद्योग– आश्रित हो ।

१०. **ध्यानयोगः–** **"विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्काय–मानसः । ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥"** – (१८–५२) एकांतसे वी, अल्पाहारी, वाणी–शरीर–मनः – संयमी, ध्यानयोग – परायण, नित्य वैराग्यका आश्रय करनेवाला !

(२८) सर्वयोगका समन्वय – कृष्णयोग :

श्रीगीताजीके अढारह भी योग अंततः तो प्रभुके साथ संबंध जोडनेके लिये ही है । यथाधिकार प्रभुसंबंध भी कृतार्थ करता है । अढारहसे भी अधिक, कहे गये सर्व योग; श्रीभागवतजीमें कहे गये, – **"योगास्त्रयो मया प्रोक्ता"**– श्रीभागवत (११–२०–६) में, ज्ञान–कर्म– भक्तियोग भी, कुछ अंशमें चित्तवृत्ति – निरोध–रूप सेश्वरयोग भी, आखिरमें तो जीवको यथाधिकार कराते हैं – प्रत्यक्ष वा परंपरासे भी कृष्ण–संबंध! – कृष्णयोग! जीवनव्यवहार, प्रत्येक कार्य, कोई न कोई प्रकारसे, भगवान् श्रीकृष्णके साथ ही जुडा हुआ रहता है । देह– इन्द्रिय– मन– बुद्धि – स्वजन – धर्म – सबकुछ भी जुडा रहता है– कृष्णसे! सिद्ध होता है – कृष्णयोग ! कृष्णयोग न करावे ऐसा कोई भी योग किसी भी संयोगमें शास्त्र– संमत नहीं है ! वाणी–विचार–वेष – वित्त – वपु सब कृष्ण– संबंधवाले हो जाय, जीवन कृष्णप्रसन्न हो ऐसा हो जाय, यही है – कृष्णयोग ! "मेरे प्रिय कृष्ण इससे प्रसन्न होंगे ?!" – यह सोचके ही, तदनुरूप पूरा, जीवनव्यवहार बन जाय । कृष्ण प्रसन्न हो, ऐसा ही करें, कृष्ण प्रसन्न न हो ऐसा नहीं ही करें । फिर चाहे वह ज्ञान हो, वा कर्म हो, वा भक्ति हो ! वा गीतामें कहे गये योग हो ! सब कुछ प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही है । यह है – कृष्णयोग ! यह तो पूर्वकक्षा है । उत्तरकक्षा तो है – स्वयं भगवान् कृष्ण अपने आप प्रेमपरवशतासे अपनेको ऐसे भक्तके साथ जोड दें, योग–सहयोग कर दें । भगवान् भी जीवके बिना रह न सके, पीछे घूमते – झुकते – रहें, यह है – कृष्णयोग ! जहाँ शृंगाररसात्मक कृष्णका संयोग और वियोग सतत स्वानुभवसे रसमग्न रखे ! स्वयं भगवान् भी भक्तमग्न रहे ! अन्य कोई योगका इसमें सामर्थ्य है ही नहीं ! सामर्थ्य है – केवल कृपायोगका ही ! कृपासे कृष्णलीला– रसानुभव हो, परम फल है – कृष्णयोग ! सब योगोंका समन्वय स्वल्प वा – अधिक

या – पूर्णीशमें है – कृष्णयोग ! गीताके सबयोगमें खेलते हैं – योगेश्वर कृष्ण ! और उनके फलात्मक कृपायोग – कृष्णयोग – (कृष्णसंयोग – कृष्णवियोग)में विहार करते हैं – योगेश्वरेश्वर कृष्ण ! कृष्ण तो कृष्ण ही हैं । स्वेच्छासे यथाधिकार अनुभव दें । सर्वसमर्थ है – स्वयं भगवान् कृष्ण ! फल है – कृष्णयोग !

(२९) गीताकी श्लोकसंख्या :

उपलब्ध गीताजीके अढारह अध्यायमें सब मिलके श्लोक (संकलनमें बताये है) होते हैं – ७०० ! कई शतश्लोकी – सप्तश्लोकी भी गीता बताते हैं ! यथामति अभिप्राय भिन्न होते हैं ! कोई प्राचीन आचार्य विचारकादिने ऐसा विक्षेप नहीं किया है । महर्षि व्यासजीने स्वयं गीताकी श्लोकसंख्या बताई है, –

"षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः ।
अर्जुनः सप्तपंचाशत्सप्तषष्टिं तु संजय ः
धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानुमुच्यते ।" – (भीष्मपर्व– ४३–४५)

६२० श्लोक श्रीकृष्णके, ५७ श्लोक अर्जुनके, ६७ श्लोक संजयके, और एक श्लोक धृतराष्ट्रका, – यह गीताका मान (नाँप) है । कुल श्लोक हुए – ७४५ !

आज उपलब्ध गीताजीमें – ५७४ श्लोकश्रीकृष्णके, ८४ श्लोक अर्जुनके, ४१ श्लोक संजयके, १ श्लोक धृतराष्ट्रका, मिलके है – ७०० श्लोक !

श्लोक संख्या योग्य मिलानेके लिये विद्वान् लोग यत्न करते हैं । श्रीभागवतजीमें भी श्लोक संख्या १८००० नहीं मिलती है। इसलिये "अन्चितार्थप्रकाशिका " – (श्रीभागवतटीका)में एक उपाय बताया है । सब श्लोकके अक्षर मिलाके, ३२ अक्षरवाले "अनुष्टुप्" – छंदोमें विभाजित करते हैं । "अथ" – "इति" "उवाच" भी अंदर गिनकर, कुल संख्या मिलानेका प्रयत्न किया है । ऐसे गीताजीमें भी प्रयत्न तो करते हैं ! फिर भी महाभारतके श्लोकके अनुसार ७४५ श्लोक तो नहीं होते हैं ! महाभारतमें कई कूटश्लोक है, – ऐसी आख्यायिका है । ऐसा कुछ संभव है । इस विषयमें अधिक संशोधन अपेक्षित है । कृष्ण ही कृपा करें !

(३०) प्रसिद्ध– विविध गीताएँ :

श्रीमद्‌भगवद्‌गीताकी गरिमा है,– उसको प्रस्थानत्रयीमें गिनी जाती है ! इतना ही नहीं, गीताके नाम परसे अनेक गीताएँ प्रचलित हो गई ! सब धर्मग्रंथ – संप्रदाय – पुराणादिने गीताका समादर किया । सबको अपनी गीताके बिना कुछ गरिमा कम लगी ! लगता है – इसलिये विविध गीताएँ उपलब्ध हो गई! परंतु भगवद्‌गीता तो भगवानकी तरह अद्वितीय ही रही ! अपने अपने तत्त्वज्ञान – संग्रह को भी गीता नाम देना शुरू हो गया!

महाभारतके शान्तिपर्वमें मोक्षपर्व है । उसके कई प्रकरण भी **"गीता"** नामसे प्रसिद्ध हैं,– पिंगलगीता, शंपाकगीता, मंकिगीता, बोधगीता, विचख्युगीता, हारीतगीता, वृत्रगीता, पराशरगीता,

हंसगीतादि ! अश्वमेधपर्वमें अनुगीता है, उसका ही एक भाग ब्राह्मणगीता भी कहा जाता है ।

अवधूतगीता, अष्टावक्रगीता, ईश्वरगीता, उतरगीता, गणेशगीता, पांडवगीता, देवीगीता, यमगीता, ब्रह्मगीता, रामगीता, व्यासगीता, शिवगीता, सूतगीता, सूर्यगीता, कपिलगीता, भिक्षुगीतादि भी प्रसिद्ध है । कई गीता स्वतंत्र है, कई पुराणान्तर्गत है, कई अस्पष्टमूला है !

गणेशपुराणके क्रियाखंडमें अ. १३८ से १४८ गणेशगीता है। कुछ परिवर्तनके साथ भगवद्गीताकी नकल लगती है ! कूर्म पुराणके उत्तर भागमें पहले ग्यारह अध्यायमें ईश्वरगीता है । बादमें है – व्यासगीता ! स्कंदपुराणकी सूतसंहिताके चतुर्थखंडके आरंभके १ से १२ अध्याय ब्रह्मगीता है । बादमें आठ अध्यायमें सूतगीता है । योगवासिष्ठके निर्वाणप्रकरणके उत्तरार्धमें सर्ग १७३ से १८१ में भी ब्रह्मगीता है । वह अलग है – स्कांदब्रह्मगीतासे ! विष्णुपुराणमें तृतीय भागके सातवें अध्यायमें यमगीता है । अग्निपुराणके तीसरे खंडके अध्याय ३८१में भी यमगीता है । नृसिंहपुराणके आठवे अध्यायमें भी यमगीता है । अध्यात्मरामायणके उत्तरकांडके पांचवे सर्गमें रामगीता हैं । दूसरी रामगीता गुरुज्ञानवासिष्ठ – तत्त्वसारायणमें है, उसमें सूर्यगीता भी है । पद्मपुराणके पातालाखंडमें शिवगीता कही जाती है । श्रीमद्भागवतमें तृतीय स्कंधके अध्याय २५ से ३३में कपिलगीता कही जाती है । स्कंधग्यारहके अध्याय १३में हंसगीता है तथा अध्याय २३में – भिक्षुगीता है । हठयोगप्रधान कोई कपिलागीता भी कही

जाती है ! देवीभागवतमें सातवे स्कंधके अध्याय ३१ से ४० में देवीगीता है । उत्तरगीता भी कृष्णार्जुन–संवादमें किसीने बनाई लगती है ।

अवधूतगीता – अष्टावक्र गीताके मूल ज्ञात नहीं लगते हैं। एकदेशीय – संन्यास–प्रतिपादक है ! पांडवगीता– येमगीता स्तोत्र जैसी भक्ति– प्रतिपादक है । शीवगीता – ईश्वरगीता – गणेशगीतादिमें – भगवद्गीताका अनुकरण है और भी कई गीताए होंगी ! कोई भी गीता श्रीमद्भगवद्गीताके ज्ञान–कर्म–भक्तिके समन्वय, सर्वोपयोगी – जीवनदर्शन, प्रगल्भ परिपाटी, समृद्धशैली – सार्वदिक् दर्शनादिके तेजोमय सूर्यके सामने छोटेसे जुगनू जैसी लगती है !

अग्निपुराणमें तीसरे खंडके अध्याय ३८०में, गरुड–पुराणमें पूर्वखंडके अध्याय २४२में गीतासार दिया गया है । योगवासिष्ठके निर्वाणप्रकरणमें अर्जुनोपाख्यानमें भी गीतासार है ।

पद्मपुराणके उत्तरखंडमें अध्याय १७१ से १८८ भगवद्गीता – माहात्म्य है । गीताजीके प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यका एक–एक अध्याय है । वाराहपुराणमें भी गीतामाहात्म्य है ।

(३१) श्रीमद्– भगवद्–गीताके प्रतिपाद्य विषयमें विभिन्नमत :

श्रीशंकराचार्यजी श्रीगीताजीका तात्पर्य "निःश्रेयस्"– (मोक्ष)में बताते हैं । निःश्रेयसमें दो प्रकारके धर्मसाधन है, – १. काम्यनिषिद्ध– कर्मोंके त्यागपूर्वक, परमेश्वरार्पण–बुद्धिसे किये

हुए धर्मसे, बहुजन्मोंके अभ्याससे, क्रमशः निःश्रेयस् होता है । २. सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक, आत्मज्ञाननिष्ठारूप धर्मसे निःश्रेयस् शीघ्र होता है । आत्मज्ञाननिष्ठारूप विद्यात्मक धर्मसे निः श्रेयस् होता है । ज्ञानसे अज्ञानके निवृत्त होने पर मोक्ष संभव है । मोक्षप्राप्तिमें साधनरूप ज्ञानका उपदेश गीतामें है ।

श्री मधुसूदन–सरस्वतीजी निःश्रेयसमें स्पष्टता करते हैं । सच्चिदानन्द विष्णुके परमपदकी प्राप्तिके लिये समारब्ध वेद त्रिकांड हैं । वेदमें कर्म – उपासना – ज्ञान यह त्रिकांड है । गीताजीके छः छः अध्यायोंमें उनका प्रतिपादन है । कर्म और ज्ञान परस्पर विरुद्ध होनेसे दोनोंके बीचमें समन्वयरूपा उपासना एवं भक्ति है । उपासनात्मिका भक्ति त्रिविध है । १. कर्ममिश्र, २. शुद्ध और, ३. ज्ञानमिश्र । "**तत्त्वमसि**" – महावाक्यमें से शुद्ध "त्वं" पदार्थ प्रथम षट्कमें, परमानंदरूप "तत्" – पदार्थ – द्वितीय षट्कमें, उभयके एक्य रूप वाक्यार्थ–निरूपण तृतीय षट्कमें है । कर्म और ज्ञान दोनों भक्ति–मिश्र चाहिये ।

श्रीधरस्वामी बताते हैं, – तत्त्वज्ञानके अभावमें मोह–शोकसे विवेक नष्ट हो जाने पर स्वधर्म छोडके अन्यधर्म तत्पर अर्जुनको धर्मरहस्यके उपदेशसे भगवानने तारा है ।

श्रीरामानुचार्यजीके मतमें, – सकल जगतका सर्जन करके स्व–स्वरूपस्थित भगवान् नारायणने भूभारहरणके व्याजसे भक्तोंके संसार–दुःख– प्रशमनके– लिये अवतार धारण करके, परमपुरुषार्थरूप मोक्षके साधनभूत वेदान्तोक्त स्वविषयक–

ज्ञानकर्मानुगत भक्तियोग प्रकट किया । ज्ञाकर्म– समुच्चुय– सहित भक्तियोग गीतामें है ।

श्रीमध्वाचार्यजीके मतमें, – अनिष्ट रोकनेका साधन न दिखाई देने पर, वेदार्थका अज्ञान होनेसे, संसारमें क्लेश प्राप्त करते हुए, वेदमें अनधिकारी – स्त्री–शूद्रादिका भी धर्मज्ञान द्वारा मोक्ष हो, इसलिये व्यासमहर्षिजीने केवल– भगवत्स्वरूप – परोक्षार्थ – महाभारत – संहिता की । उसमें वासुदेवार्जुन– संवादरूप, समग्र महाभारतके अर्थसंग्रह रूप गीताजी पधराई । ब्रह्मपद ज्ञानके लिये यह धर्मपर्यांत है ।

श्रीनिम्बार्काचार्यजीके मतमें, – भगवानने भूमारहरणके लिये महाभारतयुद्धका निर्माण करके, उसमें स्वयं पार्थसारथि हो करके, उभय सैन्यकी मध्यमें, शोकमोहसागर–मग्न अर्जुनको उद्देश करके, सर्वमुमुक्षु भक्तों पर कृपा बरसाते हुए, ज्ञान–कर्म – उपासना त्रिकांडविषयक – सकल वेदसारभूत गीता–शास्त्रोपदेश दिया ! बंधमोक्षार्ह जीवको परब्रह्म भगवान् वासुदेवकी प्राप्तिका असाधरणहेतु अनन्यभक्ति योग है;– ऐसा साक्षात् भगवानने कहा !

श्रीमदवल्लभाचार्यजीके मतमें,– पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने सर्वकी मुक्तिके लिये अवतार लेकरके, स्वरूपसे भक्ति– प्रदान करते हुए, सात्त्विकादि त्रिविध भक्तोंके उद्धार करते हुए, सर्वधर्मशून्य कलिकालकी प्रवृत्ति देखके, आगेके कालमें जन्म लेनेवालोंके उद्धारके लिये, भक्तिजनके लिये, अर्जुनको प्रसंग–

वशात् स्वस्वरूपका उपदेश दिया । नर– स्वरूप पार्थके शोचमें हेतु है – भगवदिच्छा ! उपदेष्टा सत्यसंकल्पवाले भगवान् है। केवल अर्जुनके लिये ही अगर यह आत्मविद्याका उपदेश दिया होता तो अर्जुन राज्य और संसारसे उपरत हो जाता ! परंतु ऐसा नहीं हुआ है ! इसलिये यहाँ मुख्यतया भक्ति का ही उपदेश दिया है । लौकिकमें चित्त लगा हो तब, और प्रवृत्तिधर्ममें मन होता है तब, भगवानका तत्त्व और भक्तिमार्गका तत्त्व एकाएक नहीं दीया जाता । इसलिये शुद्ध– भक्ति ही गीता का रहस्य है । श्रीमद्‌भागवत भगवद्‌गीताके विषयोंका भाष्य है । निःसाधन (पृथक्) शरजमार्ग (भक्तिके अंगरूपमें) गीतोपदिष्ट है ।

लोकमान्य तिलकजी "**गीतारहस्य**" (कर्मयोगशास्त्र) में गीताका रहस्य कर्म–योगमें बताते हैं । गीताको भक्तिप्रधान– ज्ञानमूलक–कर्मयोग प्रतिपादक मानते हैं । पं. श्री सातवलकरजी "पुरुषार्थ–बोधिनी" में पुरुषार्थकी मुख्यता कहते हैं । श्री अरविंद घोषजी पूर्ण–परम– योगको गीतारहस्य कहते हैं ।

(३२) श्रीवाल्भमतमें गीता–साहित्य :

श्रीमद् वल्लभाचार्यजीने, – "**वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्यास–सूत्राणि चैव हि। समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ।। उत्तरं पूर्वसन्देह–वारकं परिकीर्तितम् ।**"– तत्वार्थदीप निबंध – शास्त्रार्थ प्रकरण (७,८), व्रेद, श्रीकृष्णके वाक्य, व्याससूत्र और व्यासजीकी समाधि भाषाको प्रमाणरूप माने हैं। उत्तरको पूर्वसंदेह–वारक कहा है । प्रथम प्रमाण है– **वेद** ! उसमें होती शंकाके समाधान होते है– गीताके श्रीकृष्णके वाक्योंसे! अन्यके वाक्य उनसे अविरोधी हो तो मान्य है, अन्यथा नहीं ! गीताके श्रीकृष्ण वाक्योमें होती शंकाके समाधान होते हैं– ब्रह्म सूत्रसे ! अविरोधी जैमिनीसूत्र भी प्रमाण है, सब नहीं। ब्रह्मसूत्रमें शंका हो तो समाधान होते हैं– व्यासकी समाधिभाषा– श्रीभागवतसे ! श्रीभागवतकी परमत और लौकिकी– भाषा अविरोधी हो तो प्रमाण, अन्यथा नहीं ! प्रधान प्रमाण है– श्री भागवत ! जब तक पूर्ण–ब्रह्म– ज्ञान न हो तब तक यह व्यवस्था है । पूर्ण– ज्ञानदशामें तो अविरोधी– अर्थ करनेसे सर्व प्रमाण ही है– ! ऐसे वेद–गीता–ब्रह्मसूत्र–भागवत चार प्रमाण हूऐ । उनमेंसे, वेद–गीता पर आपका स्पष्ट व्याख्यान प्राप्त नहीं है । ब्रह्मसूत्र पर अणुभाष्य तथा श्रीभागवत पर तत्त्वार्थदीपनिबंध तथा श्रीसुबोधिनी प्रसिद्ध है। श्रीभागवत तो वेदादि सबका अर्थ निर्णायक है।

श्रीतत्त्वार्थदीप निबंधके तीन प्रकरण है । **१. शास्त्रार्थ (प्रकरण)** – '**शास्त्रार्थो गीतार्थः**"– (५)– "**प्रकाश**"– टीकामें स्वयं आपने कहा है।– शास्त्रार्थ गीतार्थ है। श्री महाप्रभुजीका अभिलषित शास्त्रसंकलन यहाँ उपलब्ध होता है, अन्यत्र तो प्रसंगोपात्त है । गीताजी तो अतिसंक्षिप्त है, स्वविस्ताररूप श्रीभागवत द्वारा ही सुखबोध है। श्रीगीताजी यथार्थ समझनेके लिये श्रीभागवतजी अवश्य समझना ही चाहीये। इसलिये श्रीभागवत टीका–ग्रंथमें श्रीमहाप्रभुजीने गीतार्थका संकलन कर

लिया है। गीता शास्त्र होनेसे गीतार्थ ही शास्त्रार्थ है। शास्त्रार्थ-प्रकरण के अंतमें सर्वशास्त्र-संकलन बताया है,-

"अर्थोSयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यै-
रामायणैः सहित भारतपंचरात्रैः ।
अन्यैश्व शास्त्रवचनैः सह तत्त्वसूत्रै-
र्निणीयते सहृदयं हरिणा सदैव ।।" (१०४)

समग्रवेदवाक्योंसे, रामायणोंसे, महाभारत सहित पंचरात्रसे, ब्रह्मसूत्र सहित अन्यशास्त्र वचनोंसे जो अर्थनिर्णय हुआ है, वही अर्थ हृदयसहित श्रीहरिने सदा ही(गीताजीमें) निर्णीत किया है।

शास्त्रार्थ-प्रकरणमें सब प्रमाणोंकी एक वाक्यता (अविरोधी-एकार्थ संपादन) है। ब्रह्मवादके बिना अन्यत्र मतान्तरोंमें तो वाक्यामास हैं। सर्वकल्पमें रामायण भी यही अर्थका प्रतिपादन करते हैं। इसलिये **"रामायणैः"**- बहुवचन कहा है। महाभारत और पंचरात्र चरितप्रतिपादक होनेसे रामायणके अंग है। अन्य पुराणरूप शास्त्र और व्यासजीके ब्रह्मसूत्र, ये सभी शास्त्र प्रेमसहित ज्ञान होना चाहिये, औसा निर्णय करते हैं । ऐसे न हो तो चौदह विद्या सरस्वतीरूप होनेसे, सहृदय एकनिष्ठता नहीं होगी ।

सरस्वतीका निर्णय एक भगवानमें है, वहाँ कदाचित अन्यथा लगे तो सरस्वतीके स्वामी पोषक- प्रभुने ही ऐसा कहा हँ । प्रभुके बिना सरस्वतीका हार्द कौन जानेगा ? कोई नहीं ।

गीताजीमें जो साकार-ब्रह्मवादादि-सिद्धान्त कहे हैं, वे (ब्रह्म जीव, जगत, संसार; बंध, मोक्ष, विद्या, अविद्या, माया, भक्ति इत्यादि सब) ही यहाँ शास्त्रार्थ-प्रकरणमें हैं । स्पष्ट-निरुपण है, मुख्यसिद्धान्तका, सस्नेह कृष्णसेवाका, -

"अधुना ह्यधिकारास्तु सर्वएव गताः कलौ ।
कृष्णश्चेत्सेव्यते भक्तया कालिस्तरय फलाय हि ।। (१९)

अभी कलियुगमें सभी अधिकार चले गये हैं । अगर कृपा की सेवा भक्तिसे करें तो कलियुग फलाद है ।

सर्वेषां वेदवाक्यानां भगवद्वेव च सामपि ।
श्रौतोSसर्थो ह्ययमेव स्यादन्यः फलायो मतान्तरैः ।। (२०)

सभी वेदवाकय गीता के भगवद्वाक्यं श्रृतिका मुख्यार्थ यही है, अन्य तो मतांतरसे कल्पित है ।

कृष्णवायक्यामुसारेण शास्त्रार्थं ये वदन्ति ।
ते हि भागवताः प्रोक्ताः शुद्धास्ते ब्रह्मवादिनः ।। (२१)

गीताजीमें कहे हुए श्रीकृष्ण वाक्यके अनुसार जो वेदार्थ कहते हैं, वही शुद्ध ब्रह्मवादी भक्त है ।

लौकिक-कामना वालोंको कर्माधिकार, वैराग्य वालोंको ज्ञानाधिकार सौर वैराग्य- आसक्ति- रहित, भगवत्कथादिमें श्रद्धावालोंका अधिकार भक्तमार्गमें है । यथाधिकार मार्ग फल देते हैं । ये सब अधिकारोंका संपादन भी तो साधन के बिना नहीं होता है । इस कलियुगमें तो साधन- संपत्ति है ही नहीं।

कलि दावानलमें सब साधन भस्मसात् हो गये हैं । (कलि) कालावश ही सब अधिकार निवृत्त हो गये हैं । साधनसे सुलभ नहीं हैं यथार्थसाधन भी सुलभ नहीं हैं । पुष्टिभक्तिमार्गमें तो ऐसा नहीं हैं । भगवान् श्रीकृष्ण सर्वकी मुक्तिके लिये प्रकट हुए हैं । इसलिये वे तो प्रमेय (कृपा)बला से ही साधन या अधिकार बिना भी, फलित होगा । स्वयं कृष्ण ही फला हैं । वे ही फलप्रदान करेंगे । प्रेमसहित कृष्णसेवा ही कृतार्थ कर देती है । अगर कृष्णसेवा करे तो कलियुग उसमें फललाभ–प्रद हो जायगा । "**चेत्**" अगर, से, कृष्णसेवा की दूर्लभयता कही है । कृष्णसेवा लोकरीतिसे वा शास्त्रविधिसे नहीं, परंतु शुद्ध प्रीतिसे करनी आवश्यक है । कलियुग साधनमें बाधक है, स्नेह–सेवामें नहीं । अगर अधिकारसे अथवा अनधिकारसे भी करनी आवश्यक है– स्नेहसहित कृष्णसेवा ।

फस विषयमें सब प्रमाणोंकी एक वाक्यता है, सब एकार्थका प्रतिपादन करते है । प्रमाणोंके शब्दोंके वाक्यार्थ किया हुआ यह अर्थ है । दूसरे अर्थ मतान्तर, स्व बुद्धिकल्पित है, यथार्थ प्रतिपादक नहीं है ।

गीतोक्त कृष्णवाक्योंके अनुसार ही निःसंदेह जो लोग वेदार्थ कहते हैं– वे ही "भागवत" (भगवद् भक्त भगवानके जंगम–स्वरूप) हैं, वे ही "शुद्ध" येथोक्त कर्मज्ञानसे शुद्ध कर्म करनेवाले, वे ही "ब्रह्मवादी"– वेदोक्त ही ब्रह्मस्वरूपके स्वीकारसे ज्ञानी अथवा शुद्धब्रह्मवादी है ।

इस प्रकार शास्त्रार्थप्रकरणमें गीतार्थ स्पष्ट है । प्रमाणबलसे शास्त्रार्थ कहा है ।

२. **सर्वनिर्णय** (प्रकरण)– शास्त्रार्थ (प्रकरण)का ही विस्तार है । प्रमेयबलसे सर्वनिर्णय कहा गया है ।

२. **भागवतार्थ**– श्रीभागवतजीके स्कंध– प्रकरण अध्यायके अर्थोंकी स्पष्टता– संगति– रहस्योद्घाटनादि है । शास्त्रार्थ– तो पूर्वमें स्पष्ट कर दिया है ही । इस तरह निबंधमें श्री भागवतके चार अर्थ हैं । ये बलवत्तर है ।

श्रीसुबोधिनीमें कहे गये तीन– **वाक्यार्थ, शब्दार्थ, अक्षरार्थ,** ये दुर्बल है । निबंध समझके श्रीसुबोधिनी समझनी चाहिये । इससे श्रीभागवत– तत्त्वार्थज्ञानसे श्रीकृष्णमें परम प्रीति होती है, कृष्ण शीघ्र फलित होते हैं ।– बढती प्रीतिसे कृष्ण फल मिलता है ।

"श्रीभागवततत्त्वार्थमतो वक्ष्ये सुनिश्चितम् ।
यज्ज्ञानात् परमा प्रीतिः कृष्णं शीघ्रं फलिष्यति ।।"

–सर्वनिर्णय (३२८)

भागवतका अर्थ न जाननेसे अथवा अन्यथा जाननेसे भगवानमें भक्ति नहीं होती है ।

"एतद्धारणमात्रेण कृष्णो भवति वै धृतः ।
अर्थतस्तु परिज्ञाते ज्ञातो भक्तिं प्रयच्छति ।।"

–श्रीभागवतार्थ प्र. नि. (१०,११)

श्रीभागवत– पाठ (अर्थानुसंधानपूर्वक उच्चारण) (धारण)से, भागवततो भगवद्रूप– होनेसे, उस रूपसे निश्चित भगवान् कृष्ण ही धारण होते हैं। हृदयस्थित भगवान् जो कुछ करें, ये सब यह रूपसे करेंगे। अगर अर्थसहित– संपूर्णरूपसे– श्रीभागवत जानलें तो भक्तिका दान प्रभु कर देते हैं। ज्ञान भक्तिका अंग है। भक्ति ही मुख्य है।

प्रमाण–व्यवस्थामें श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं– "**श्रुतिः सूत्राण्येका कोटिः, गीता भागवतं– चाऽपरा स्पष्टैव ।।**" (शा.प्र.– ११) (वेद)– श्रुति– ब्रह्मसूत्र– एक कोटि है और गीता– भागवत– दूसरी कोटि है। धर्म और धर्मी के निरूपणसे, यह स्पष्ट है। श्रुति–सूत्रमें सबका अधिकार नहीं है। गीता–भागवतमें सबका श्रवणाधिकार है।

निबंधमें श्रीमहाप्रभुजी अपनेको "**इति श्रीकृष्णव्यास– विष्णुस्वामिमतवर्ति श्रीवल्लभदीक्षित.......**" लिखते हैं। शास्त्रार्थ गीतार्थ है। इससे विष्णुस्वामि– प्रतिपादित शुद्धाद्वैत –साकार ब्रह्मवाद– श्रीमहाप्रभुजीने गीताके आधारसे लिया हो। पुष्टिभक्तिमार्ग तो "**साक्षाद् भगवता प्रोक्तं। ।।**" (साक्षाद भगवानने कहा है) "सिद्धान्तरहस्यमें" कहा है, स्वतंत्र– निर्गुण भक्तिमार्ग प्रभुप्रदत्त है। विष्णुस्वामीका भक्तिमत तामस है।

शास्त्रार्थ– प्रकरणके ऊपर– "**आवरणभंग**"– "**योजना**", "**सस्नेह–भोजन**" (स्वल्पांशमें), "**टिप्पणी**" साथमें मुद्रित टीकाएँ मिलती हैं।

"**गीतार्थ– विवरण**" (गीता प्रथमाध्याका कुछ भाग) तथा "**गीता– तात्पर्यम्**"– (छोटा लेख) प्रभुचरण श्रीविठ्ठलनाथजी गुंसाईजीका प्राप्त होते हैं।

"**अमृततरंगिणी**" मुद्रित टीका गो. श्रीपुरुषोत्तमजीकी मानी जाती है। कोई मतसे, गो. श्रीव्रजरायजीकी है वा श्रीपुरुषोत्तमजीके दत्तकपुत्र श्रीपुरुषोत्तमजीकी है। उनका नाम संभवतः परंपरानुसार श्रीव्रजरायजी हो !

"**तत्त्वदीपिका**"– टीका गो. श्रीवल्लभजीकी मुद्रित है। "**रसिकरंजनी**"– टीका, श्रीकल्याण भट्टकी– उल्लेख मिलता है, "**अमृत– तरंगिणी**"का मुद्रित (हिन्दी) भाषांतर डॉ. वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदीका है। "**न्यासादेश**"– वेदांतदेशिकके २० श्लोकमेंसे एक, जिसके पर श्रीगुंसाईजी, श्रीपुरुषोत्तमजीकी टीकाए मुद्रित है। अब प्रस्तुत हो रहा है– यह– "**गीतागुंजन**"। और भी कहीं प्रसिद्ध– अप्रसिद्ध– साहित्य होगा ही !

(३३) गीतामें विचार– स्वातंत्र्य :

"**इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया । विमृश्यैत– दशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।।**" (१८–६३)

भगवानने गीतावक्तव्यका उपसंहार करते हुए कहा, इस प्रकार तुजको मैंने गुह्यसे भी गुह्यतर ज्ञान कहा। उस ज्ञानसे भक्ति होगी। ज्ञान भक्तिका अंग है। इसलिए तो बादमें – "**सर्वधर्मान्– मामेकं शरणं व्रजं ।**"– (१८–६६)– शरणागति भक्तिरूप कही है। जो कुछ कहा उनमेंसे कुछभी करानेका

आग्रह कृष्णने नहीं रखा ! श्रोताके अमुक निश्चित आचरणकी अपेक्षा नहीं की ! स्वतंत्रता बताई- विचारकी !" संपूर्णरूपसे कही हुई बातोंको सोच ! "और" तू जो इच्छता हो वही कर !" धर्म- मय- प्रलोभनसे स्थिर नहीं होता है, विचार- दृढतासे ही होता है । श्रवण- कीर्तन तो प्रायः आज बढते दिखाई देते हैं । योग्य विचार (-मनन- चिंतन) कहाँ बढते दिखाई देते हैं ?! विचार- परिवर्तनसे आचार- परिवर्तन हो जाता है । श्रीभागवतमें श्रीशुकदेवजीने भी,- "**श्रोतव्यः इच्छताऽभयम्**"। (२-१-५)- कहा है। अभयकी इच्छावालोंके लिये दशलीला विशिष्ट भगवान् (भागवत) सुनना आवश्यक है । भगवान्- भक्त- यथार्थ ज्ञानी- कभी भी भय- प्रलोभन- दबावादिसे धर्ममें किसीको नहीं जोडते हैं । वैचारिक- स्वातंत्र्यका यहाँ दिग्दर्शन कराया है- गीताजीमें !- भगवान् श्रीकृष्णने ।

(३४) कृष्ण- भ्रमर ! गीता- गुंजन ! :

"भवभयमपहन्तुं ज्ञानविज्ञानसारं
निगमकृदुपजह्रे भृंगवद् वेदसारम् ।
अमृतमुदधितश्चापाययद् भृत्यवर्गान्
पुरुषभृषममाद्यं - कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि ॥"

-श्रीभागवत (११-२९-४९)

भक्तोंके संसार- भयको दूर करनेके लिये, वेद- वेदांत- कृत्- विभुने भ्रमरकी तरह ज्ञान- विज्ञान- सार- वेदसार, निकाला ! भक्तोंको प्रदानके लिये स्वयं पासमें पधारे !

मोहिनीरूपसे शरणागत देवोंको जैसे समुद्रमंथनमेंसे निकला हुआ अमृत पिलाया, ऐसे मनमोहन- पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने यह ज्ञान- विज्ञान- सार-- वेदसाररूप अमृतका पान कराया- निज- भृत्यवर्गोंको !- सेवकोंको ! वह नाम-रूपसे प्रसिद्ध, सच्चिदानंदरूपसे सिद्ध, कृष्णको मैं नमन करता हूँ !

भगवानने अर्जुनको "ब्रह्मविद्या" - गीताजी सुनाई और उध्वजीको "ब्रह्मवाद" - भागवतजी सुनाया । भक्तिके लिये ज्ञान कहा । भक्ति ही मुख्य है, भक्तिसे भगवान् वश होते हैं । और क्या बाकी रहता है ? !

भगवान्- भ्रमर ! वेदसार- मर्यादाभक्ति ! ज्ञान- विज्ञान- सार- पुष्टिभक्ति ! पद्म- पुष्प- पर सुगंधसे आकृष्ट भ्रमर आवे- यही रस पावे ! पद्मकी सुंदरता, सुकुमारता, सुगंध, शीतलता- आदिका अनुभव तो यथासंभव सबको होता है । अंदर रहा हुआ मकरंद तो मिलता है- मात्र- भ्रमरको ! वेदमेंसे कर्म- उपासना- ज्ञान, उनके फलादि तो यथाधिकार सबको मिले, परंतु भक्ति तो केवल कृष्ण कृपासे दे तब ही मिले ! भगवान् अवतार लेकर पधारते हैं - भक्तोंके लिये ! भक्ति प्रदानके लिये । रसपानमत्त भ्रमर गुनगुनाता है- अपनी मस्तीमें। भक्तिप्रदाता भ्रमर भगवान् भक्तिरसमत्ततामें गुनगुनातें हैं । गुंजन करते हैं । "गुंजन" तो कृष्णका है । भक्ति रसमत्तताका गान है- दान है- पान है ! गान- गोविंदका ! पान- पार्थका ! दान दुनीआको !- दैवीजीवोंको । कृष्ण- भ्रमरका गुंजन- है- गीता ! कृष्ण- भ्रमरका गुंजन है- भागवत !

'गुंजन"– कृष्णका ! किया– कृष्णने ! दिया–
निजमृयवर्गको !" :

शरण– समर्पण– रूप– नमनके बिना क्या हो सके? ! सदैन्य नमन ही करता हूँ– मेरे कृपाकोविद् कृष्णको ! भक्तिरसमत्त भ्रमर भगवानका है– यह "गीता– गुंजन ।" प्रदान है– निजमृत्यवर्गको ! व्रजमें होता है– **वेणुनाद** ! यहाँ होता है– **वाणीनाद** !

सूक्ति स्मरता हूँ– स्नेहसान्द्र श्रीगुंसाईजीकी–

न स्वाध्यायबलं न योगजबलं नो वा तपस्याबलं
नो वैराग्यबलं न योगजबलं नाप्युक्तभक्ते र्बलम् ।
नैव ज्ञानबलं न चान्यदपि यत्किंचिद्बलं मेऽस्ति किं
त्वद्य श्वोऽपि यदा तदा तव कृपाकूतेक्षणं मे बलम् ॥"

स्वाध्यायका बल मुझे नहीं है, यज्ञसे उत्पन्न होता पुण्यबल नहीं है, तपोबल नहीं है, वैराग्यबल नहीं है, योगजबल– सिद्धि– नहीं है, विहित– भक्तिबल नहीं ही है, ज्ञानबल नहीं ही है, और कुछ भी बल मेरा नहीं है, कुछ बल मेरा है– आज– कल– कभी भी– आपके कृपाकटाक्ष ही मेरा बल है !!! – '

"व्रजविहार"
मोटीपोल, मोदीसांथ,
नडीआद (३८७ ००१)

कृपाभिलाषी
नवनीतप्रिय शास्त्री

अक्षरादपि चोत्तमः, प्रथितः पुरुषोत्तमः, दोग्धा गोपालनन्दनः

श्रीहरिः

श्रीमद्भगवद्गीता
गुंजन

अध्याय–१ : अर्जुन –विषादयोग : श्लोक–४७ :

अद्भुतगीता–गानः

श्रीमद्भगवद्गीता गान है– गोविन्दका, पान है–पार्थका, दान है–दुनीआको ! अद्भुतकर्मा कृष्णने कृतार्थ कर दिया–कौन्तेयको ! करुणावरुणालय– कृपाकल्पतरु–कृष्णने कोई ऋषि–मुनि–संत–महंत–संसारी–कर्मठ–ज्ञानीको गीता नहीं सुनाई ! सुनाई है– अपने अर्जुनको ! कोई सात्त्विक–वन–तीर्थादि –शान्त–स्थलमें नहीं सुनाई ! सुनाई है–युद्धभूमिमें ! कोई शांतिकी क्षणोमें नहीं सुनाई ! सुनाई है– युद्धारंभकी उत्तेजनामें ! उत्साह–आनंदसे भरे अर्जुनको नहीं सुनाई ! सुनाई है– उद्विग्न अर्जुनको ! युद्धभूमिमें सर्वधर्मज्ञ समर्थ पितामह भीष्मजी, धर्मशील हरिदास धर्मराजा युधिष्ठिरजी–प्रभृति उपस्थित हैं, इन सबको बुलाकर, धर्मसभा बना कर, कथा नहीं की कृष्णने ! ऐसी प्रथा छोड कर, व्यथासे भरे, अकेले अपने अर्जुनको आत्मविद्या दे दी !

असाधनको साधन बनाना ही अद्भुत है । यहाँ समय–स्थान आत्मविद्याके अनुरूप साधन न होने पर भी साधन बना दिये–अद्भुतकर्मा कृष्णने ! अधर्मी ढोंगी धृतराष्ट्रके वाक्यसे गीताका आरंभ कराया, धर्म्य–संवाद किया,

धर्मसंमूढचेता अर्जुनसे !

धृतराष्ट्रका श्रवण :

" **धृतं राष्ट्रं येन सः धृतराष्ट्रः ।** " अन्यका–अपने भाईका– राज्य छीन लिया, भाईके सुयोग्य बेटोंको वापस नहीं लौटाया, अपने बेटोंके अनाचार–अनर्थको मोहवश चला लेता रहा–धृतराष्ट्र ! उसको युद्ध–समाचारके बहाने गीता सुननेका सौभाग्य मिला था । पूछता है वह, व्यासप्रसाद–प्राप्त संजयको–

" **धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।**
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥ "

धृतराष्ट्र जैसेको भी गीता सुननेकी परिस्थितिमें रख दिया है– कृपालु कृष्णने ! गीता सुनकर कोई परिवर्तन नहीं आया लगता है– धृतराष्ट्रमें ! क्योंकि उसका ध्येय गीताश्रवण नहीं था । ध्येय था–मात्र युद्धसमाचार जाननेका ! इससे उचित रीतिसे सूचित कर दिया सबको,– ध्येयरहित वा अन्यध्येयसे, अश्रद्धा या उपेक्षासे, गीता–सेवनसे विशेषलाभ नहीं होता है । लाभ होता है– बुद्धिपूर्वक निश्चितध्येयसे श्रद्धासहित सेवन करने पर !

धृतराष्ट्र जानता है–अपने बेटोंको ! फिर भी अंतरकी गहराईमें ईच्छा है कि युद्ध न हो ! शायद बेटों पर धर्मक्षेत्रकी पवित्रताकी कुछ असर हो । बेटों पर असर हो तो ठीक, परंतु धर्मपरायण पांडव पर तो असर होगी, वे युद्ध न करें । धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र भी है । उसके पूर्वज कुरुराजा वहाँ खेती करते थे । राज्यकी आमदनीसे अपना गुजारा नहीं करते थे । प्रजाके पैसेसे मोज–मजा नहीं करते थे । राजा होने पर भी श्रम करके निर्दोष–द्रव्यसे जीवन निर्वाह करते थे । कई राजा प्राचीनकालमें प्रजाके पैसेसे जीवन–निर्वाह नहीं करते थे । इतिहासमें प्रसिद्ध है, – कोई टोपी सीता था, कोई धर्मग्रंथकी प्रतिलिपि (नकल) करता था । यह सोचके आजके कहलाते हुए प्रतिनिधि–सत्तावाले लोग, परंपागत हक्क न होने पर भी, प्रजाके पैसेसे अमन–चमन करना कब छोडेंगे ? भ्रष्टाचार तब ही जायगा । वह कुरुराजा जहाँ खेती करता था, जो उसका खेत–क्षेत्र–था, वही कुरुक्षेत्र है । वहाँ ऐसे पूर्वजके पुण्यसे, स्थानकी पवित्रतासे, पांडवोंकी स्वाभाविक धर्मरुचिसे, युद्ध न भी हो ! इस लालसासे पूछता है, – " **धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे किमकुर्वत।** "– धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें क्या किया ?! अधर्मी आदमी भी अंतमें कहीं भी आशा न रहने पर, धर्मकी असरोंसे अपना मनमाना हो जाय, एसा चाहता है । लोक–लालसासे मनकी यह कोई स्वार्थवश दुर्बलता होगी ! या मनकी गह्हराईमें छिपी हुई–धर्मश्रद्धा !

धृतराष्ट्र आंखसे तो अन्धा था ही, परंतु जीवन–विवेक भी उसमें नहीं था । स्वार्थान्ध भी था । ऐसे संसारीका स्वार्थ धर्मसे होता है तो वह धर्म करेगा, अधर्मसे होता है तो अधर्म करेगा ! उसका लगाव न धर्मसे है,– न अधर्मसे । उसका दृढ लगाव है– स्वार्थसे । स्वार्थान्धता, जीवनविवेक– हीनता, उसको यथार्थ रूपमें स्वार्थ क्या है ? –वह, सोचने भी नहीं देती ।

मानवका यथार्थ स्वार्थ :

" **एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः ।**
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम् ॥ "

–श्रीभागवत (७–७–५५)

इस लोकमें प्रयत्न–परायण मानवका परम स्वार्थ इतना ही माना गया है,– भक्तवत्सल भगवान् गोविन्दमें अनन्य – एकान्त–भक्ति, जिससे सर्वत्र उनके दर्शन हो । सर्वत्र भगवद्–दर्शनसे कहीं पर द्वेष नहीं होगा, तो क्लेश लेश नहीं रहेगा । अन्यके दोष नहीं देखेंगे तो रोष नहीं होगा । संतोष चला नहीं जायेगा । अपनी मनःशांति, संमुखता, आनंद, प्रसन्नता बने रहेंगे । इसके लिए भगवानकी भक्ति एकांतमें करनी चाहिए– प्रकटरूपमें नहीं, भक्तिके प्रदर्शन नहीं । अनन्यता अपने प्रभुमें रहनी चाहिये, कोई अपेक्षा वा भयसे अन्यत्र भटकना नहीं चाहिये । स्थिरता –निष्ठा अपने प्रभुमें बनी रहनी चाहिए । यही तो मानवका परम स्वार्थ है ।

स्वमान्यतासे अनर्थ :

परंतु यह समझ न होनेसे , संकुचित समझसे, अनर्थको ही स्वार्थ लोग मान बैठते हैं । व्यर्थमे जीवन फेंक देते हैं। स्वार्थवश धर्म–अधर्म सबकुछ जानबुझके करते रहते हैं । कहते है–जिसमें धृतराष्ट्र–वृत्ति स्पष्ट दिखती है,– "जानामि **धर्मं न घ मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः । केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥** "–मैं धर्मको जानता हूं, परंतु उसका आचरण

नहीं करता हूँ । अधर्मको जानता हूँ, परंतु उससे रुकता नहीं हूं । अपने लौकिक –(अनुकूलता)– लाभको ही स्वार्थ मानकर, उसके लिये ही लगातार लगा रहता हूँ, –धर्ममें वा अधर्ममें, जिससे भी मेरा यह स्वार्थ सिद्ध हो जाय । इसमें मेरा क्या दोष है ? हृदयमें रहे हुए देव जैसा कराते हैं. ऐसा कर देता हूं ! आजकल लोग कहते हैं ! "–भगवान् करावे वैसा होता है । क्या करें ! कृपा होगी तब होगा । भगवदिच्छा होती है, – वैसा ही होता है ।" सिद्धान्ततः तो यह सब ठीक है, परंतु निष्ठा न होनेसे तो वाणी–विलास–मात्र है । संसारीका तो संसरण अपनी ही मान्यताओंमें होता रहता है । निष्ठा न होनेसे निष्फलता ही मिलती है । एक धृतराष्ट्रके कारण एक महाभारत–युद्ध हुआ । आज प्रायः सर्वत्र धृतराष्ट्र–वृत्ति–व्यवहार होनेसे "महाभारत " ही सर्वत्र दिखाई देता है ।

निर्णायक–युद्धः

पांडव–कौरव सब इकट्ठे हुए है,–युद्धके लिये !

" **समवेता युयुत्सवः** ।" सामान्यतः युद्ध तो क्षत्रियोंको स्वाभाविक होता ही रहता है । कौरव–पांडव (अर्जुन) विराट–नगरमें लडे भी थे, परंतु अभी तो निर्णायक–युद्ध हो रहा था ! राज्यके लिये मरना–मारना हो गया था । दोनों पक्षोंमेंसे किसी एकका पराजय ही नहीं, प्राण जानेकी निश्चित परिस्थिति थी । इसलिये प्रसंग विशेष उत्तेजक था । इस कारण धृतराष्ट्र उत्कंठासे संजयकी प्रतीक्षा करता था– समाचार युद्धके पूछता था । इकट्ठे हुए थे सब–ऐसे

निर्णायक–युद्धकी ईच्छासे !

जीवनका क्लेशबीज :

जीवनमें "महाभारत" और "भागवत":

" मामकाः पाण्डवाश्चैव " –मेरे और पाण्डुके पुत्र युद्धेच्छासे एकत्रित हुए हैं ! ऐसा धृतराष्ट्र पूछता है । यही सूचित करता है, कि इसके मनमें ही "मेरा –तेरा" बहुत दृढतासे बैठा है । " मैं और मेरा ", " तू और तेरा " तो संसार है । संसार संताप कराता है । धृतराष्ट्रके मनमें यह भेदभाव है, जो जीवनभर उसके व्यवहारमें मूर्त होता रहा है । आज वाणीमें व्यक्त हो गया है । यही भेदभाव हो गया है – क्लेशबीज । " **मम मम इति कथयन्तीति मामका :**। "–मेरा मेरा कहते हैं ! वे "**मामका :** " है ।

राज्य तो पाण्डुने बढाया, बचपनमें पांडवोको छोडकर पांडु तो चलबसे । धृतराष्ट्रके पास राज्यका दौर आया । उसने पांडवोंका हक्क डूबाया । छलप्रपंचसे पांडवोंको दुःख देनेका प्रयत्न करता रहा, दुर्योधनादिके प्रयत्नोको मौन सहयोग देता रहा । क्रमशः बढते हुए क्लेशबीजमेंसे विनाशक युद्ध आ पडा ! भाई नहीं है, उनके बेटे अपने मानने चाहिये, अधिक स्नेह देकर सम्हालने चाहिये । वह नहीं किया । स्नेह नहीं हो तो संघर्ष होता है । द्वेष हो तो क्लेश होता है । भेदसे खेद होता है । "महाभारत" –युद्ध उद्वेगप्रद आ गया !

श्रीभागवतमें है,–श्रीनन्दबाबाके यहाँ गर्गाचार्यजी आये । उनको नामकरण–संस्कार करानेकी विनती करते हुए, बाबा

नन्दने कहा–" त्वं हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठः संस्कारान् कर्तुमर्हसि । बालयोरनयोर्नृणां जन्मना ब्राह्मणो गुरुः । "–आप वेदज्ञोंमें श्रेष्ठ हों । इन दोनों बालकोंके संस्कार करने योग्य हो । ब्राह्मण हंमेशा गुरु है । –(१०–८–६)

श्रीनन्दजीके घरमें, वसुदेवजीके पुत्र बलराम और अपने पुत्र कृष्ण, दो बालक हैं । नन्दजीने " मेरे और वसुदेवजीके पुत्रके संस्कार करो "– ऐसा नहीं कहा है । " मेरा– तेरा " नही था, तो संसार–संताप भी नहीं था । नन्दजीने तो, " ये दो बालक "–कहा है , जो मनमें था । इसमें भी अपने घरमें तो अपना वेटा कृष्ण ही है, फिर भी बलरामजी बडे होनेसे उनके संस्कार प्रथम करवाये, बादमें कृष्णके ! यहाँ भेदभाव नहीं है । समानदृष्टि है, इसलिये " भागवत " – भगवत्संबंध–है, आनंद–मंगल है ।

अयोग्य द्रव्य– अधःपतनका कारण :

धृतराष्ट्रने अन्याय–अनर्थ–के राज्य–द्रव्यसे अपने बेटोंका पोषण किया, यह ही हो गया उनके लिये सत्त्वका शोषण ! संतोनोंको उन्नत बनाना चाहते हुए माँ–बाप अपने संतानोका पोषण रीति–नीति–प्रीतिसे प्राप्त द्रव्यसे करें, यह हितावह है । कौरवोंके पतनमें–विनाशमें–धृतराष्ट्रकी दांभिकता ही उत्तरदायिनी है । धर्मका दिखावा–बातें करता रहा धृतराष्ट्र, व्यवहार–वर्तन तो अधर्मानुरूप ही रहे ! बाहरसें अच्छा–उजाला, अंदरसे बुरा–अंधेरा ! माता–पिताका सिद्धान्तरहित, आदर्शहीन, शास्त्रशिथिल, आचारविहीन जीवन ही बच्चोंके जीवनकी बरबादीकी नींव हो जाता है । जिसको

जन्मदिया है,उसको पुनः जन्म न लेना पडे ऐसे संस्कार-साधन देनेका उत्तरदायित्व जन्म देनावालोंका है । सत्ताके शिखर (चौटी) पर हो या संपत्ति-साधन-सुविधाके ढेर पर हो, अरीति अनीति, अप्रीतिसे सिद्धान्त-संयम-शून्यता अधःपतन ही कराती है ।

दुर्योधनकी धृष्टता :

धृतराष्ट्रके प्रश्नसे, व्यासजीकी कृपासे, दूरश्रवण-दूरदर्शन-सिद्धिलब्ध संजयने युद्धभूमि-प्रसंग-वर्णन शुरु कर दिया । पाण्डवोंकी व्यूहबद्ध सेनाको देखकर दुर्योधन आचार्य द्रोणके पास गया । " **राजा वचनमब्रवीत्** "-राजाने कहा । अभिमान और युद्धोत्तेजनासे विह्वल, दुर्योधन शिष्यभावसे गुरुको वन्दनका विवेक भी नहीं करता है ! सत्ता-संपत्ति तो स्थान -सन्मान लेना चाहते हैं, दे नहीं सकते हैं । गुरुको युद्धमें प्रोत्साहित करनेके लिये, अर्जुनके प्रति वात्सल्यवश पक्षपात न करे इसलिए, धृष्टतासे राजोचित कूटनीतिसे कहता है,-

" **पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।**
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥ "

हे आचार्य ! पाण्डुपुत्रोंकी यह बडी सेनाको देखो, (जो) आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नने व्यूहबद्ध की है ।

महाभारतका युद्ध कौरव-पांडवोंके बीच नहीं हुआ है :

महाभारत-युद्धमें पांडवसेनापति धृष्टद्युम्न है, अर्जुन वा भीम नहीं । महाभारत-युद्ध कौरव-पाण्डवोंके बीच नहीं हुआ है । महर्षि व्यासजीने श्रीभागवतमें "वेद्यं वास्तवं वस्तु", "सत्यं परं " कहनेकी प्रतिज्ञा की है । वे बताते हैं- ।

" **यदा मृधे कौरवसृंजयानां वीरेष्वथो वीरगतिं गतेषु ।**
वृकोदराविद्ध-गदाभिमर्श-भग्नोरुदण्डे धृतराष्ट्रपुत्रे ॥
-(१-७-१३)

महाभारतका युद्ध कौरव-पाण्डवके बीचमें हुआ था, ऐसी मान्यता तो सर्वसामान्य है, -वास्तवमें यह युद्ध हुआ है - कौरवों-सृंजयोंके बीचमें ! धर्मराज युधिष्ठिर तो युद्ध नहीं ही चाहते थे । संधिके लिए स्वयं भगवान् श्रीकृष्णको भेजे थे-कौरवोंके पास ! अद्भुतकर्मा कृष्ण तो लेने गये थे सन्धि और ले आये विग्रह ! दुर्योधनने धृष्टतासे कह दिया था,- " सुईके अग्रभाग जितनी भी जमीन युद्धके बिना नहीं मिलेगी । " तब तो युद्ध छिडके ही रहा ! फिर भी युधिष्ठिर युद्ध नहीं चाहते थे ! तब द्रुपदराजाने युद्धका ध्वज उठाया- अपनी बेटी द्रौपदीके अपमानका बदला लेनेकेलिये लडनेका तय कर लिया । अब वो पाण्डवोंको पत्नीके अपमानादिके लिये युद्धमें बरबस भी घसीट जाना पडा ! युद्ध द्रुपदने छेडा, इसलिये तो सेनापति उसका पुत्र धृष्टद्युम्न था,- अर्जुन या भीम नहीं । द्रुपद राजा था- सृंजयवंशका । इसलिये महाभारतका महायुद्ध हुआ-कौरव-सृंजयोंके बीच, वह वास्तव है- वेद्य हैं । पांडव भी कुरुराजाके वंशमें होनेसे वे भी कौरव तो कहे जा सकते हैं ।

दुर्योधनकी कूटनीति :

यह राजा द्रुपद आचार्य द्रोणका सतीर्थ्य (सहाध्यायी) था । गुरुकुलमें साथमें सस्नेह रहते थे । द्रुपदने द्रोणको

आधा राज्य देनेका बचन दिया था । द्रौण गृहस्थाश्रममें दारिद्रयसे दुःखी हो गये । बालक अश्वत्थामा को पीलानेका दूध नहीं था । पानीमें आटा मिलाके पिलाना पडा ! बच्चाने आक्रोश–से ईन्कार कर दिया । तब हृदयवेदना असह्य होनेसे द्रोण बालमित्र द्रुपदकी पास आये । आधा राज्य देनेका याद कराके, गाय मांगी । द्रुपदने कठोरतासे साफ इन्कार कर दिया । द्रोणका हृदय छिन्न भिन्न हो गया । हस्तिनापुरमें आये । खेलते हुए राजकुमारोंकी गेंद अद्भुत धनुर्विद्यासे सूखे कूपमेंसे बहार निकाल दी । भीष्मजीने यह नैपुण्यसे उसको राजकुमारोके आचार्य बनाये । धृष्टद्युम्न भी द्रोणसे पढा था । पाण्डुपुत्र भी शिष्य ! और धृष्टद्युम्न भी शिष्य ! आपके शिष्य आपके सामने है ! दोनों आचार्यके सामने ! दुर्योधन पूर्ववैर याद कराता है– द्रोणको । कूट–नीतिसे मीठे–निर्दोष लगते शब्दोंमें मर्म भेदक बोलते हैं,– व्यवहारविज्ञ कूटराजनीतिज्ञ ! वैरकी यादसे द्रोणाचार्यजीको प्रबलतासे युद्धप्रवृत्त कराना चाहता है,– दुर्योधन ।

उभय सेना–परिमाण :

दुर्योधनने पांडवसैन्यके अग्रणी गिनाये । अपने सैन्यके भी गिनाये ।और " **मदर्थे त्यक्तजीविता :** । " (९) बोला । "मेरे लिये त्याग दिये हैं जीवन (आशादि) जिन्होंने"–कह कर अज्ञातरूपमें भी अनायास ही, युद्धमें सब मरनेवाले हैं, ऐसा व्यक्त कर दिया है । अपनी सेना उसको "**अपर्याप्त**" अपूर्ण–अपरिमित (अत्यधिक) लगी–विजयके लिये ! "**पर्याप्त**"–पूर्ण, परिमित–लगी पांडवोंकी सेना ! कौरवोकी सेना ११ अक्षौहिणी और पांडवोंकी ७ अक्षौहिणी है । एक अक्षौहिणीमें २१८७० रथ, २१८७० गज, १०९३५० नर, ६५६१० अश्व, होते हैं । मिलके २१८७०० होते हैं । "भीष्मकी सब रक्षा करें"–कहा । यह सुनते ही पितामह भीष्मने सिंहनाद एवं शंखनाद किया– दुर्योधनको हर्ष देने के लिये ! उपरसे दुर्योधन उत्साहमें लगता था, अंदरसे तो हतोत्साह था इसलिये भीष्मने उसको हर्ष देना चाहा । हतोत्साह–गतोत्साह व्यक्ति उन्नत– सफल नहीं हो सकता है । सर्वत्र वाद्य बजे । तुमुल ध्वनि हुआ ।

युद्धभूमिमें माधव–पाडव–प्रवेशः

तब श्वेत अश्ववाले बडे रथमें बैठे हुए माधव–पांडव आये । प्रभुने अर्जुनको खांडवचन–दहन–प्रसंगमें अग्नि द्वारा दिव्य अश्व–रथ–गांडीव धनुष्य–दो अक्षय तूणीर–दिये हैं । अर्जुनके रथका नाम है – "**नन्दिघोष**" । यहाँ कृष्णको "**माधव**" – "**मा**" –लक्ष्मी, "**धव**" :–पति, कहा है, लक्ष्मीपति हो वहाँ ही सती लक्ष्मीजी पधारती है । विजयलक्ष्मी–राज्यलक्ष्मी कृष्णके होनेसे पांडवोको ही मिलने वाली है । यह स्पष्ट –स्वाभाविक है । अर्जुनके अश्व श्वेत हैं, निर्मल होते हुए तमोगुण–सूचक है । तमोगुणसे ही शोक–विषाद–अज्ञान छा जाता है ।

अद्भुतकर्मा कृष्ण :

भगवान् श्रीकृष्णने पांचजन्य–शंख बजाया । भगवानके चार आयुध प्रसिद्ध है, – शंख, चक्र, गदा, पद्म ! महाभारतके युद्धमें भगवानकी प्रतिज्ञा तो हाथमें हथियार न

लेने की थी । यहाँ तो युद्धारंभमें ही आयुध शंख लेकर आये हैं– बजाते भी है !! अद्‌भुतकर्मा हैं–कृष्ण ! अर्जुन शत्रुसैन्यको देखकर विषाद करने लगा, तब भगवान् तो भक्तहित करते हुए, शत्रुसैनिकोंकी आयुको अपनी तीक्ष्णदृष्टिसे छीन ले रहे हैं ! " सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये, निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य । स्थितवति परसैनिकायुरक्ष्णा, हृतवति पार्थसखे रतिर्ममास्तु ॥ "– श्रीभागवत (१–९ –३५) –मित्र अर्जुनके वचन सुनते ही स्व–पर–सैन्यके बीचमें रथको लेजाकर खडे हुए, शत्रुसैनिकोंकी आयुको अपने नेत्रसे हर लेनेवाले पार्थमित्र (कृष्ण)में मेरी रति हो । " हाथमें आयुध नहीं लिये, तो आखमें लिये !! भक्तोंके लिये भगवान् क्या नहीं करते हैं ? है न अद्‌भुतकर्म ?! भीष्मकी प्रतिज्ञा थी, महाभारतके युद्धमें कृष्णको हथियार हाथमें लिवानेकी ! भगवान् युद्धके दिवस ६–९– को, दो दफा, भक्तहितके लिये, रथचक्र घरके– स्वप्रतिज्ञा छोडकर चले,–भीष्मके सामने ! केसरी वस्त्र छा गया पूरे कुरुक्षेत्रमें ! भक्तहितके लिये भक्तवत्सल भगवान् क्या नहीं करते हैं ? अद्‌भुतकर्मा है न !! भगवानका पांचजन्य–ध्वनि पंचजन–पंचोंकी–जनताकी आवाज है ।

भगवानके शंखनादके बाद सबने अपने अपने शंख बजाये । तुमुल (एकत्रित–भयंकर) घोष हुआ । युद्धारंभमें ही धृतराष्ट्र– पुत्रोंके हृदय विदीर्ण कर दिये ! शस्त्रसंपातकी क्षणोंमें अर्जुनने अपना रथ दोनों सैन्योंके बीचमें लेजाकर खडा करनेको कृष्णसे कहा ।

भक्तवत्सल भगवान् :

स्नेहवश–स्वेच्छासे भक्तवत्सल भगवान् बने हैं, –पार्थसारथि ! –सारथ्यकर्म करनेका स्वीकार कर लिया है ! स्वभक्त–कार्य तो कृष्ण बहुत प्रेमसे करते हैं । आत्मद है–भगवान् ! अपनी आत्माका भी दान भक्तोंको कर देते हैं । फिर वह आत्मा–स्वरूपका उपयोग भक्त कैसे भी करे । लीलामात्रमें करोडों ब्रह्माडोंके संचालक कृष्ण आज रथके चालक बने हैं ! स्नेहमें समर्पण– सहिष्णुता– संताप स्वाभाविक होते हैं ! भक्तोंके शरीर–रथ, इन्द्रिय–अश्व, मन–बागडोर, बुद्धि–सारथि है । भगवान् ही भक्तजीवन रथके संचालनमें सारथि हो जाते हैं । भक्तजीवनमें तो भगवान् देहेन्द्रियमन–बुद्धि को स्वयं स्वेच्छासे चलाते हैं ! प्रेरणा दिया करते हैं । बुद्धि कर्मानुसारिणी मिलती है । प्रभु प्रेरक होते हैं, तो सन्मार्गमें संपूर्ण सफलता सुलभ हो जाती है ।

अर्जुनकी सूचनानुसार भगवानने तटस्थ विचारके लिये रथ दोनों सैन्यके बीचमें खडा कर दिया । भगवानने कोई भी तर्क–वितर्क–उपदेश–आदेश नहीं किये । सबसे बडा भगवान् संपूर्ण निरहंकारी– आज्ञापालक–विनम्र हो सकता है ! बडे स्थानसे बडा, छोटे स्थानसे छोटा, तो कोई संसारी होता है ! महापुरुष नहीं ! महापुरुषोंकी क्रियासिद्धि तो सत्त्वमें है, अपने सामर्थ्यमें है, अपने दृढ मनोबलमें है, अपने उत्साहमें हैं ।

अर्जुनकी विकलता :

अर्जुनने उभय सैन्यमें स्वजनको देखे । युद्धोत्साहसे भरा

वीर अर्जुन विकल हो गया ! विषाद हृदयमें उभर आया । हृदयमें नहीं रह सकता ! विषाद बहार आया । परिणाम दिखाये– १. अंग शिथिल हो गये. २. मुखशोष हुआ, ३. शरीरमें कंप हुआ, ४. रोमांच हुए ! ५. गांडीव हाथमेंसे सरकने लगा, ६. चमडी जलने लगी, ७. खडा न रह सका और मन भ्रमित जैसा हो गया । मनकी असर तनमें स्पष्ट होती है । वीरको भी वही हुआ ।

युद्धमेंमें स्वजनको मारनेमें कल्याण तो नहीं लगा । विजयकी–राज्यकी–स्पृहा निकल गई ! " जिनके लिये राज्य–सुखादि–चाहिये, ये तो सब स्वजन जीवनकी आशा छोडके युद्धमें खडे हैं ! उन सबको मारनेसे तो दोष होता है । स्वजनको मारके सुखी कैसे हो ?! लोभसे चित्त अपहृत हो जाता है,–विचार–विवेक विदा हो जाते हैं । कौरव तो लोभसे कुलक्षयमें दोष न देखें, तो हमको भी नहीं देखना ?! सब अपनी अपनी बुद्धिसे सोचते हैं । जिसको जो शोभास्पद लगे वह करे । कुलक्षयमें कुलधर्म नष्ट हो जाय, अधर्म हो जाय, कुलस्त्रियाँ दुषित हो जाय । स्त्रियां ही अपने स्नेह– सहिष्णुता–समर्पणसे कुलका कल्याण कर देती हैं । स्त्रीदोषसे वर्णसंकर प्रजा होती है । धर्मनाशसे नरकवास नियत हो जाता है । राज्यलोभसे स्वजनवधमें हम प्रवृत्त हो गये ? मैं प्रतिकार नहीं करूँगा, धार्तराष्ट्र भले मुझे मार दे !"

अर्जुन कार्यसे पहले बुद्धिसे परिणामका विचार करता है । अविचारी कर्मसे तो उद्वेग ही होता है । अर्जुन तो शोक संविग्न हो करके, शस्त्र छोडके, रथमें बैठ गया !

कृष्णकृपासे भक्तविषाद–विषादयोग : विषादयोग– फलः अद्भुतकर्मा भगवानकी अद्भुतता है,– युद्धोत्साही अर्जुनको विषादग्रस्त बना दिया ! भगवदीयको ही विषाद भगवान् कराते हैं । काल–कर्म–स्वभावादिसे प्रसंगवशांत् आया हुआ विषाद तो विमुख बनाता है, कृपाजन्य विषाद तो प्रभुसंमुख कर देता है । क्षत्रियधर्मसे अर्जुन स्वतः युद्ध करे तो राज्य–भोगसे अंतमें नरक मिले । भगवादाज्ञासे युद्ध करे तो, आज्ञापालन–रूप सेवाके फल–रूप मिला हुआ, राज्यभोग भी प्रसाद–रूप हो जाय । यह बाधक नहीं है । सामान्य तो त्याग कराके मोक्ष दे, सर्वसमर्थ भगवान् तो अपने भक्तोंको भोग कराके भी मोक्ष दे देते हैं ! यही तो कृपा है– पुष्टि है । अर्जुनका प्रभुप्रेरित यह विषाद भी योग है ! विषाद तो विकल बनाता है– विमुख कर देता है । भगवानसे संबंधित विषाद तो विषादयोग हो जाता है ! उपयोग उसका भगवत्कार्यमें होता है । लोकसंबंध और वेद–धर्म–संबंध दोनोंकी आसक्ति– दोनोंमें जुटा अहंकार– अर्जुनको दोनोंसे विपरीत युद्धमें विकल कर देते हैं । आसक्ति और अहंकार होने से लोक–वेद धर्मका उल्लंघन ही आर्त–उदिग्न–बनाता है, करुणाविष्ट हो जाता है । यहाँ इस दर्शनसे है– उपोद्घात–गीतोपदेशका ! यह संगति है । भगवानने युद्धको कर्तव्य बताया है । इसलिये अधर्म नहीं है । आज्ञापालन ही सेवा है ।

व्यासजी भी वेदविभाग, महाभारत– रचना, ब्रह्मसूत्र–ग्रंथनके बाद भी खिन्न थे ! भक्त नारदसत्संगसे भक्तियोग–समाधिमें श्रीभागवत मिला ! क्रौंच–युगलमेंसे

एकके विद्ध हो जाने पर, अन्यका दारुण रुदन सहन न होनेसे, व्याकुल वाल्मीकिके मुखसे– " **मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः** – " श्लोक निकल गया ! विकलतामें ब्रह्माजीके कहनेसे की हुइ समाधिमें श्रीरामायण– दर्शन मिला ।

भगवद् भक्तोंके विषादमेंसे ही विश्वको कृतार्थ करनेवाले रामायण, गीताजी, भागवतजी मिले हैं । वेंद भी भगवानके निःश्वास है ! अपने अंशरूप जीवोंको मायामोहित देख कर, खेद होनेसे, भगवानने यथार्थज्ञानसे, भक्तिसे, अनर्थो– पशम्के लिये वेद प्रकट किये । ब्रह्मसूत्र भी व्यासजीने खेदमें बनाये हैं । भगवद्– भक्तोंका विषाद भी वरदान हो जाता है– विश्वहितके लिये !

अध्याय–२ : सांख्ययोगः श्लोक– ७२ :

आनंदमय भगवान् कराते हैं– उद्वेग भी :

आनंदमय भगवानकी लीला भी आनंदप्रचुर है । आनंद तो देती ही है, परंतु उद्वेग भी कराते हैं,–भगवान् ही ! यह भी हरिकी ऐसी ही लीला है, भक्तको काल–कर्म–स्वभावादि उद्वेग नहीं कराते हैं । कराते हैं– स्वयं भगवान् ! अद्भुतलीला है, अदभुतकर्मा कृष्णकी " **चितोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति । तथैव लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥**" –"नवरत्न" । आनंदमय भगवान् कराते हैं,– उद्वेग भी ! यह भी लीला है ! है तो लीला, परंतु यह समझना, – यह समझ मनमें स्थिर करना, – यह स्थिर समझसे निश्‍िंचत–शांत–स्वस्थ–प्रसन्न रहना,– प्रसन्न रहकर–प्रभु–परायण रहना,– यह जीवनमंगल है । सांख्य–योग–बुद्धिसे शोक–मोह–दूर कराके भक्तिसुधाका पान कराया है– श्रीकृष्णने !

स्वजनवध दोष है–यह समझका मूल :

अर्जुनका उद्वेग कृष्णकी ही कृपा है,–लीला है ! सामान्योंका विषाद प्रारब्ध– प्रसंगसे होता है, जीवनमें विष रूप होता है,– मृतप्राय बना देता है । समर्थोंका विषाद प्रभुदत्त होता है,– जीवनमें विकास–प्रकाशे देता है । भगवानने करुणा विह्वल अर्जुनकी बात सुनी । अर्जुन युद्ध का स्वरूप– परिणामादि समझता तो था । युद्धके निश्चयसे तो आया था,– परंतु युद्धोत्साह न रहा ! युद्धके पहले धृतराष्ट्रने संजयको विष्टि लेकर युधिष्ठिरके पास भेजा था ! तत्वज्ञानकी बातें धर्मभावनावाले पांडवोके नैतिक मनो–बलको तोडनेके लिये कहलाई थी । इसके प्रतिकारके लिये ही कैवर्तक कृष्ण बन गये थे–पांडवो के विष्टिकार ! धृतराष्ट्रको संदेशका जवाब दे दिया था । अपने वचनामृतसे कौरवपक्षके मनोबलको तोड दिया था । पांडव पर यह विष्टिकी असर जाननेके लिये धृतराष्ट्र उत्कंठ था । विष्टिवार्ता सुनके, तुरंत नहीं तो धर्मक्षेत्रमें तो असर हुआ होगा ! "अर्जुन" तो " **धवल** " है, – निष्कपट है,– " सादडवृक्ष" जैसा सरल है । उसको तो यह विष्टि–वार्ताकी असरसे स्वजन–वध दोष लगा !

अर्जुनका विषादमूल :

"कपिध्वज" है– अर्जुन तो ! कपिमें चंचलता–अस्थिरता– होती है, विषयरति–स्त्रीपरायणता–भी होती है । आया था अर्जुन–युद्धके उत्साहसे ! परंतु चंचलतासे अस्थिर हो गया ! युद्धका उत्साह नहीं रहा ! स्त्रैणतासे, विराटनगरमें

गुप्तवासमें बृहन्नला– रूपमें रहनेमें स्त्रीसंगसे, निर्णायकता शिथिल हो गई है ! युद्धके परिणामोंकी असरके विचारोंसे भी खिन्नता होती है । सर्वत्र नियामिका है,– भगवदिच्छा !

भगवानने आश्चर्यसे समझाया है, – अपने अर्जुनको ! अर्जुनकी बातें सुनकर अगर कोई दूसरा होता तो स्वयं भाग ही जाता ! अर्जुनको डाँटता ! यह तो मित्र है, स्वकीय है । इसलिये विषादकी बातें सुनता है, स्नेहसे समझ भी देता है । "–विषम स्थितिमें यह अयोग्य–विषाद–तुझे कहाँसे हुआ ? कायर मत हो जा ! तुच्छ हृदयकी दुर्बलता छोड दे । यह तेरे योग्य शोभास्पद नहीं है । खडा हो जा ।" भगवदिच्छाका ज्ञान न होना कश्मल है । मानों सारे मानव समाजको जागृत कर देते हैं– श्रीकृष्ण ! " **क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।** " –(३) मानों उपनिषद् ही व्यक्त हो रही है– "**उत्तिष्ठत ! जाग्रत ! प्राप्य वरान्निबोधत !**" उठो–जागो–उत्तमोंको प्राप्त करके जीवनविवेक–बोध प्राप्त करो । बोध प्रदान करो । लौकिक–वैदिक–लालसा तो तुच्छ हृदय दौर्बल्य है । उसको छोडके भगवत्कार्यके लिये तत्पर हो जायें । शत्रु जैसे दोषोंको दूर करें ।

अर्जुन भी सहृदय–सुजन है । निःसंकोच जो भी वह मनमें बुद्धिसे समझा था, व्यक्त कर देता है –कृष्णको ! "जिसकी गोदमें खेला, जिसके दाढी–बाल बालकपनमें खिंचे, जिसका वात्सल्य विपुल मिला, ऐसे पितामह भीष्म एवं गुरुदेव द्रौणको कैसे मारुंगा ?! आप तो महाराज ! मधुसूदन हो, अरिसूदन हो ! आपने युद्धमें मधु–दैत्य मारा शत्रु मारे ! नाथ ! मामा भी शत्रु रूप हो गया था, वत्सल

नहीं रहा था ! सर्वपीडक हो गया था ! इसलिये आपने मारा ! कभी वत्सल–मामा–दादा–गुरुको मारे हैं ?!" अर्जुन शत्रु– रूप स्वजनोको मारनेमें हिचकाता है । शत्रु अपनेको मारेंगे–एसा तो विचार भी अर्जुनको नहीं आया है ! अपना युद्धमें पराजय हो, मरण हो, ऐसा डर–शंका–भी नहीं है । अर्जुन दृढ आत्मबल–वाला है, निर्भय है, निश्चित विजयमें विश्वासवाला है; परंतु स्नेह–संमान–समादर गुरुजन प्रति रखता है । अर्जुन मानता है, –गुरुजनको श्रम कराये (मारे) बिना भिक्षासे जीवननिर्वाह करना तो कल्याण–प्रद है । अर्थलालस–गुरुजनको मारके रुधिरलिप्त–भोग कैसे भोगूं ?! किसीके भी आंसु–पसीने–खून–आहसे भरे हुए भोग, भोग ले लेते हैं, भोगने–वालोंका ! "–**भुंजीय भोगान् रुधिर–प्रदिग्धान् ।।** " – (६) –आदर्शके लिये सामने रखने जैसा सुवाक्य है । हमारे भोग–वैभव–विलास–संपत्ति–सत्ता–स्वार्थ कीतनेको पीडा कराके आये हैं ?! राक्षसीय–भोग हम भोगेंगे ?! जय–पराजय–मेंसे क्या अच्छा है ?! –भोग या भिक्षा ?! स्वजनवध दोष है, ऐसे ज्ञानरूप **कार्पण्यसे दबे हुए (क्षत्रियोचित युद्ध) स्वभाववाला, धर्ममें विचार–सामर्थ्य–हीन चित्तवाला, विकल, मैं आपसे पूछता हूँ, –हमारा जो निश्चित कल्याण हो वह मुझे कहो !"**
" **शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।**" –(७) "–मैं आपका शिष्य हूं, तुम्हारे शरणमें (प्रपन्न) हूं, मेरा शाशन करो ! " प्रतिकूलता–सानुकूलता –सबमें दैवीसंपद्वाला जीव तो अपने प्रिय प्रभुके पास पहूँच जाता है, प्रभुको ही पूकारता है, सफल होता है । आसुरसंपद्वाला जीव मदद–

मार्गदर्शनके-लिये अन्यत्र दौडता है, विमुख होता है, विकल होता है, निष्फल होता है । अर्जुन कृष्णके पास गया ! दुर्योधन द्रोणके पास !

शिष्य अर्जुनके समर्थ गुरु कृष्णने बताये हुए योग : गीताके १८ योग ज्ञान-कर्म-भक्तियोगमें समाविष्ट :

अर्जुनने आर्त होकरके श्रेयोजिज्ञासा की ! "शिष्य हूँ "-उदघोष कर दिया । -दत्तात्रेयजीकी तरह २५ गुरुओंका नहीं, केवल "-आपका !" दत्तात्रेयजीने तो २५ के कार्य-प्रसंगादिसे, स्वबुद्धिसे, उचित- सार ग्रहण किया है । अर्जुन स्वबुद्धिसे निर्णय नहीं करना चाहता है । भगवद्बुद्धिसे ही, भगवदाज्ञनुसार ही, सबकुछ करना चाहता है । पूर्णविश्वास उसका भगवानमें है । युद्धारंभमें भीष्म-युधिष्ठिर-आदि कोई कृष्णके पास नहीं आते हैं, अर्जुन उन लोंगोंके पास मार्गदर्शन नहीं मागता है ! शिष्य हो जाता है-कृष्णका ! "**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् । समित्पाणिः श्रोत्रियं-ब्रह्मनिष्ठम् ॥** "-श्रोतप्रक्रिया है । श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी ही संमुख शरणमें ब्रह्मजिज्ञासु व्यक्ति ब्रह्मज्ञानके लिए हाथमें समिध् लेके जाय, - शिष्यत्वका स्वीकार करें । जिसका शासन किया जाय वह शिष्य है । केवल पढाना-सिखाना, मार्गदर्शन देना, शंका-समाधान-करना, वैदुष्य देना, ही पर्याप्त नहीं है- शिष्यत्वके लिये ! शाशन करके जीवनको घडना, उत्कृष्ट-प्रभुयोग्य बनाना-यही आवश्यक है- गुरुको, शिष्यके लिये ! इसमें जो कठिनता-कठोरता भी हो वह श्रद्धा, समझ, स्नेह-पूर्वक सहन करके सानुकूल रहना, शिष्य होना चाहे उसके लिये, आवश्यक है । अर्जुनने भगवानको १. "**शिष्यस्तेऽ हं**"-" मैं आपका शिष्य हूँ "-कहा । शिष्यको ज्ञान दिया जाता है । इसलिये भगवानने ज्ञानयोग कहा । २. " **शाधि मां** "-" मेरा शाशन करो "- कहा । आज्ञासे कर्म होता है । विधिवाक्य-रहित धर्म नहीं होता है । इसलिये भगवानने कर्मयोग कहा । ३.-"**त्वां प्रपन्नम्** "-" तुम्हारा प्रपन्न हूँ "-कहा । प्रपन्न-शरणागत-को स्नेहसे भक्ति बतायी जाती है । स्नेह ही भक्ति है । भगवानके वशमें रहकर स्नेहसे सेवा करना, - यह भक्तिका यौगिकार्थ है । इस प्रकारसे भगवानने अर्जुनको ज्ञान-कर्म-भक्ति-योग बताये हैं । गीताजीमें कहे हुए सब १८ योग इसके अंतर्गत हो जाते हैं । श्रीभागवतजी (११-२०-६) में भक्त उद्धवजीको- भगवानने कहा है,- "**योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया । ज्ञानं-कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥** "-मानवका कल्याण करनेकी ईच्छासे मैंने - तीन योग (उपाय, मार्ग) कहे हैं । ज्ञान-कर्म और भक्ति ! अन्य कोई उपाय कहीं भी नहीं है । इस भगवद्वाक्यसे कर्म-ज्ञान-भक्तिके सिवाय कल्याणका अन्यमार्ग कहीं भी न होनेसे, गीताजीमें भी नहीं है । इसलिये गीताजीमें कहे हुए सब योग (उपाय) इन तीनमें ही समाविष्ट हो जाते हैं । अत्यंतासक्तोंको-कामनावालोंको कर्मयोग, विरक्तोंको ज्ञानयोग और अत्यासक्त-विरक्त नहीं ऐसे लोगोंके लिये भक्तियोग है । यथाधिकार कोई एकका आचरण करना जरूरी होता है । इस प्रकारसे, अर्जुनका -"**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्** " आर्त-जिज्ञासा-वाक्य गीताजीमें ज्ञान-कर्म-भक्तिके यथोचित उपदेशमें बीजरूप

हुआ है । " योग" को भगवानने श्रीभागवतमें " उपाय "– बताया है, उपरके वाक्यमें ।

प्रपन्न और शरणागतका उद्धार :

–आरंभमें अर्जुन " प्रपन्न "–कहके प्रपत्ति करता है । अंतमें भगवान्–" **मामेकं शरणं व्रज** " –मेरी कृष्णकी शरणमें आ– कहके शरणमें आनेको कहते हैं । अर्जुन "**करिष्ये वचनं तव**"–"आपका कहा हुआ करूँगा"– कहके शरण–समर्पण–भी कर देता है । प्रपन्न–शब्द, प्रपद–पंजा–पदका अग्रभागसे होता है । इससे प्रपन्न–शब्द, पदका अग्रभाग पकडे, इच्छांनुसार स्वसुख चाहे, उसके लिये है । प्रपन्न होता है वही प्रपदको स्वयं पकड रखता है । जैसे बंदरियाका बच्चा कूदते समय अपनी माँको पकड रखता है । " **शरणं गृहरक्षित्रोः** " –धातुपाठसे घर–रक्षकके अर्थमें शरण–शब्द है । ज़ैसे घर या रक्षक आनेवालोंको आश्रय देते है, आनेवालोको कुछ विशेष करना नहीं होता है । ऐसे शरणागतको भगवान् सम्हाल लेते हैं । शरणागतको कुछ करनेका नहीं रहता है । जैसे बिल्ली अपने बच्चेको अपने मुँहमें सम्हालके ले जाती है, – बच्चोंको कुछ करना नहीं होता है ।

शोकनिवृत्तिका उपाय :

शत्रुरहित–समृद्ध–साम्राज्य, स्वर्गका साम्राज्य, भी अर्जुनको अपने शोकको दूर कर सके ऐसा नहीं लगता है । अपने अनिष्टके भानसे होता है–संताप–शोक ! यह इस लोक या परलोकके सत्ता–संपत्ति–सुविधा–कला–भोगादिसे भी दूर नहीं होता है । दूर होता है–भगवानकी

शरणागतिसे, भगवानसे, भगवद्‌भक्तिसे । और कोई उपाय नहीं है ।

" मैं नहीं लडूंगा, गोविन्द" ! –कहके अर्जुन तो चूप हो गया । इन्द्रियप्रेरक प्रभु हृषीकेशने हसते हो ऐसे कहा – "**अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादाँश्च भाषसे** ।" (११) " शोक न करने योग्यका तू शोक करता है और प्रज्ञावाद (पंडित जैसी बाते) कहता है । " पंडित लोग मरे हुए तथा जीवितोंके पीछे शोक नहीं करते हैं । भगवदिच्छासे ही सबकुछ होता है, यह समझ प्रज्ञा है । यही मुख्यमत है ।

अर्जुनकी उलझनका स्वरूप : प्रायः सबकी मनोदशाः

अर्जुनको धर्मकी जिस कल्पनाने युद्धमें अग्रसर बनाया था, उसीने ही अब उसके मनको शंसयोंसे भर दिया ! राज्यधिकारकी जिस कल्पनासे युद्ध करना अनिवार्य धर्म है, – ऐसा लगता था, यह अधिकारभावना तो त्यागकी भावनासे क्षणमात्रमें दूर की जा सकती थी; फिर तो युद्धकी आवश्यकता, परिणामकी भयानकता, अपने आप शान्त हो जाती थी ! अर्जुनके मनबुद्धिकी यह डामाडोल स्थिति क्लैब्य कही गई है । अर्जुनकी दुर्धर्ष देह–मन–बुद्धि–शक्तिको नष्टप्राय कर देनेवाली यह भ्रमसभर त्याग–कल्पना है । यह त्याग–कल्पना भी अकेले अर्जुनको आई है, अन्य किसीको नहीं । अर्जुन तो यह कल्पनासे अपना माना हुआ धर्म छोडनेको नहीं चाहता था, परंतु इससे भी कोई उत्कृष्ट मार्गको चाहता था । त्यागकी कल्पना उसके मनको खींच रही थी । इसमेंसे बचना कठिन था । यही थी– अर्जुनकी कृपाविष्टता ! गौतम (बुद्ध), महावीर, भर्तृहरि –आदिके

मनमें भी ऐसा ही कोई भाव उभर आया हुआ लगता है । युद्ध करनेसे भिक्षा माँगना उत्तम है, ऐसा अर्जुनको लगा । अर्जुन जैसी मनोदशा प्रायः सबकी अपनी अपनी परिस्थितिमें हो जाती है । व्यथा–उलझन–किंकर्तव्यता–कर्तव्यमूढता–विषाद मनमें छा जाता है । ऐसी मनोदशामें कई लोग तो मनसे मर भी लेते हैं । कृपासे ही जीवन साफल्य है । समान मनोदशामें अर्जन अपना लगता है । भारतीय संस्कृति–संस्कारपंरपराका एक जीवनधार दिखती है– कुलपरंपरा ! धर्मरक्षा–परंपरा भी इससे सुचारु–रूपमें होती रहती है । यह कुलपरंपरा छिन्नभिन्न हो जानेसे सदाचारमय–धर्म नष्टप्राय हो जाता है । इसलिये युद्ध न करना ही हित है, इस नयी कल्पनासे चित्तमूढता अर्जुनमें आ गई ! इस विषाद–दशामें अर्जुन प्रवृत्तिमार्गमें लग नहीं सकता था । दृढतासे निवृत्तिमार्गको ग्रहण करनेकी क्षमता भी नहीं थी । गुरुजनका आदर भी धर्म है, युद्ध भी क्षत्रियका धर्म है, इन दो धर्मके बीच भी अर्जुन उलझनमें था । निर्णय नहीं होता था । भगवानने अर्जुनको इस स्थितिमेंसे बहार निकालनेके लिये उसके हेत्वाभासोंका आवरण दूर कर दिया । भगवान् श्रीकृष्णने इस पोकल विचारधाराको प्रज्ञावाद कहके उपहास किया है ।

प्रज्ञावाद–परिचय :

महाभारतके उद्योगपर्वमें–"विदुरनीति" प्रसिद्ध है । उसमें महाप्राज्ञ विदुरजीने प्रज्ञादर्शन वा प्रज्ञावादका निरूपण किया है । उपनिषदोंमें अध्यात्म एवं दर्शन–तत्त्वका बहुत विकास हुआ था । उसमेंसे मानवजीवनकी व्यावहारिक

आवश्यकताके लिये अलग साररूपमें दिया गया, वह ज्ञान "प्रज्ञा –" समझदारी– कहा जाता था । प्रज्ञाको ही पंजा, पण्णा पंडा–कहा जाता था । इस दृष्टिकोणवाले पंडित कहलाते थे । जीवनकी प्रत्येक बाबत बुद्धिसे योग्यायोग्य विचारपूर्वक करनी चाहिये । प्राज्ञपुरुष अपने कार्योंका निर्णय बुद्धपूर्वक समझके करता है, कामनाओंसे दबकर नहीं ! सदाचार एवं शीलका उसमें महत्त्व है । नैष्कर्म्य एवं शांतिको लक्ष्यमें रखकर, जीवन–मृत्यु कोई अचल नियमसे होते हैं तो हर्षशोकादि किये बिना, जो कर्तव्य है वह अवश्य करना ही चाहिये । वेदोमें जैसै "धीर" कहा गया है ! जो कामनाओसे कुचड गये बिना, लोकप्रवाहमें बह गये बिना, अपने ध्येय को दृढतासे बुद्धिपूर्वक निश्चित करके, अपने ज्ञानको आचारणमें उतारता है, वह " धीर " है, ऐसा ही यहां " प्राज्ञ " है । उसके अनुसार कहना " प्रज्ञावाद " है । सच्चा प्रज्ञावादी जन्म और मृत्युको अपरिहार्य समझके स्वीकारता है । वह जन्मादिका हर्ष और मृत्यु– आदिका शोक नहीं करता है । यह कृष्ण समझाते है । अर्जुनकी बातोमें प्रज्ञावादका आभास था । "**अकोविदः कोविदवादवादान् वदस्यथो नातिविदां वरिष्ठ ः । न सूरयो हि व्यवहारमेनं तत्त्वावमर्शेन सहामनन्ति ।**" –श्रीभागवत (५–११–१) में, ऐसा ही राजा रहूगणको भरतजीने कहा है । "अज्ञानी होने पर भी पंडितोकी समान ऊपर उपरकी तर्कवितर्कयुक्त बात कहते हो, इससे उत्तम ज्ञानियोंमें तुम नहीं हो । तत्त्वज्ञानि–पुरुष इस अविचारसिद्ध स्वामि–सेवकादि व्यवहारको तत्त्वविचारके साथ जोडके

कहते नहीं है । सत्यरूपसे स्वीकारते नहीं हैं । भगवानने यथार्थ प्रज्ञावादकी कइ बातें बताई हैं ।

" न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपा : ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ " –(१२)

मैं, तुम और ये राजालोग सब नित्य थे, नित्य हैं, नित्य रहेंगे, नित्य होंगे । ऐसा कभी भी नहीं था, जब ये सब नहीं थे । ऐसा कभी नहीं होगा जब ये सब नहीं होंगे । प्रत्येक शरीरमें जैसे कौमार (२ से ५ साल), यौवन (१६ से ७० साल), वृद्धावस्था (७० से ऊपर)– होती है, बादमें अन्य नया शरीर मिलता है । यह क्रम है । धीर–पुरुष, (प्रज्ञावादी) को उसमें मोह–शोक नहीं होते हैं । सबके जन्म –वृद्धि–ह्रास कालक्रमसे होते रहते हैं । देह अनित्य है, बदल जाता है । आत्मा ही नित्य है । अवस्थाकी व्यवस्था देहकी है । भगवदिच्छासे भगवदीयोंको दूसरा अलौकिक–देह मिलता है ! कालसे नहीं ! उसमें धीर–भक्तको मोह नहीं होता है । भगवानकी लीला नित्य है । विषय– इन्द्रिय–संबंध शीतोष्ण– सुखददुःखद होता है, वह तो क्षणिक है । आते है और जाते हैं । अनित्य है । इसलिये उन सबको तो सहन करना चाहिये । सहन करनेमें मनकी शान्ति–स्वस्थता–प्रसन्नता बनी रहनी जरूरी है । नहीं तो सहन नहीं, मात्र भार वहन ही होता है, भावका दहन ही होता है । जिसको सुख–दुःखादिमें समता रहती है, वह मोक्ष वा भक्ति के लिये योग्य होता है । वह दुःखमें शोकार्त नहीं होता है, सुखमें हर्षार्त नहीं होता है । वह तो सब परिस्थितिमें सर्वदा एक समान ही रहता है ।

धीर–पुरुषका जीवन–गंगाप्रवाहतरंग :

" यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ " –(१५)

इन्द्रिय–भोग–सुखोमें वा दुःखोमें, परिस्थितिकी प्रतिकूलता वा सानुकूलतामें स्वस्थबुद्धिसे परिस्थितिको पचा देता है । वही अनर्थमेंसे जातको बचा सकता है । " **राम बिलोकई गंग–तरंगा ।** "–" राम चरितमानस " – श्रीतुलसीजीने कहा है । इसमें लीलाकी उत्प्रेक्षा देखे तो, भगवान् राम माँ–सीताके साथ गंगाजीके तरल तरंग देखते हैं । तरंग आते हैं, पाससे जाते हैं । सीताजीने कहा, " **वह आया** "–रामजीने कहा– **गया** । सीताजीने कहा– "वह आ रहा है । रामजीने कहा,– "वह भी जायगा ।" जीवन–गंगा–प्रवाहमें राज्याभिषेकका तरंग आया, वह गया । वनवासका तरंग आ रहा है । वह भी जायगा । लंकावास– दुःख, अध्योयावासादि–सुख–तरंग आनेवाले हैं ; वे भी सब जानेवाले हैं ! गंगा–नदीकी तरंगमालाकी स्वाभाविकतासे प्रसंगतरंग, सुख–दुःख–तरंग–आते–जाते रहते हैं । नित्य नये तरंग आते रहते हैं । जाते रहते हैं । जीवन– गंगा उससे रुखी–सुखी वा बढी–बाढी–सुखी न हो जाय । वह तो गंगाप्रवाह जैसा पवित्र प्रसन्न, प्रकृष्ट, नित्य बहता रहे, तो मुक्ति–भक्ति यथाधिकार सुलभ होते हैं । सब परिस्थितिमें प्रसन्नताका स्वाभाविक अनुभव जिसका बना ही रहता है, वह धीर–पुरुष है । परिस्थितिके प्रवाहमें बह नहीं जाय, दृढ रहे, –अपनेमें, वह धीर है । प्रयत्नपरायण रहे वह पुरुष है । "कुमारसंभव"में कालिंदास कहते हैं– । " **विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न**

चेतांसि त एव धीरा ः । "–विकारके कारण होते हुए भी चित्त जिसके विकृत नहीं होते वही धीर है ।

जीवनका ध्येय ः

न इच्छने पर भी–बिना प्रयत्न ही–दुःख आते हैं, ऐसे ही सुख भी आते हैं । प्रभुभक्ति अंतिम जन्ममें मिलती है । कालकी गंभीरगतिसे यथासमय स्वकर्मानुकूल सुखदुःख भगवदिच्छासे आते–जाते–रहते हैं । उनके स्वीकार–प्रतिकार वा विकारमें समय–सामर्थ्यादिको व्यर्थ खोये बिना, अपने ध्येयमें लगातार लगे रहना चाहिये । ध्येय तो स्पष्ट–दृढ एक ही होना चाहिए । सुज्ञ व्यक्तिको यही ध्येयके लिये ही प्रयत्न करते रहना चाहिये, कि जो ऊपर –अक्षरब्रह्मलोक (मोक्ष)–से लेकर नीचे–पाताल–तक भाग्यानुसार घूमते रहने पर भी नहीं मिलता है ! यह है– भगवानकी भक्ति ! श्रीभागवत (१–५–१८) में कहा है,–

"**तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो, न लभ्यते यद् भ्रमतामुपर्यधः ।**
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं, कालेन सर्वत्र गभीररंहसा ॥"

यही कोविद् है,– जो कृष्णभक्तिके लिए आजीवन प्रयत्न करें ।

ब्रह्मसे अनन्य है, अतः सत्य है, – जगत् ः

आगे, गीताजीमें अस्तित्त्व–रूप विकारका निराकरण करते हुए– अशोच्यता बताते हैं,–

" **नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।**
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि ः ॥ " (१६)

जो असत् (त्रिकालमें भी होता नहीं) है, आकाशकुसुम, इसकी सत्ता नहीं है । जो सत्–(त्रिकालमें भी होता)–है,

आत्मा, उसका अभाव नहीं है । आत्मा नहीं थी, नहीं है, नहीं होगी, ऐसा नहीं है । असत्की सत्ता नहीं है । इससे विनाशि– देहादिकी सत्ता भी शक्य नहीं है, देहादि उत्पन्न होनेसे असत्ता भी कही नहीं जा सकती है, क्योंकि असत्की सत्ता–उत्पत्ति–योग्य नहीं हैं । इसलिये देहादिका सदसत्त्व कहना चाहिये । सदसद्भिन्नता होनेसे सदसत्त्व दूर नहीं होता है । इससे कहा है,– "**छायाप्रत्याह्वयाभासा असंतोऽप्यर्थकरिणः ॥**"–श्रीभागवत (११–२८–५) छाया–प्रतिध्वनि–आभास असत् होने परभी अर्थकारी है । इस तरहसे "**एवं देहादयो भावा यच्छंत्यामृत्युतो भयम् ।**" देहादिभाव मृत्यु–पर्यंत भय देते हैं । इसलिये, विनाशि–स्वरूप होने पर भी अर्थकारी होने से सत्त्व है । सदसत्स्वरूप प्रकृति–कार्य होनेसे भी "**सदसत्त्व**" है । यही है–अनित्यत्व, प्रागभाव–प्रतियोगि–रूपतासे, ध्वंस–प्रतियोगितासे । इसका नित्यत्व प्रकृतिके कारणभूत–सच्चिदात्मक– ब्रह्मसे अनन्य होनेसे है ही । श्रीविष्णुपुराणमें है,– " **तदेतक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम् । आविर्भावतिरोभावौ जन्मनाशविकल्पवत् ॥** " यह पूरा जगत् अक्षय है–नित्य है । उसके जन्म–नाशके– विकल्परूप है– आविर्भाव–तिरोभाव ! जगत् अक्षरब्रह्मात्मक है । ब्रह्मसे भिन्न हो तो जगत असत् होता है, परंतु ब्रह्मसे अनन्य–अभिन्न होनेसे सत् है । सदसत् दोनों के बारेमें तत्त्वदर्शियोंने सिद्धान्त–निर्णय किया ही है ।

" **बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया**

यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाऽविकृतात् ।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ॥

–श्रीभागवत ॥ (१०–८७–१५)

यह जगत् ब्रह्मरूप होनेसे, भगवन्माहात्म्य–प्रतिपादन –द्वारा, श्रुतियोंमें साक्षाद् भगवान् प्रतिपाद्य (सिद्ध) होनेसे, श्रुति साक्षात् भगवत्प्रतिपादिका है । उससे जगतका ब्रह्मत्व कहा है । यह उपलब्ध (अनुभूत) होता हुआ जगत् ब्रह्म ही है । ऐसा ब्रह्मज्ञ ऋषिलोग एवं वेद जानते हैं–कहते हैं ।" **यतो वा इमानि– ।** " इत्यादि वेदवाक्योमें, जगत् ब्रह्ममेंसे ही उत्पन्न होता है– ब्रह्ममें ही स्थिति करता है; ब्रह्ममें ही लीन होता है । ऐसा कहा है । मिट्टीमेंसे हुअे घटका लय होने पर विकारका नाश होता है, पदार्थका तो मिट्टीपना है ही ! ऐसे विकार–सहित जगतमेंसे विकार दूर होने पर ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है । सुवर्णके अलंकारमें तो साथमें कभी अन्यधातु–रत्नादि होते भी हैं । मिट्टीमें ऐसा नहीं होता है । इसलिये " **मृदि** "–मिट्टीमें, यह दृष्टान्त है । लोकमें, मिट्टीके विकारके बाद कार्यरूप घट होता है । अलौकिक ब्रह्म तो अविकृत रहता है । " **अविकृतात् विकृतेः उदयास्तमयौ ।** "–अविकृत ब्रह्ममेंसे (ब्रह्मकी लीलेच्छासे ही) स्वतः ही घर्मरूप जगद्भाव होता है । बादमें जगद्रूपकार्यमें परिच्छेदादि विकार कालकृत् है । यह विशेषता है । ब्रह्मनिरूपक प्रमाणोंसे यह दिखता है । मिट्टीमेंसे हुआ घट मिट्टी ही है, अंतमें भी मिट्टी रहती है । ऐसे, अंतमें ब्रह्म ही रहता है,–

इससे ब्रह्ममेंसें हुआ जगत् ब्रह्म ही है । " **जनि प्रादुर्भावे**" और " **णश् अदर्शने** "–धातुपाठ है । इससे, उत्पत्ति–आविर्भाव– रूप है, नाश– अदर्शन–तिरोभाव–रूप है । वर्तमान–वस्तुकी अनुभुव–योग्यता आविर्भाव है । यह न होना वह तिरो–भाव है । यह दोनों भगवानकी शक्तियाँ हैं । इससे कार्यरूप धर्मि (जगद्रूप ब्रह्म)के आविर्भाव–तिरोभाव है । परंतु कार्यमें दिखाई देते विकार (परिच्छेदादि) के उत्पत्ति–नाश है । कार्यभावसे पहले, अविद्यमान यह विकार कार्यके आधार पर उत्पन्न होते हैं । अन्यथा वह प्रभुरूप होनेसे अविकृत रहें । परिच्छेद–रूप विकारके जाने पर वह अपरिच्छिन्न ब्रह्म ही है । " **सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वात् परिच्छेदकरः स्वयम् । इदं कालस्य कालत्व–माविर्भावादिकं स्वतः ॥** " –सर्व ब्रह्मरूप होनेसे, परिच्छेद करनेवाला भी स्वयं ब्रह्म ही है । यह कालका कालत्व है, आविर्भावादि स्वतः है । श्रीविष्णुपुराण में –"**तदेतदक्षयं नित्यं जगत्–** " कहा है । "**अतः**" –विकारविशिष्ट भी वस्तुतः ब्रह्म ही है ; इसलिये, सर्वविकृत– विषयक मन और वचनका व्यवहार, '**त्वयि**' –आप–ब्रह्ममें, ही ऋषि करते हैं । ब्रह्ममें ही उसका पर्यवसान जानते हैं । मन–वाणी–से जो भावना होती है अथवा कहनेमें आती है, वह ब्रह्मविषयक होती है । "**अनृतं वै वाचा वदति अनृतं मनसा ध्यायति ।**"–श्रुति है । अत्यंत असत्यज्ञान भी अर्थमें तो शब्दसे समझमें आता है, " **आकशकुसुम–**" वगेरेकी तरह । जहाँ वाणी–मनके विषयका भी ब्रह्मत्व है, तहाँ संपूर्णरूपसे प्रकट जगतके ब्रह्मत्वमें सन्देह क्या होता है ?! इसलिये तो, ब्रह्मज्ञान,

सर्वव्यवहार, ब्रह्म–परक होनेसे, उनको कोई कर्मबंधन रहता नहीं है । भ्रमप्रतीत–पदार्थ भी ब्रह्मरूप होनेसे, ब्रह्मत्वके कारण ही भ्रमप्राप्त–पदार्थका भान होता है । ब्रह्मके बिना कुछ भी भासता नहीं है । "**सत्यो हरिः समस्तेषु भ्रमभातेष्वपि स्थिरः । अतः संतः समस्तार्थे कृष्णमेव विजानते ।।**" –"श्रुतिगीता ।" (१०–८७–१५) –सर्वयथार्थ पदार्थोंमें तथा भ्रमसे भासते हुए पदार्थोंमें भी, मूलभूत ब्रह्म सत्य होनेसे स्थिर है । इसलिये, सत्पुरुष सर्वपदार्थमें कृष्णको ही जानते हैं । " **वासुदेव सर्वमिति**" –से गीताजीमें भी, वासुदेवको सर्व–जगद्–रूप कहे हैं । परंतु ऐसा समझनेवाला दुर्लभ है ।

"**तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ।**"–ब्र. सू. (२–१–१४) –जगत्का ब्रह्मसे अनन्यत्व है, " **आरंभण**" –शब्दादिसे । "**वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।** " छां. उ. (६–१–१) इसमें विकारका वाणीमात्रसे आरंभ होता है, वस्तुतः नहीं, ऐसा अर्थ भासता है । अगर ऐसा भास हो तो ब्रह्म किसका कारण बने ? इसलिये श्रुतिवाक्यका अर्थ बताते हैं । " **आरम्भण– शब्दादि**" से, ब्रह्मसे जगतका अनन्यत्व प्रतीत होता है । कार्यका कारणसे अनन्यत्व है, मिथ्यात्व नहीं है । अलौकिक–प्रमेयमें (वेद–गीता) ब्रह्मसूत्र–(भागवत)–अनुसार ही निर्णय उचित है; स्वतंत्र कल्पना नहीं । " **तर्काप्रतिष्ठानात्** " । –से निराकरण किया है । इस सूत्रमें भी मिथ्यात्व–संभव नहीं है । एकविज्ञानसे सर्वविज्ञान–प्रतिज्ञा होनेसे, प्रकरणसंगतिसे । अथवा, असत्–लौकिक–की सत्ता अलौकिक नहीं होती है । सत्–अलौकिक जो भगवत्सत्तात्मक है, उसका अभाव–नाश–नहीं है । अंतर्गृहगता और रासलीलाप्राप्त–गोपीजन दृष्टांत हैं । भगवद्दर्शन–योग्य भगवदीयोंने दोनों का फल देखा है । भगवद्–योग्य देहका नाश नहीं होता है ।

आत्माकी नित्यता : सांख्य :

देहादि–रूप–विकार, विश्व, सब कुछ भी, जिससे व्याप्त है– वह " **आत्मा** " –अविनाशी है ।–" **अतति व्याप्नोतीति आत्मा** ।" वह अव्यय है, उसका कोई नाश नहीं कर सकता है । शरीरका नाश होता है, शरीस्थ आत्मा अविनाशी है,– अप्रमेय है । आत्मा न किसीका हनन(वध) करता है, न हनन किया जाता है । देहके जैसे जन्म–मरणादि धर्म आत्मको नहीं हैं । आत्मा तो अज–जन्मरहित, नित्य–विनाशरहित, शश्वत्– निरंतर एक भावात्मक, पुराण–पुरातन फिर भी नया है, शरीरके हनन पर वह हना जाता नहीं है । आत्मा तो अज–अव्यय (विकाररहित) है–ऐसा जाननेवाला किसको मारता है ? मरवाता किसको ? "**वासांसि जीर्णनि**" –(२३)– आत्मा नयादेह प्राप्त करती है । जीर्णको छोड देती है । जैसे जीर्णवस्त्र बदलके नये धरते हैं । जीर्ण–देह, जीर्ण–वस्त्र इत्यादिमें जीर्ण–शब्द जूना–पुराना–फटा हुआ, ऐसा ही नहीं है, कार्योपयोगी न हो वह भी जीर्ण है । वृद्धावस्थामें–बचपनमें–यौवनमें कभी भी शरीर छूटे–वह कार्योपयोगी न होनेसे । नया शरीर भगवदिच्छासे, ऋणानुबंधानुकूल, मिलता है। इसमें शोक करना नहीं चाहिये । पृथ्वी–जल–तेज–वायुसे भी आत्माका विनाश नहीं होता है ।

आत्मा–सर्वगत– व्यापक, स्थाणु–स्थिर भाववाला, अचल– सर्वदा एकरूप, सनातन– अनादि है, अव्यक्त– लौकिकेन्द्रियसे अग्राह्य, अचिन्त्य– मनसे अगम्य, प्रकृतिसे पर, अविकार्य– विकारहित है । इसके विषयमें शोक करने योग्य (अर्जुन) नहीं है ।

अन्यमतनिरूपण :

लोकायतिकादि–मतसे भी, शोक करना अयोग्य है, वह बताते हैं । आत्माको जन्म–मरण–वाला मान लेने पर भी शोक करना नहीं चाहिये । जन्मवालोंको मरण, मरणवालोंको जन्म निश्चित होता है । " **तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥** "–जिसका परिहार न हो सके, अवर्जनीय हो, सर्वथा होनेवाला ही हो, ऐसी बाबतोंमें शोक करने योग्य नहीं है । " **अव्यक्तादीनि भूतानि** "–(२८)–भूतशब्दसे कार्यशरीर लें तो, अव्यक्त–प्रधान, प्रकृति है । भूतशब्दसे आत्मा लें तो, अव्यक्त–अक्षर है । आदि–अंतमें अव्यक्त होनेसे, मध्यमें भी अव्यक्त होता है, परंतु दृश्यमान व्यक्तता तो भगवानकी इच्छासे है –प्राकृत है । इसमें शोक क्या करनेका ?

आश्चर्योंका भंडार– भगवान् : ।

"आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनं"–(२९) अपनी आत्माके बारेमें विविध बातें प्रसिद्ध होनेसे अनिश्चित– दशामें, आश्चर्यवत् कहते–सुनते–देखते हैं। आत्मा–शब्द श्रुतिमें भगवानकेलिये प्रसिद्ध है – "**आत्मैवेदं सर्वम् ॥** "गीताजीमें" – "**परमात्मेति उदाहृतः**"

–"**परमात्मा**"– शब्द है । यही परमात्माके अंश भी आत्मा हैं, जो अविद्या– मोहित होकर जीव– (प्राणधारण– प्रयत्नवाला)– हो गये । अब, जीव (आत्मा) अपने (आत्माओंके) आत्मा– परमात्मा– भगवान् श्रीकृष्णको सर्वस्व समझकर भजता है,– स्वकृतार्थता के लिये ! कृष्णका होकर, कृष्णको नहीं, लोगोंको भजे ?! अज भगवान् जन्म लेकर आयें ! निर्दोष भगवान् चोरी करें ! स्वतंत्र भगवान् अस्वतंत्र हो जाय ! अव्यक्त व्यक्त हो गया !– आश्चर्यकी तरह देखते, सुनते, कहते हैं । और कोई सुनने पर भी नहीं जान सकते हैं ! आश्चर्योंका निधान तो यही भगवान् श्रीकृष्ण हैं । "**आश्चर्याणां निधानं, धनमधनवतां, भागधेयं यदूनां; साधूनां कल्पवृक्षं, निरुपधि– भजन–स्येष्टसिद्धिं शरण्यम् । तात्पर्यं व्यासवाचां, श्रुतिनिचयल–सद्–वादसिद्धांतसारं; तत्त्वं सच्छास्त्र– बोध्यं, नुतित–तिभिरहं संश्रये राधिकेशम्।।**"– आश्चर्योंका निधान, निर्धनों–का धन, यदुओंका भाग्य, साधुओंका कल्पवृक्ष, अकारण भजनकी इष्टसिद्धि, शरण्य; व्यासवाणीका तात्पर्य, श्रुति–समूहवाद– सिद्धांतका सार, सच्छास्त्रका तत्त्व, राधिकेशका वंदन– परंपरासे आश्रय करता हूँ ।

युक्तिसे युद्ध– प्रेरणा :

सर्व– देहमें देही तो नित्य अवध्य है, फिर भी शोक क्या है ?! स्वधर्म– विचारसे भी कांपना– सिद्धान्तशैथिल्य है, क्षत्रियोंके लिये तो धर्मयुद्ध जैसा कल्याण कौन सा और हो सकता है ? भगवदिच्छासे ही ऐसा युद्ध प्राप्त होता है,– सुखी

क्षत्रियों के लिये! “अगर नहीं लड़ूँगा तू तो स्वकीर्ति न रहेगी। धर्म नहीं रहेगा । पाप लगेगा । लोग अपकीर्ति करेंगे ! सन्मान्योंकी अकीर्ति तो मौतसे भी अधिक हो जाती है। महारथि– लोग तुझे भयसे भाग गया हुआ कहेंगे । जो सम्मान देते हैं, वे अवज्ञा करेंगे । तेरे सामर्थ्यकी निंदा करेंगे.। इससे अधिक दुःख क्या होगा ?! तू मरेगा तो स्वर्ग मिलेगा । जितेगा तो अभिनंदन, सुख, पृथ्वीभोग मिलेंगे ! दोनों हाथमें उसके तो लड्डु हैं ! कौन्तेय ! सूक्ष्मबुद्धिसे सोच, शोच किये बिना युद्धका निश्चय कर लें । सुख– दुःख, लाभालाभ, जय– पराजयको समान समझके, युद्धके लिये तैयार हो जा, इस तरह, तुझे पाप नहीं लगेगा” ।

योगनिरूपणः

“एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रुणु ।
बुद्धयायुक्तो यथा पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥”– (३९)

सांख्य– बुद्धि भगवानने पहले बताई, अब योग–बुद्धि कहते हैं । चित्तवृत्ति निरोधरूप योग है । ईश्वरावलंबी है । “**सम्यक् ख्यानं संख्या । संख्यैव सांख्यम्** ।” वा “**सम्यक् ख्यानं सांख्यम्** ।” किसी प्रकारका सम्यक् आख्यान– वर्णन– कर देना यह है– संख्या ! किसी वस्तुका यथार्थ वर्णन करना, शुद्ध वस्तुका निरूपण करना,– वह सांख्य है । इसी तरह, “**योजनं योगः**” एक वस्तुको दूसरी वस्तुके साथ जोडना– योग है । सांख्यमें मानस– त्याग होता है । योगमें अत्याग होता है ।

भगवानने सांख्ययोग, कर्मयोग– ऐसे शब्द न कहते हुए, दोनोंके साथ बुद्धि– शब्द लगाया है । बुद्धिकी प्रतिभा भगवान् दर्शाते हैं । सांख्य हो या योग, वह तो जो है वैसे है, समझनेका– अनुष्ठान करनेका– प्रयत्न तो बुद्धिसे होता है । सभी धर्मोंमें प्रायः श्रद्धानिर्भरता अधिक रहती है । गीताजीमें यह विशेषता है कि उसमें बुद्धिका गौरव अधिक किया गया है। भगवानने अर्जुनका मोह– शोक दूर करनेके लिये आत्मानात्म– प्रकाशक सांख्य कहा; परंतु उसमें अर्जुनकी खास रुचि न देखके आत्मज्ञान– बुद्धि कही । इससे भी मोह निवृत्ति नहीं हो तो कर्मयोग सुननेका कहते हैं ।

भगवद्धर्मकी महत्ता :

“नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥”– (४०)

यहाँ योगबुद्धिमें प्रभु– प्रसन्नताके लिये धर्मका जो आरंभ है, उसका नाश नहीं है । “**नह्यंगोपक्रमे ध्वंसो स्वधर्म–स्योद्धवाण्वपि।**” – (११–२९–२०) श्रीभागवतमें प्रभुने उद्धवजीको कहा है । यह धर्मके आचरणसे नाश नहीं है, स्वल्पारंभ भी महान् भय (संसार)मेंसे बचाता है। सांख्य सिद्ध होने पर धर्म– कर्मका त्याग करना होता है । योगमें ऐसा नहीं है । योगमें यमादि करते रहै, यमादि सिद्ध होने पर योग होता है । अन्यत्र किये हुए कर्म– धर्मकी सफ़लता तो अच्युतके स्मरणसे हो जाती है। “**यस्य स्मृस्या च नामोक्त्या तपोयज्ञ–**

क्रियादिषु । न्यूनं संपूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ।।"– जिसके स्मरणसे, नामोच्चारसे, तपोयज्ञ– क्रियादिमें न्यून होता हो वह सब शीघ्र संपूर्णताको प्राप्त हो जाता है । उस अच्युतको मैं वन्दता हूँ ।

"व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन ।"–(४१)

यहाँ योगमें बुद्धि एक है– "**व्यवसायात्मिका**" ! यहाँ फलरहित कर्म अथवा भगवानके लिये कुछ कर्म करें,– ऐसे निश्चयवाली बुद्धि, एक ही विषय होनेसे, एक ही है । जिनको स्वजीवन– ध्येय न हो, संसारपरायण हो, ऐसे सकाम हो, उसकी बुद्धि, **निश्चयात्मिका** नहीं होती है । कामनाके आवेशोंमें बुद्धि चारों ओर दौडती रहती है,– अनेक विषयोंमें, अनेक हेतुसे, व्यस्त रहती है । "मैंने प्राप्त किया– करूँगा । मैं बढाऊँगा"– ऐसे व्यर्थ विचारोंमे लगी रहती है । जैमिनीयमतमें पूर्वकाण्डाग्रही सकाम लोग कहते हैं,– वेदमें कर्मकांण्ड ही कहा गया है । वह सब वेदवाणी पुष्पित है । पुष्पस्थानीय स्वर्गादि है ।– उसीमें फलबुद्धिसे रत रहते हैं । उसको परम सुख मानते हैं । अपनी कामना– वासनाके कारण ही व्यर्थ भटकते हैं– ये लोग! अज्ञान– अविवेकी लोग जन्म– कर्मप्रद– भोगैश्चर्यके लिये भिन्न भिन्न क्रियाकांड चलाये करते हैं, यही फलाभासवाली वाणीको विस्तृत रूपसे कहा करते हैं । ऐसे भोगैँश्चर्यमें आसक्त– चित्तवाले, इससे अपहृतचित्तवाले, लोगोंकी बुद्धि समाधिमें **निश्चयात्मक** नहीं होती है । भगवानके लिये दृढतासे ये कुछ नहीं कर सकते हैं ।

भगवान् ही वेदतात्पर्य बताते हैं :

"त्रैगुण्याविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवाऽर्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।" (४५)–

सकाम लोग प्रायः सत्त्व– रजः– तमः– त्रिगुणवाले हैं । यह त्रैगुण्याधिकारीओंके त्रैगुण्य– फलविषयक वेद त्रिकांड विषय वाले भी हैं । फिर भी भारतीय– धर्ममें वेद मूल हैं । तू वेदके भी मूलतत्त्व निःत्रैगुण्यकी शरणमें जा । लौकिक– कामना, वासना– रहित हो जा । त्रिगुणसे पर होना अर्थात् निर्गुण वा गुणातीत होना । "**मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम् ।**"" (११–२५–२४)– श्रीभागवतमें भगवानने स्वनिष्ठको निर्गुण कहा है । यहाँ "**निस्त्रैगुण्य**" होनेको कहा है । स्पष्ट होता है– इससे– कि भगवान् ही स्वपरायण बनाते हैं– अपनी कृपासे ! त्रिगुण– सृष्टिके जीवोंके सुख– फलके लिये भगवानने त्रिगुण– वेद बनायें । स्वर्गादि– फलके लिये कर्मबोधक वे हैं, मोक्षके लिये ज्ञान एवं मर्यादा– भक्ति ! भगवल्लीला– पुष्टि– सृष्टि गुणातीत है । गुणातीत पुरुषोत्तम स्वरूप वेदसे पर है । इसलिये तो भगवत् स्वरूपनिष्ठ भक्त ही होना जरूरी है । "**निर्द्वन्द्व**"– सुखदुःखादि– द्वन्द्वसे रहित होनेवाला देहदृष्टि एवं देहानुसंधान तथा देहधर्मोंकी प्रबलतासे बच सकता है । अंतःकरणके धर्मोंसे भी वह ऊंचे ऊठ आता है । "**नित्यसत्त्वस्थ**"– होनेसे सत्त्वगुणकार्य जागरण– ज्ञान– स्थिरता– मिलें । इतने मात्रसे पुरुषोत्तम– योग्यता नहीं होती है । यहाँ "**सत्त्व**"– भगवत्–

स्वरूप है । "**सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिः** –" "सत्त्व" जिसका प्रिय स्वरूप है । –श्रीभागवत – (१०–८९–१८) – में सत्त्वको स्वरूपात्मक कहा है । नित्य– भगवत्स्वरूप– सेवनमें स्थिरता आवश्यक है । पुष्टि– सृष्टि तो "**भगवद्रूपसेवार्थ**" ही होती है । "**निर्योगक्षेम**"– अपने प्रयत्नोसें अथवा अन्य द्वारा योग-क्षेम चलता है,– ऐसी समझ तथा योगक्षेमके प्रयत्न– चिन्तादि-छोड देने चाहिये । जो नहीं मिला है, उसको प्राप्त करा देना-योग है । जो प्राप्त हुआ है, उसको निभा रखना– क्षेम है । लौकिक– योगक्षेम– रहित हो जाना, वह तो भगवदाश्रय एवं अनन्यताके लिये आवश्यक है । भगवत्स्वरूप– निष्ठ भगवदीयको तो भक्ति–योगानुसार भगवदधीन ही योगक्षेम होनेसे लौकिक– योगक्षेम– रहित होना स्वाभाविक– (आवश्यक)-हो जाता है । "**आत्मावान्**"– आत्मा– अंतःकरण– जिसकी वशमें है ऐसा, अथवा "**आत्मा**"– भगवान्,– भगवत्परायण होना जरूरी है ।

सर्वतः जल सुलभ होने पर कूपादिका जितना प्रयोजन रहता है, उतना ही स्वल्प प्रयोजन भगवन्निष्ठको वैदिक– कर्मका है। अथवा जलपात्रमें जितना प्रयोजन है, वह जलपरिपूर्ण सरोवरमें होता है, परंतु जल लाना, पात्र रखना, इत्यादिसे क्लेश होता है; ऐसे जितने वेदोक्त कर्मफल है, उतने वेदोक्त– ब्रह्मस्वरूपज्ञ ब्रह्मैकनिष्ठको होते हैं । ब्रह्मनिष्ठको वेदोक्त कर्मोंसे प्रायः प्रयोजन नहीं रहता है । अथवा, सर्वतः जलसे भरे हुए सरोवरमें भी तृषार्तका जितना प्रयोजन है, ऐसे सर्ववेदमेंसे भी ब्राह्मणको

यथाधिकार ही उपयोगी है। "**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन** ।"– (४७) जब तक "अपना– अन्यका"– ऐसा भान है तब तक कर्ममें अधिकार है, कर्मत्याग करना नहीं चाहिये । वैराग्य नहीं हो तब तक कर्म करना जरूरी है । कभी भी फलमें अधिकार नहीं है, उसकी मनमें इच्छा भी न करें । साधनदशामें भी नहीं । प्रयत्न–प्रज्ञा– पुरुषके ! परिणाम– प्रेरणा– प्रभुके ! "कर्मफलकी इच्छावाला तू न हो । तुझे सकामकर्म वा कर्म न करनेमें भी संबंध– प्रीति– न हो। (लौकिक– वैदिक– फलमेंसे) आसक्ति छोडके, सफलता– निष्फलतामें समभाव रखके, प्रभुयोग– परायण रहकर, कर्म किये जा । समत्त्व योग कहाता है । "**समत्वं योग उच्यते**" ।– (४८) सफलता– निष्फलतामें एक समान रहनेकी मानसिक वा बौद्धिक साधनाको योग कहते हैं । बुद्धियोगकी अपेक्षा सकामकर्म हीन है । तू बुद्धियोगका आश्रय कर । फलकी वासनावाले कृपण (दीन–हीन) हैं । समबुद्धिवाला पुण्यपापको छोड देता है, इसलिये बुद्धियोगके लिये तत्पर हो । समदृष्टि ही कर्ममें कुशलता है। भगवदाज्ञानुसार कर्म करना यह योग है । यही कर्ममें चातुर्य है ।

-"**योगः कर्मसु कौशलम्** ।"– (५०) समदष्टिवाले, मनःसंयम करनेवाली बुद्धिवाले, कर्म– फल छोडके, जन्मबंधनसे मुक्त होकर, विकार–रहित भक्ति–पदको प्राप्त होते हैं । जब बुद्धि मोह–कीचको तैर जायगी, तब भोगादि छोड कर वैराग्य प्राप्त होगा, फलश्रुतिसे विक्षिप्त– बुद्धि निश्चल हो करके भगव–त्स्वरूप– ध्यानमें स्थिर होगी । तब योग (संयोग) सुलभ

होगा"।

स्थितप्रज्ञ- लक्षण :

अपने जीवन-ध्येयमें निश्चल बुद्धिवाला है- स्थितप्रज्ञ ! जब मनमेंसे सब लौकिक- कामना निकाल देता है, अंतःकरणसे प्रभुमें संतुष्ट रहता है, तब कहा जाता है- स्थितप्रज्ञ ! सर्वत्र दुःखोंमें मनमें उद्वेग-रहित, सुखोंमें स्पृहा-रहित, राग-भय- क्रोध जिसमेंसे चले गये हैं, जो मननशील है, स्थिर बुद्धिवाला है, उसे कहा जाता है- स्थितप्रज्ञ ! सर्वत्र लौकिक-स्नेह-रहित भक्त, शुभाशुभादिको प्राप्त करके, न उसकी प्रशंसा करता है, न निंदा करता है । उसकी बुद्धि स्थिर है । कछुआ जैसे अपने (इन्द्रिय) शरीरको पीठके नीचे संकुचित (इकट्ठा) कर लेता है, ऐसे इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके विषयोंमेंसे जब खिंच लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है । देहाभिमानीके विषय तो आहार- भोग- न करने पर छूट जाते हैं; परंतु रस (आकर्षण, मधुरता, वासना, राग) छूटता नहीं है । परम- परमात्माके दर्शन- ज्ञान- से वह रस भी चला जाता है । प्रयत्न- परायण, विविध ज्ञानवाले, पुरुषके भी मनको हठीली इन्द्रियाँ हठसे हर लेती है। उन सबको वश करके, चित्त स्थिर करके, कृष्णपरायण होकर, जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हो चुकी है, उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

शब्द- स्पर्श- रूप- रस- गंध- प्रभृति विषयोंका ध्यान (विचार) करनेवाले पुरुषका उस विषयोंमें संसर्ग (आसक्ति,

संपर्क) होता है । संपर्कसे कामना (उत्कट- इच्छा, वासना) उत्पन्न होती है । काम (पूर्ति न होने) से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे संमोह (विचार- हीनता, अविवेक) होता है । संमोहसे स्मरण- विकलता होती है । स्मृतिभ्रंशसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे (कल्याण-मार्गमेंसे) पतन होता है । जिसकी बुद्धि बिगडी, उसके तो सब साधन व्यर्थ ही है । रागद्वेष-रहित, इन्द्रियसंयम- पूर्वक, विषयोंको भोगने पर भी, भगवद्‌वश पुरुषको चित्तकी निर्मलता- प्रसन्नता- प्राप्त होती है । "महाभारत"के "सुनत्सुजातीय-पर्व"में उसको "अभिध्या" सिद्धांत भी कहा लगता है।

चित्तकी प्रसन्नतासे, जब प्रभुप्रसाद (प्रभुकी प्रसन्नता) प्राप्त हो तब, सब दुःख नष्ट हो जाते हैं । प्रसन्न चित्तवालाकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर होती है । अस्थिर - असंयमी - अप्रसन्न चित्तवालाको(श्रवणादि साधनोंसे भी) जीवन-मंगल भगवन्मार्गका ज्ञान होता नहीं है । अयुक्तचित्तवालेको (भगवद्)-भावना नहीं होती है। भावरहितको शांति (साक्षात्कार, सानुभाव) नहीं, अशांतको (मोक्ष वा लीला) सुख कहाँ से ?! विषयमें घूमती इन्द्रियाँमेंसे जिसकी साथ मन जुड जाता है, वह इन्द्रिय उस पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है । जैसे जलमें वायु नावको खिंच जाता है । इसलिये सब इन्द्रिय- विषयोंमेंसे जिसकी इन्द्रियाँ वश की हुई है (भगवत्कार्यमें विनियुक्त कराई दी है) इसकी बुद्धि स्थिर (होती है) ।

जो (आत्म-भगवज्) ज्ञान (बुद्धि), सब प्राणीओंके लिये

रात्रि–रूप है, इसमें योगिलोक जगते हैं, मग्न– प्रवृत्त– रहते हैं । जिस (संसार– अज्ञान– भ्रम)में सब प्राणी जगते है (आसक्तिसे लगातार लगे रहेते हैं), वह (संसार), तत्त्वज्ञ (जागृत) मुनिके लिये रात्रिरूप है ।

जैसे चारों ओरसे भराते हुए, अचलमर्यादावाले, समुद्रमें नदीयोंके पानी प्रविष्ट– समाविष्ट– हो जाते हैं, ऐसे जिसमें सब काम (उत्कट भोगेच्छाएं) समाविष्ट हो जाते हैं, वह शांतिको प्राप्त होता है, भोगेच्छावाला नहीं । जो पुरुष सब काम (लौकिक– इच्छा– वासना– भोगादि)को छोडकर, अहंता– ममता– रहित होकर, निःस्पृह होकर, (भगवानमें– भक्तिमें) विचरण करता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है ।

यह ब्राह्मी (ब्रह्मानुभावकी)– स्थिति है । उसको प्राप्त करके (संसार) मोह नहीं रहता है– न होता है । उसको प्राप्त करके अंतकालमें भी उसमें रहकर ब्रह्मनिर्वाण (मोक्ष) प्राप्त होता है।

जड बुद्धिवालाको स्थितप्रज्ञ नहीं कहा जाता है । जडबुद्धि स्वयं गति नहीं करती है, चलती नहीं है, स्थिर (यथावत्) ही रहती है । यह दृष्टिसे स्थिर–बुद्धि होनेसे "स्थित" तो कही जाय, परंतु उसमें जीवन– विवेक– विचार– पूर्वककी (बुद्धिकी) स्थिरता नहीं होती है ! होती है– जडता ! प्रज्ञा तो है– जीवन– विवेकवाली बुद्धि ! यह विवेक भी प्रतिकूलतामें दब जाय, बदल जाय, विकृत हो जाय, नष्ट हो जाय, तो तो जीवनमें,– जीवनव्यवहार–कार्यमें, ध्येयमें, दृढता–स्थिरता– नहीं आयेगी,–

प्रगति नहीं होगी । यह जीवन– ध्येय– विवेक दृढ– स्थिर– अचल रहे तो, जीवनध्येयकी ओर प्रगति होती ही है । जीवनविवेक स्थिर रहे,– स्थिर रखनेवाली बुद्धिसे ! बुद्धिकी स्थिरतासे स्थिरता जीवनमें, जीवनकार्यमें, अवश्य आती है । यह स्थिरतासे सफलता सरलतासे मिलती है । स्थिर– दृढ– जीवनविवेकवाली बुद्धि है– "**स्थिता– प्रज्ञा**" ! जिसकी है– ऐसी "**स्थिता– प्रज्ञा**", वह है– "**स्थितप्रज्ञ**" !

ऐसी स्थितप्रज्ञता तो पृष्ठलग्न रहती है– भक्तिमें! भक्त– जीवनमें, प्रत्येक कार्यमें, स्पष्ट दिखाइ देती है,– यही स्थिर– जीवन विवेक– बुद्धि ! मर्यादामार्गमें प्रसिद्ध है– भक्तवर प्रह्लादजी , भगवान् श्रीरामभद्रजी ! पुष्टि– भक्ति– मार्गमें प्रसिद्ध है,– श्रीगोपीजन, ८४– २५२ वैष्णवजन ! पांच वर्षकी ही सुकुमार वयमें पिताकी दारुण यातनाएं सहन की –प्रह्लादजीने! अपने सत्यपथमें अचल रहे, भजन करते रहे । प्राण लेनेके प्रयत्न करनेवाला भी पिता है ! प्रभुसे उसकी सद्‌गति माँगी ! सुख– दुःखमें भी प्रपन्न– प्रसन्न ही रहे ! श्रीरामजीकी मुखांबुजश्री– राज्याभिषेकमें बढी नहीं, वनवासमें ग्लान हुई नहीं ! श्रीगोपीजन तो प्रभुके लिये ही जीयें । प्रसन्न रहे । श्रीभागवतजीके ग्यारहवे स्कंधके तेइसवे अध्यायमें भी कदरी ब्राह्मणकी कथा है। अवंतीका धनाढ्‌य ब्राह्मण, था यक्षवित्त ! उसका धन किसीके कुछ उपायोगमें नहीं आता था ! दान– भोग और नाश, ये तीन गतियाँ होती है– वित्तकी ! दैवसे धन नष्ट हो जाने पर ब्राह्मण कष्टमें आ गया । भिखमंगा हो गया!

सब तिरस्कार करने लगे। अपमानसे यथार्थ भान हुआ ! कृपा हो तो विपत्ति विरागका चिराग भी प्रकटा देती है। अर्थके अनर्थोंके अनुभव हुए। हृदयग्रंथियाँ खुल गई ! भिखमंगा शांत– मुनि हो गया ! सबके तिरस्कार– अपमान– अवरोध– आक्षेप– अपराध– सबकुछ शांत चित्तसे सहन करता रहा। न प्रतिकार किया, न प्रतिशोध चाहा ! बोध स्पष्ट हो गया था। सात्त्विक धैर्य दृढता दे रहा था। अपने सुख– दुःखमें देवता– आत्मा– ग्रह– कर्म– काल– लोग– आदि कोई भी कारण नहीं है। कारण है– केवल अपना ही मन ! जो अहंता– ममतात्मक संसारचक्रको घूमाता रहता है। बंधन और मोक्षमें भी कारण होता है– अपना ही मन! मनको वश करनेके लिये ही शास्त्रके सारे साधन कहे गये हैं।– "**सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः परो हि योगो मनसः समाधिः**" –(११–२३–४६)– मनकी शांति– स्थिरता– ही परम योग है। मनसे होती हुई अहंता– ममतासे हुए राग–द्वेषादिसे सब पीडा भोगते हैं। आत्माको तो पीडा कौन करा सकता है ?! ज्ञान– कर्म– हृदयभावना– संपन्न– होते हुए भी कई लोग परिस्थितिवश उन सबसे विरुद्ध कार्य करने की विवशतामें आ भी जाते हैं। विचित्र पीडा लगती है। भगवानके चिंतनसे मन स्ववश होता है, भगवानके शरणागतको काल– कर्म– स्वभावादि कुछ भी कर सकते नहीं हैं। बुद्धि प्रभुमें रखकर स्वमनोनिग्रह करें। बुद्धि है,– मनकी नियामिका ! जीवन– विवेकवाली बुद्धि है– प्रज्ञा ! वह स्थिर हो तो मानवको– जीवनको, स्थिर– शांत– प्रसन्न–

प्रभुपरायण बना देगी। ऐसी स्थिर– प्रज्ञावाला व्यक्ति होता है,– स्थितप्रज्ञ ! यह ब्रह्म– भगवत्– संबंधसे ही संभव होनेसे है– "ब्राह्मीस्थिति" ! जिसमें रहकर अंतकालमें भी, भ्रम नहीं, भय नहीं,– भगवत्सुखानुभूति होती है।

अध्याय– ३ : कर्मयोगः श्लोक– ४३ :

शिष्यके अधिकारानुसार गुरुका प्रदान :

शिष्यकी जिज्ञासा ही गुरुके हृदयमेंसे विद्याको बहार प्रकट कर देती है। शिष्य मिलने पर ही गुरुत्त्व प्रकट होता है, शिष्य ही व्यक्तिको गुरु बनाता है ! भारतीय– धार्मिक– साहित्यमें प्रायः शिष्य वा श्रोताके प्रश्नके बाद ही गुरु वा वक्ता प्रत्त्युत्तरका प्रारंभ करते हैं। कथाएं श्रोता– वक्ता– के संवादरूपमें मिलती है। शासन करने योग्य शिष्यके स्नेह– सुपात्रता– सेवासे संतुष्ट गुरु हृदयपूर्वक विद्यादान देते हैं। अज्ञानवाचक– गु, तन्निरोधक– अज्ञानको दूर करनेवाला– रु; अज्ञान दूर करके– ज्ञानप्रकाशक है– गुरु ! भगवान् भी सुयोग्य श्रोताको कृपा– प्रदान करनेके लिये वक्ताको विशेष प्रेरणा देते हैं, हृदयमें अपूर्व स्फुरणा देते हैं। गुरु प्रसन्न हो तो योगिदुर्लभ वैकुंठ भी प्रदान कर देते हैं। "**प्रयच्छति गुरुः प्रीतो वैकुंठं योगि– दुर्लभम्**"।– (श्रीभागवत– पद्म. पु. मा. (१–८)) अर्जुनका संबंध कृष्णके साथ विविध है। मामा– फुफीके पुत्र हैं, साला– बहनोइ हैं, मित्र हैं, आत्मीय हैं, भक्त है ! और अब तो शिष्य भी हुआ है ! भगवान् प्रत्युत्तरमें इस विषयमें कुछ न कहते हुए, स्वाभाविक

उत्तरारंभ करके, गुरुत्त्व प्रकट कर देते हैं। अर्जुनके अधिकारके अनुसार विविध साधन बताते हुए, अर्जुनका मन कहीं पर न मानने पर अंतमें, आखिरी उपाय बता दिया– अपनी– एककी ही– शरणागति ! यही अर्जुनका अधिकार था, इसलिये पसंद आ गई ! अधिकारानुसार अंतःकरणकी रुचि होती है। रुचिसे अधिकार– परिचय हो जाता है। प्रश्नसे भी रुचि व्यक्त होती है। श्रीभागवतमें भी श्रीशुकदेवजीको परीक्षितने षष्ठस्कंधमें नरकयातनासे बचनेके लिये उपाय पूछा। श्री शुकने प्रायश्चित बताया। यह कर्मभागीय प्रकारमें संतोष राजाको न हुआ। पुनः अन्य उपाय पूछा। मुनिने ज्ञान बताया। यह भी रूचिकर नहीं होनेसे पुनः पूछा, तो भक्तिमार्गीय उपाय बताया! केवल कृष्ण–भक्तिसे ही संपूर्ण पापनिवृत्ति बताई ! राजका अधिकार था भक्तिमार्गमें, इससे बात पसंद आ गई। अर्जुन भी यथारुचि ही पूछता है, अंतमें शरणागति बताई तब संतुष्ट हो गया ! कुछ उस विषयमें नहीं पूछा ! अधिकारसे रुचि होती है। अर्जुनके मनस्तोषके कारण विविध योग बताते चले,– भगवान तो !! दोनोंके बीच शुद्ध– स्नेह है। शुद्धबुद्धि और खुले मनसे जीनेमें प्रफुल्लता बनी रहती है। निरपेक्षतासे स्निग्धतामें कर्म बहते रहते हैं। खुले मनसे– शुद्धबुद्धिसे– स्नेहसे– अर्जुनने स्पष्ट कह दिया,– "कर्मसे बुद्धिको मुख्य मानते हो तो मुझे घोर– युद्ध– कर्ममें क्यों जोडते हो ?!"

"व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥–"(२)

"विरुद्ध– मिश्र जैसे वाक्योंसे मेरी बुद्धिको मोह जैसा कराते हो,– ऐसा लगता है। इससे निश्चय करके एक ही कहो, जिससे मैं श्रेयको प्राप्त करुँ।" भगवानने स्थितप्रज्ञकी बातोंमें त्याग कहा ! पूर्वमें सांख्य कहके योग बताते थे ! बात एक नहीं, संदेहप्रद लगी! इससे तो अर्जुनने जो मनमें आया वह स्पष्ट कह दिया। भाव हो तो भाषा गौण हो जाती है, अपने आप अंतःकरण व्यक्त हो जाता है, अन्यथाभाव नहीं होता है! गुरुको "मोह जेसा कराते हो" – ऐसा शिष्य कैसे कहता ? योग्य कैसे लगता ? फिर भी भगवान् अर्जुनके यथार्थ हार्दको जानकर प्रेमसे प्रत्युत्तर देते हैं,–

गीताजीमें कृष्णने कही हूई दो निष्ठाएं :

"लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥"– (३)

दो– प्रकारकी निष्ठा भगवानने पहले द्वितीयाध्यायमें कही है। १. सांख्यलोगोंकी– ज्ञानयोगसे, २. योगिजनोंकी– कर्मयोगसे। **"नितरां तिष्ठतीति निष्ठा।", "नितरां स्थीयतेऽनया सा निष्ठा"**। जो हमेशां स्थिर रहती हो,– स्थिर रखती हो, वह निष्ठा है। महद्बाधकसे भी चलित न होना यह निष्ठा है।

श्रीवल्लभाचार्यजीने कही हुई तीन निष्ठाएं :

"ज्ञाननिष्ठा तदा ज्ञेया सर्वज्ञो हि यदा भवेत्।
कर्मनिष्ठा तदा ज्ञेया यदा चित्तं प्रसीदति॥
भक्तिनिष्ठा तदा ज्ञेया यदा कृष्णः प्रसीदति।

निष्ठाभावे फलं तस्मान्नास्त्येवेति निश्चयः ।

निष्ठा च साधनैरेव न मनोरथवार्तया ।।”– शास्त्रार्थ प्र. नि. (१७–१८) । तीन निष्ठा इसमें बताई हैं ! यह श्रीभागवत-संमत है। सर्वज्ञ हो तब ज्ञाननिष्ठा जानी जाय, चित्त प्रसन्न हो तब कर्मनिष्ठा जानी जाय, कृष्ण प्रसन्न हो तब भक्तिनिष्ठा जनाी जाय । निष्ठा न हो तो निष्फलता निश्चित है । निष्ठा साधनोंसे होती है, मनोरथ– वार्तासे नहीं ।

भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्रिय मित्र भक्त उद्धवजीको कहे हैं– तीनयोगः

“**योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।**

ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ।।”.”
श्रीभागवत (११–२०–१) मानवके कल्याणकी कामनासे मैंने तीन योग (उपाय– मार्ग) कहे हैं । १. **ज्ञानयोग**, २. **कर्मयोग** और ३. **भक्तियोग**; और उपाय कहीं पर भी नहीं है । श्रेयः– प्राप्तिके अनेक उपाय लोग मानते होंगे, भगवानने तो सुस्पष्ट कह दिया है– ज्ञान, कर्म, भक्तिके सिवाय और कोई भी उपाय कहीं पर भी नहीं है । अगर कल्याणकी कामना हो तो इन तीनमेंसे किसी एक मार्ग पर चलना ही पडेगा । तीनों पर एक साथ तो नहीं ही चला जाता है, शक्य नहीं है । किसी एकको पसंद करके दृढतासे उसके उपर चलना ही पडता है । पसंदगी भी कल्पनासे नहीं, रुचिसे होगी, अंतःकरणकी संवेदना–परिस्थिति– से होगी । पूरा वैराग्य है–, तो ज्ञानयोग, संसार– देहादिमें पूरा राग हो,

तो– कर्मयोग और न पूरा राग हो,– न पूरा विराग हो, तो –भक्तियोग ! यह भी प्रभुने ही कहा है ! यहाँ तीन योग होते हुए तीन निष्ठाएं है !– भक्तिनिष्ठा भी है ! “**युज्**”– धातु संयोग और समाधिके अर्थमें हैं । एक वस्तुको दूसरी वस्तुके साथ जोडना योग है । अथवा एकदूसरेमें मिलाकर समाधान कर लेना– योग है । जीवको ज्ञानसे ब्रह्मके साथ जोडता है– ज्ञानयोग ! जीवको कर्मसे ब्रह्मके साथ जोडता है– कर्मयोग ! जीवको भक्तिसे भगवानके साथ जोडता है– भक्तियोग ! मनपसंद वस्तुको मिलानेवाला योग है । जो वस्तु जैसी है, वैसी ही दिखानेवाला सांख्य है ।

मतांतर– निरासः गीतामें भक्तिनिष्ठा न कहनेका यथार्थ प्रयोजन :

कई लोग कहेते हैं,– “**भज सेवायाम्**”– धातुपाठसे भक्ति कृति है, अपक्वदशामें यह कर्मान्तर्गत है । “**वृत्तिः स्वभाविकी तु या**”– कपिलवाक्यसे भक्ति वृत्ति है, पक्वदशामें यह ज्ञानान्तर्गत है। इसलिये गीताजीमें भक्तिनिष्ठा नहीं बताई है । कर्मनिष्ठा– ज्ञाननिष्ठामें उसका समावेश हो जाता है ! आपाततः अच्छी लगती हुई यह बात ही भक्ति– द्वेषको बता देती है ! श्रीभागवतमें यही भगवान् कृष्णने तो भक्तिनिष्ठा कही ही है ! गीताजीमें यहाँ भक्तिनिष्ठा न कहेनेका कारण कोई और ही है। भक्ति न केवल कृति है, न केवल वृत्ति है। यहाँ सामान्यतः तो भक्ति है,– कृति और वृत्तिका सामंजस्य । “**भक्ति**”– शब्द में “**भज्**”– धातु है, “**क्तिन्**”– प्रत्यय है,– स्त्रीलिंगमें है,–

प्रेमात्मक है। दोनोंके योगसे अर्थ होता है,– प्रेमपूर्वक, भगवानकी वश में रहकर, भगवानको वश करे ऐसी, सेवा !– वह भक्ति है। इसलिये भक्ति न कर्ममें समाविष्ट है, न ज्ञान में ! परंतु कर्म और ज्ञान दोनों भक्तिमें समाविष्ट है। भक्तिके अंगभूत है,– कर्म और ज्ञान ! मुख्य है,– भक्ति ! सन्नारी जैसे सत्पतिकी वशमें रहकर सत्पतिको प्रेमपूर्वककी सेवासे अपनी वशमें कर लेती है, वैसे ही भक्त भगवानकी वश में रहकर, प्रेमपूर्वककी सेवासे, भगवानको अपनी वशमें कर लेता है।– "**वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥**"– श्रीभागवत (९–४–६६)– स्वयं भगवानने दुर्वासाको यह कहा है ! भक्ति कृति है,– वृत्ति है,– इतना ही नहीं, प्रभु का प्रदान है ! "**प्रदानवदेव तदुक्तम् ।**" ब्र.सू. (३–३–४३)– भक्ति, भक्ति का अंगभूत शरण, सर्वात्मभावादि तो जीवकृति– साध्य नहीं है, भगवदिच्छासे भगवतकृत वरण– साध्य है ! जीववृत्ति– साध्य नहीं है, भगवद्‌वृत्ति– साध्य है! यह है– फलात्मिका भक्ति! ऐसे भक्तोंको तो न ज्ञान से कोई काम (कल्याण) है, न वैराग्य से ! "**तस्मान्मद्‌भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः । न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ।**"– श्रीभागवत (११–२०–३१) फलरूपा पुष्टि भक्तिमें तो, भक्तियुक्त– भगवत्संलग्न– भगवदात्मक– भक्तके लिये ज्ञान– वैराग्य कोई काम के नहीं है।– स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण उध्दवजीको कहते हैं ! मर्यादाभक्तिमें होगा ज्ञान– वैराग्यका उपयोग ! इसलिये तो "प्रायः"– कहा है ! श्रुतिमें स्पष्ट है,– "**नायमात्मा प्रवचनेन**

लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥"– मुण्डकोपनिषत् (३–२–३)– यह परमात्मा प्रवचन (वेद–वैदिक प्रक्रियाऐं) से लभ्य नहीं है, मेधा (पुरूषनिष्ठ– प्रयत्न) से लभ्य नहीं है, बहुश्रुततासे (आगंतुक साधनोंसे) लभ्य नहीं है, यह जिसका भी वरण करता है (जिसको पसंद करता है), उसको ही लभ्य है। उसको यह परमात्मा अपनी तनुके रूपमें पसंद करते हैं (वरण करते हैं)। श्रुतिका "यं"– पद विशेषण–विशिष्ट नहीं है। इससे कोई भी अच्छा– बुरा, उत्तम– अधम, ससाधन– निःसाधन, जिस भी जीवका भगवान् स्वेच्छासे वरण करके अनुग्रह करें, उसको लभ्य हो जाते हैं। इस प्रकार वेद–गीता– ब्रह्मसूत्र– भागवतकी एकवाक्यतासे स्पष्ट– सिद्ध– होता है, कि– भगवान् स्वेच्छासे वरण करके अनुग्रह करे उसको लभ्य होते हैं, भक्तिका प्रदान करते हैं। इसमें शास्त्रोक्त– कर्म– ज्ञान– वैराग्य– भक्ति आवश्यक नहीं है। यह है– लोक–वेदसे पर– स्वतंत्रभक्ति !– निर्गुणभक्ति !

प्रभु– प्रेम– प्रचुर यह भक्ति सबको तो सुलभ नहीं है, और ऐसे भक्तिवाले भक्त भी सर्वजन– सुलभ नहीं है। "**शुद्धा प्रेम्णाऽतिदुर्लभाः**" ।– श्रीमहाप्रभुजीने "पुष्टिप्रवाहमर्यादा"– ग्रंथमें निरूपण किया है।– शुद्ध पुष्टि– भक्त प्रेमसे होते हैं, वे तो अतिदुर्लभ है।

भक्त– भक्तिमार्गकी दुर्लभता :

"त्वपादपद्‌मकरन्दजुषां मुनीनां
वर्त्मास्कुटं नृपशुभिर्ननु दुर्विभाव्यम् ।
यस्मादलौकिकमिवेहितमीश्चरस्य
भूमंस्तवेहितमथो अनु ये भवन्तम् ।"

–श्रीभागवत (१०–६०–३६)

आपके चरणकमलके रसका प्रीतिसे सेवन करनेवाले मुनीओंका मार्ग अस्पष्ट होता है, विषयरत नरपशु उसका अनुमान भी नहीं कर सकते हैं। क्योंकि समस्त शक्तियाँ और ऐश्वर्योंके आश्रय आपकी चेष्टाएँ प्रायः अलौकिक होती है, आपके अनुसरण करनेवाले (मार्गपर चलनेवाले) आपके भक्तोंकी चेष्टाएँ भी अलौकिक होती है । भगवद्‌भक्त लोकसंपर्कमें आते नहीं है, भगवन्मार्गका अनुमान भी लोक तो कर सकते नहीं हैं । इसलिये यह अलौकिक– भगवन्मार्ग– भक्तिमार्ग– तो लोगोंको अप्राप्य ही है । कृपाके बिना कुछ सुलभ नहीं है ।

इस प्रकार, १. कृति और वृत्तिका संयुक्तरूप है– भक्ति ! कर्म– ज्ञानमें समाविष्ट नहीं हो जाती है– भक्ति !, २. भगवानकी कृति– वृत्तिका स्वरूप है– भक्ति !, ३. प्रभुका प्रदान है– भक्ति! जीवकी कर्मनिष्ठा एवं ज्ञाननिष्ठा से पर है,– भक्तिनिष्ठा ! इसलिये गीताजीमें यहाँ भक्तिनिष्ठा भगवानने गिनाई नहीं है । भगवानने भक्तिके अधिकारकी सिद्धिके लिये कर्मनिष्ठा–

ज्ञाननिष्ठा साधनरूपमें कही है, फलरूपा होनेसे भक्तिनिष्ठा नहीं कही है । सर्वत्र भगवदात्मज्ञानवालोंकी ज्ञानयोगसे ब्रह्मनिष्ठा और भगवदुपासकोंकी कर्मयोगसे ब्रह्मनिष्ठा इन दोनों के स्वरूप ज्ञानके लिये बतायें हैं, अर्जुनके लिये नहीं ! "**लोकेऽस्मिन्**"– से लोकमें द्विविधा निष्ठा प्रसिद्ध कही है । भक्तिमार्ग– भक्त तो सुदुर्लभ होनेसे लोकमें प्रसिद्ध कहे नहीं है। इसलिये भी, भक्तिनिष्ठा स्वतंत्र होने पर भी, गिनाई नहीं है ।

निष्ठाप्रकारः

गिनाई है– द्विविधा निष्ठा ।– यहाँ निष्ठा तो अेक है, इसके प्रकार वा प्रक्रियाएँ दो हैं । दो निष्ठा नहीं है । यहाँ "**विधा**" है, "**विधि**" नहीं है ।

ज्ञाननिष्ठा, कर्मनिष्ठा और भक्तिनिष्ठा तीनों प्रसिद्ध है । आगे दी हुई (शास्त्रार्थप्र.नि.) कारिकामें तीनों स्वरूप बताएँ हैं।

(१) **ज्ञाननिष्ठा**– सर्वज्ञ जब हो तब जानी जाय !– अलौकिक तेजोदर्शन होते हैं ।

(२) **कर्मनिष्ठा**– जब चित्त प्रसन्न हो जाय !

(३) **भक्तिनिष्ठा**– जब कृष्ण प्रसन्न हो जाय!

"तत्त्वमसि"– खंडवाक्य है, महावाक्य नहीं हैः

जो लोग "**तत्त्वमसि**" आदि वाक्योंके उपदेश– मात्रसे ही अपरोक्षज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा ज्ञानदुर्बलोंको व्यामोह कराते हैं, वह ज्ञान नहीं है । अगर ज्ञान होता तो सर्वज्ञता होती। "**यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितम्** ।"– जिसको जानने पर

सर्व यह विदित हो जाता है,– श्रुतिसे कर्मकी तरह ज्ञानमें भी निदर्शन कहे हैं। जैसे, कारीरी– यज्ञमें अश्वमूत्रण, दीर्घसत्रारंभमें अपूपदाह, ऐसे ज्ञानमें भी सर्वज्ञता– निदर्शन है । तेजः भी है। इसलिये वाक्यमात्रसे हुआ ज्ञान ही नहीं है, यह समझ लेना चाहिये । इसलिये सर्वज्ञ ही जब होता है, तब ज्ञाननिष्ठा जाननी चाहिये । सुप्रसिद्ध “**तत्त्वमसि**”– यह महावाक्य नहीं है!! खंडवाक्य है ! छान्दोग्योपनिषत्में यह वाक्य है,– “**स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ।**”– यह पूरा महावाक्य है । श्वेतकेतु– उपाख्यान प्रसिद्ध है । वहाँ उपक्रममें “**अपि वा तमादेशमप्राक्षो येनाश्रुतं श्रुतं भवति।**”– इत्यादिसे एक– विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा की है । वह एक– विज्ञानमें सर्वविज्ञान तो, जो सर्व एक ही हो तो युक्त होता है । जैसे सुवर्णके टुकडे और सुवर्णका कार्य (जेवर– गहनें)– सब सुवर्ण है, इस प्रकारसे सुवर्णज्ञान उसका ज्ञान हो जाता है । इसलिये “**सदैव सौम्य–**” से आरंभ करके निरूपण किया है । “**एतदात्म्यमिदं सर्वं–**” से सब जडकी भी तदात्मकता कही हैं । “**जायते, अस्ति, वर्धते, विपरीणमते, अपक्षीयते, विनश्यति**”– यह छः भाव– विकार सत्यत्वकथनसे, सर्वदा सत्ताबोधनसे, उनके स्वरूपान्तर– ज्ञापनसे, प्रपंचमें परिह्रत किये! जडगतदोष तहाँ नहीं रहें । पूर्वोत्तर जडजीवके सदात्मकत्वसे मध्यमें हेतु है– “**स आत्मा**” । ऐसे जडकी तदात्मकता कहकर, पुनः जीवकी तदात्मकता कहते हैं– “**तत्त्वमसि**”– वाक्यसे । यह उपदेश है । “**आवृत्तिरस–**

कृदुपदेशात्।” ब्र.सू. (४–१–१) से स्पष्ट है। इसलिये नवबार कहा हुआ संपूर्ण महावाक्य उपदेश है । इसमें, जैसे “**एतदात्म्यं**” में संदेशमें भागत्यागलक्षणा नहीं है, ऐसे ही पीछे चिदंशमें भी जानना चाहिये । “**तत्त्वमसि**”– में “**तत्– त्वं– असि**” **तत्**– सर्वज्ञ ब्रह्म, **त्वं**– अल्पज्ञ जीव, **असि**– हो ! इसमें, जीव– ब्रह्ममें “**ज्ञ**” सामान्यपद होनेसे, सर्वज्ञ– अल्पज्ञ– भागका त्याग करके चिदंशसे लक्षित अर्थ, जीव– ब्रह्मका ऐक्य, कहना वह भागत्याग– लक्षणा यहाँ भी उचित नहीं है।

“**यथैतदात्म्यं**”– यहाँ “**आत्मानो भावः आत्म्यम्**”, ऐसे ही “**तस्य भावः तत्त्वम्**” **त्वं भवसि** । “**असि**” –मध्यम पुरुषसे “**त्वं**”– पद प्राप्त हो जाता है । “**तत्त्वं त्वं असि ।**”– अर्थ होता है । इससे जीव तदात्मकतासे अंशरूपसे, जड कार्यरूपसे, कहा गया है । श्वेतकेतु अवतार नहीं है,– श्रुतिका अवतारपरत्त्व नहीं है । पूर्वमें उसको “**स्तब्ध**” आदि कहा है । इसलिये, वह ब्रह्म–वाक्य होनेसे उसका एकभाग, “**तत्त्वमसि**”– भाग, जीवब्रह्मका ऐक्य नहीं कहता है । वाक्यभेद– प्रसंग तथा उपक्रम– विरोध हो जाता है– इससे । “**अतत्त्वमसि**”– वैदिकसंमत नहीं है । इसलिये, इस वाक्यकी विद्यांजननमें शक्ति नहीं है । सर्वज्ञता, अलौकिक तेजः, ही ज्ञाननिष्ठाका निदर्शन है । भक्तिमार्गको ज्ञानांग कह कर, कई लोग ज्ञानपर्यंत ही भक्ति करनेको कहते हैं । यह अज्ञता ही है । कृष्ण– प्रसन्नता फल है– भक्तिका ! कर्मनिष्ठा–चित्तकी प्रसन्नतासे, भक्तिनिष्ठा– भगवान् श्रीकृष्णकी प्रसन्नतासे, ज्ञात होती है । निष्ठा न हो तो

निश्चयरूपमें निष्फलता मिलती है, निष्ठा तो वेदोक्त साधनोंसे होती है,– प्रतिष्ठार्थ व्याख्यानादिसे नहीं,– मनोरथवार्तासे नहीं।

कर्मका स्वरूप–परिचय :

कर्मके आरंभ न करनेसे नैष्कर्म्य–सिद्धि नहीं होती है, कर्मत्यागसे भी नहीं । कोई भी व्यक्ति कभी भी कर्म किये बिना क्षण भी रह सकती नहीं है । प्रकृतिसे उत्पन्न गुणोंसे अवश भी कराये जाते हैं– कर्म !– "**कार्यते ह्यवशः कर्म ।**"– (५) यहाँ "**अवशकर्म**" कहे हैं । ऐसे तीन प्रकारके कर्म लगते हैं ।

१. **अवशकर्म**– प्रकृतिके गुणोंसे स्वाभाविक चलते रहेनेवाले कर्म। देहमें– रूधिराभिसरण, पाचनक्रिया, श्वासोच्छ्वास, प्रतिक्षिप्त - क्रिया, निमिष, मनोव्यापारादि ।

२. **स्ववशकर्म**– अपनी इच्छा, फलाकांक्षा, स्वप्रयत्न, साधन, शास्त्राज्ञानुसार यज्ञादि –कर्म, बुद्धिपूर्वक देहेन्द्रियसे मनःसंयोग–पूर्वक किये गये श्रेयः– प्रेयः– संबंधि– कर्म । बंधक हैं।

३. **परवशकर्म**– पर– श्रेष्ठ– भगवान्, भगवदिच्छासे कराए गए कर्म, आज्ञा– प्रेरणादिसे कराए गए कर्म । सेवारूप हैं । पर– अन्य– जनादि– वशसे किये कर्म बंधक हैं ।

स्थितप्रज्ञ और मिथ्याचार :–

अवश– स्ववश– कर्मके फल सुख– दुःखादिके रूपमें अवश्य भोगने पडते हैं । परवश कर्म तो सेवारूप है, अलौकिक है । कर्मन्द्रियोंका संयम करके, इन्द्रिय– विषयोंका मनसे स्मरण करनेवाला तो "**मिथ्याचार**" है । वर्षो पहले घटी हुई घटना है। छोटेसे गाँवमें एक आदमी था । घरमें प्रभुसेवामें बैठा था। उसकी भोली– भाली बहू बहार काम करती थी । बहार कोई मिलने को आया । पूछा बहूसे,– "ससुरजी कहाँ है ?"– बहूने तुरंत कह दिया,– "चर्मकारकी दुकानमें जूते लेनेको गये हैं !" ससुरजी सुनते तो थे ! मनको मारके मौन रहे । सेवाक्रिया तो पूरी कर दी । बहूको डाँटके कहा,– "मैं घरमें तो था !" बहूने बता दिया,– "आप तनसे घरमें थे, प्रभुसेवामें थे, परंतु मनसे तो चर्मकारके वहाँ जूते नहीं खरीद रहे थे ?!– मनमें क्या चलता था– आपके ?!" ससुरजीने हाथ जोड दिये । ससुरजी बैठे तो थे, इन्द्रिय– संयमसे सेवामें ! मनसे स्मरते थे– दुकानके जूते ! यह "**मिथ्याचार**" है । ऐसा ही होता है– ध्यान, ज्ञान, याग, योगादिमें भी ! ऐसे तो सब "**मिथ्याचार**" है ।

गीताजी (२–५८) में,– "**यदा संहरते चायं कुर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।**"– से कहा था,– कछुआ जैसे (आपत्ति लगते ही) अपने अंगोंको सिकुड लेता है– अपनी पीठ की मजबूत ढालके नीचे ! वैसे इन्द्रियविषयोंमेंसे इन्द्रियोंको खींच लेनेवाला की बुद्धि स्थिर होती है,– वह "**स्थितप्रज्ञ**" होता है । अब, कर्मेन्द्रिय–संयम होने पर भी मनसे विषयस्मरणसे "**मिथ्याचार**" – दांभिक– कहते हैं ! अतः स्थितप्रज्ञत्वके लिये मनःपूर्वक बुद्धि–संयमसे इन्द्रियोंका विषयोंमेंसे हटालेना आवश्यक है । "**मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः ।**"– श्रुति कहती है,– मनुष्योंका मन ही कारण होता है,– बंधन और मोक्षमें !

मनकी मुख्यताः मनको वश करनेका उपाय :

"नायं जनो मे सुखदुःखहेतु–
र्नः देवतात्मा ग्रहकर्मकालाः ।
मनः परं कारणमामनन्ति
संसारचक्रं परिवर्तयेद् यत्।।" – श्रीभागवत (११–२३–४३)

उज्जैनीका यक्षवित्त कदर्य ब्राह्मण द्रव्य चले जानेके बाद लोकतिरस्कार सहता हुआ यह "**भिक्षुगीता**" में बोलता है । मेरे सुख– दुःखके कारण यह लोक नहीं है । देवता– जीव– ग्रह– कर्म– कालादि कोई भी सुख– दुःखके कारण नहीं हैं । मुख्य– कारण तो कहते हैं– मनको ! जो अहंताा– ममतात्मक संसारचक्रको घूमाता रहता है । अपना मन ही अपने सुख– दुःखमें कारण है । सुख– दुःख कोई पदार्थ तो है ही नहीं ! मनको स्वानुकूल लगता है वह– सुख ! प्रतिकूल लगता हो– वह– दुःख ! उसमें अहंता– ममताकी गठजोरसे तीव्रता बढ जाती है! इसलिये तो,– "**सर्वें मनोनिग्रह– लक्षणान्ताः परो हि योगो मनसः समाधिः ।**"– (११–२३–४६) लोक– वेद– प्रसिद्ध सब साधन– प्रक्रियाएँ आखिरमें तो मनको वश करनेके लिये ही हैं, मनको बहेकानेके लिये नहीं है । मनः समाधान– स्थिरता– शांति– योग (जोडना) तो यथार्थ ही उत्तमयोग है । भयंकर, बलवानसे भी बलवान्, देव है– मन ! उसको वशमें लेनेवाला तो है– देवाधिदेव ! मनको वश बुद्धिसे किया जा सकता है। है– तो अतिकठिन ! अर्जुन भी कहता है,– "**चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथी बलवद् दृढम् ।**"– (६–३४)– "हे

कृष्ण ! मन चंचल– हठीला– दृढ है । पवन पकडना जैसे कठिन है, ऐसे ही मनको वश करना कठिन है !" भगवानने अभ्यास और वैराग्यसे वश करनेको कहा ! परंतु व्यर्थ अभ्यास– वैराग्याभाससे बचना जरूरी है । श्रीभागवत (११–२३–५८) में, यथार्थ– अभ्यास– वैराग्यका स्वरूप–दर्शन कराया,– "**अहं तरिष्यामि दुरंतपारं तमो मुकुन्दांघ्रिनिषेवयैव ।।**"– अपार अज्ञानन्धकारको में तैर जाउँगा ।– मोक्षप्रद मुकुन्द भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंके नित्यसेवनसे ही ! भगवच्चरण– सेवन ही साफल्य– साधन है, फल है– बल है– जीवनका ! देह– इन्द्रिय– अंतःकरण– जीव, सब संलग्न हो जाते हैं– मुकुंदमें! "**मुकुं मोक्षं द्यति खण्डयतीति मुकुंदः ।**"– मोक्षसे भी अधिक स्वरूपानंदप्रद है– मुकुंद !– मन मुकुंदमें लग जाय, तन मुकुंदके कर्ममें लग जाय ! मुकुंद मिल जाय, क्या बाकी रह जाय ?!

देहनिर्वाह भी यात्रा है, पवित्र– कार्य है :

जो मनसे ज्ञानेन्द्रियोंको वश करके, आसक्तिरहित, कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोगका आरंभ करता है– वह विशिष्ट है । कर्म न करने से तो कर्म करना उत्तम है । "शास्त्रसे नियत स्वधर्मरूप कर्म कर ।" कर्मके बिना तो "**शरीरयात्रा**" भी न चलें । यहाँ देहनिर्वाहको "**शरीरयात्रा**" कहकर गर्भित– सूचित किया, देहनिर्वाह– जीवन– भी यात्रा जैसा पवित्र है; आत्मोद्धारार्थ है, पुण्यप्रद है, मात्र उदरंभरता वा विषयविलासके लिये जीवन नहीं है ।

जीवन यज्ञरूप है : जीवनव्यवहार भगवत्सेवारूप भी है:

"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः ॥–" (९)

यज्ञके लिये किये हुए कर्मके बिना अन्यत्र कर्मसे यह लोक बंधनयुक्त है। जीवन यात्रा है, तो जीवन यज्ञ भी है। जीवनके प्रत्येक कार्य भी यज्ञकी क्रियाके भाग है। बोलना– यज्ञके मंत्र है! खाना– पीना– यज्ञमें होम है! शरीर– यज्ञभूमि है! जीव– यजमान है! बुद्धि– आचार्य है! इन्द्रियाँ– ऋग्विक् है! अंतर्यामी– यज्ञपुरुष है! वेदान्तकी पंचाग्निविद्यामें तो गर्भाधानको भी यज्ञाहुतिके रूपमें बताया है। सर्वमें, सर्वरूपसे, सर्वत्र, सर्वदा, भगवान् विराज रहे हैं। सबकुछ भगवान् ही करते– करवाते हैं। आनंद– उद्वेग– प्रदान सब ही भगवानकी लीला ही है। यज्ञकी पवित्र– उदात्त– भावनासे जीवन जीनेका होता है,– पामर होकर पेट– भरना ही जीवनका ध्येय नहीं है। समाजमें महत्ताके मोहमें फंसे रहना– जीवनधर्म नहीं है। प्रत्येक कर्म– जीवनकार्य– यज्ञरूप हो जाय, भगवत्प्रीत्यर्थ हो जाय। समाज– कार्य भी स्वार्थरहित हो जाय। यज्ञमें जैसे सब लाभ प्राप्त करते हैं, ऐसी तरहसे अपने जीवनयज्ञसे सबको कल्याणप्रद लाभ मिले। भगवान् सर्वरूपमें सर्वत्र बिराजते हैं। सबके साथ लौकिक– व्यवहार भी यही भगवद्– बुद्धिसे रखें। भगवानने ही सब दिया है, सर्वात्मा प्रभु प्रसन्न हो,– इस बुद्धिसे ही सबसे यथायोग्य व्यवहार करें, तो लौकिक– व्यवहार भी एक तरहसे सेवारूप हो जायेगा, जीवन– व्यवहार भी यज्ञ–प्रकार हो जायेगा। नहीं तो सब जीवन– व्यवहार कर्म– बंधन कराने–

बढाने– वाला हो जायगा। इस भद्र– जीवन– व्यवहारके लिये मुक्तसंग होना जरूरी है। कहाँ पर भी लौकिकमें आसक्ति न होनी चाहिये, व्यर्थ– लौकिक– संग (संपर्क) न होने चाहिये। यह सारा जीवन– व्यवहार श्रद्धा– स्नेह– सन्निष्ठासे भरपुर– सुचारु– होना चाहिये। भगवानके सुख रूप स्पर्शका अनुभव सुलभ होना संभव इसमें होता है। बुद्धिपूर्वक सावधतासे ऐसा जीवन– व्यवहार जरूरी है। **"समाचर"**– से ऐसा आचरण करनेकी प्रयत्नपूर्वक भी आज्ञा की है।

यज्ञस्वरूप :

"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा–" (१०) **"इज्यतेऽनेन सावयवो भगवान्।"** सावयव भगवान्का यजन है– यज्ञ! **"यज्ञो वै विष्णुः"**।– श्रुतिसे यज्ञ भगवान्का स्वरूप है। तथा **"प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः।"** –श्रुतिसे सकाम यज्ञको अदृढ नौकारूप कहे गये हैं। निष्काम भक्त ब्रह्मज्ञानीने किये हुए यज्ञमें भगवान् यज्ञात्मा स्वयं कृपासे प्रकट होकर मोक्ष भी देते हैं। ब्रह्माजीकी नासिकामेंसे भगवान् यज्ञवराह प्रकट हुए थे।

"इत्यभिध्यायतो नासाविवरात्सहसाऽनघ।
वराहतोको निरगादंगुष्ठपरिमाणकः॥"

–श्रीभागवत –(३–१३–१८)

असुर पृथ्वीको रसातलमें ले गये। मनुने यह ब्रह्माजीको कहा! ब्रह्माजी चिंतित होके भगवानका ध्यान करने लगे। तुरंत ही, ब्रह्माजी विश्वास गँवावे– निःश्वास डाले, इससे पहेले

ब्रह्माजीके श्वासमार्गमेंसे (नासिकाके विवरमेंसे) अंगुठा जितना एक वराह– बालक निकला ! यह है– भगवान् वराह– नारायण। “**वरान् अभिलषितान् जीवनोपयोगिपदार्थान् आहरतीति वराहः।**” – जीवनोपयोगी अभिलाषित पदार्थों को हरलाता है,– यह वराह है ! यज्ञ ऋषियोंका व्यवस्थित विज्ञान भी है। प्रारब्धके पासमें पंगु होए बिना, नसीब के पास निर्बल होए बिना, आवश्यक सब इच्छित पदार्थ यज्ञसे प्राप्त किए जाते हैं। यज्ञसे सबको यथाधिकार आजीविका उपलब्ध होती है, वर्णाश्रम– धर्मानुसार स्वगौरवसे सब जी सकते हैं । यज्ञ सर्वहितकारक है । प्रजापति– ब्रह्माजीने पहेले यह कहा था। “**पुरा**” – शब्दसे स्पष्ट हैं–, पहले यज्ञ कहे गये थे, अब तो कृष्णावतारमें आपने भक्तिको ही मुख्य कही है । भगवानने वैदिक– परंपरासे चले आये कर्म और यज्ञको गीताजीमें विशाल, जीवनस्पर्शी, हृदयंगम– दृष्टिकोणसे सारग्राही परिप्रेक्ष्यमें रख दिये हैं ।

“**यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।**” – (१४)– यज्ञ कर्ममेंसे उत्पन्न होता है । यह व्याख्यासे तो प्रत्येक कर्म यज्ञजनक, यज्ञरूप, पवित्र, उदात्त करनेकी मंगल जीवनपद्धितिका निर्देश किया है। आत्मज्ञान और कर्मका भी सुयोग बताया हैं । यज्ञसे सर्वकल्याणकारक कर्म सूचित किये हैं ।

यज्ञसे देव और मनुष्य परस्पर संतुष्ट करते हैं । परस्पर भावन– उन्नत– संतुष्ट– प्रेम– करते हुए कल्याणको प्राप्त कर सकते हैं । देवताएं इष्टभोग यज्ञसंतोष से देते हैं । उन

देवताओंको देना होता है । न देनेवाला तो चोर है । समाजमें रहकर प्रत्येक व्यक्तिके साथ सरल, सहिष्णु, स्नेहसहित– व्यवहार, परस्परोपकारकता, आवश्यक है, यज्ञ है ।

“**यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।**
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।” – (१३)

यज्ञसे बचे हुए– शेष– प्रसाद–से जो जीवननिर्वाह करते हैं, ये संत, यथार्थ शास्त्र– प्रभु– परायण– लोग, सब पापोंमेंसे छूटते हैं । यज्ञके सिवाय अपने लिये जो पकाते हैं वे पापके पूतले पाप खाते (भोगते) हैं ।

यज्ञ तीन प्रकारका होता है :

(१) **आधिभौतिक यज्ञ**– यज्ञ एवं धर्मके छः अंग हैं– १ देश, २ काल, ३ द्रव्य, ४ कर्ता, ५ कर्म, ६ मंत्र । ये छः शुद्ध हों तो धर्म– यज्ञ सफल होता है । अभी कलियुगमें तो यह सब प्रायः शुद्ध नहीं मिलते हैं । “**यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा तदेव वीर्यवत्तरं भवति ।**” – श्रुति है। – विद्या वा श्रद्धा वा श्रुतिज्ञानपूर्वक जो कुछ करते हैं, वही समर्थ– संपूर्ण फलजनक होता है । “**ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति । विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा नाविदुषो भवेत्।**”– श्रीभागवत (१०–२४–६)– ज्ञानसे और अज्ञानसे मनुष्य कर्म करता है, वैदिकधर्म भी ज्ञानपूर्वक करनेवालोंको जो कर्म– सफलता मिलती है, ऐसी अज्ञानीको नहीं मिलती है। अतः छः शुद्धि एवं ब्रह्मज्ञान न होने से यज्ञ अपना रूप प्रकट

करता नहीं है, योग्य फल नहीं होता है। मात्र भूतसंस्कारक-यज्ञ होता है! अग्निमें होममात्र करना आधिभौतिक होता है। द्रव्ययज्ञ उसको कह सकते हैं। स्वर्गादिसे लेकर, यज्ञका मुख्यफल है- भगवान्!

(२) **आध्यात्मिक यज्ञ**- अंतःकरणको मुख्य रखकर देहेन्द्रिय- संयोगसे शास्त्रसंस्कार देना यह आध्यात्मिक यज्ञ है। तपोयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञादि इसमें आते हैं। यथायोग्य वे सिद्ध होने पर फल होता है,- स्वान्तःशुद्धि! इसके बाद ज्ञानप्राप्ति, फल होता है- मोक्षावधि! विषय- इन्द्रिय- मन- बुद्धिका उत्तरोत्तर होम करते अंतमें ब्रह्ममें होम करते हैं।

(३) **आधिदैविक यज्ञः**- भगवानके मुखमें प्रदीप्त अग्नि होता है। "**मुखमग्निरिद्धः**-" श्रीभागवत (२-१-२९) भगवानके मुखमें- अग्निमें होम करना- भगवानको भोग धरना- आरोगाना-यह आधिदैविकयज्ञ है। भगवान् सबका आधिदैविकरूप हैं। भौतिकयज्ञमें अग्निमें विविध होम- पायस, समिधु, घी- प्रभृतिसे- श्रद्धापूर्वक किया जाता है। यजमान- ऋत्विक्- यज्ञक्रियामें लगे रहते हैं। विधि- शास्त्रनुसार होता हैं। क्रिया- समंत्रक होती हैं। पवित्रता- शुद्धि रखी जाती है। निष्कामभावसे यज्ञ उत्तम होता है, ज्ञानसहित विशेष उत्तम होता है। फल- मोक्षावधि है। लाभ अनेकको होता है। वैसे ही भक्ति- **भगवत् सेवारूप- आधिदैविक यज्ञमें,- भगवन्मुख- रूप प्रदीप्त- अग्निमें** विविध सामग्री- सखडी, अनसखडी, दुधघर, मेवा- प्रभृति- श्रद्धा- स्नेह-पूर्वक- भोग

धरी जाती है, अरोगवाते हैं। **घरकी मुख्यव्यक्ति- सेवक तथा स्वजनादि- सहायक** सेवातत्पर रहते हैं। सेवामें मंत्र- **प्रसंगानुकूल लीला-कीर्तन** होते हैं। **पवित्रता- शुद्धि अस्पर्शादि** रूपमें रखी जाती है। सेवामें तो मोक्षादि फलोंकी कामना भी नहीं होती है। **प्रकट भगवान् ही फल है।** माहात्म्य-लीलादि- ज्ञान हो तो उत्तम है। **भगवल्लीला- रसानुभव परम फल है।** लाभ भी अनेक को होता है। आधिदैविक- यज्ञरूप कृष्णसेवा तो सर्वशास्त्र सिद्धांत- सार है। प्रभुके भोगके बाद मिलनेवाला है- प्रसाद! होती है- प्रसन्नता! **असमर्पित वस्तुके त्यागपूर्वक कृष्णसेवा किसको कृतार्थ नहीं करती है ?!** अपने घरमें, अपने पैसेसे, अथवा कहीं बहार भी, खाना- पीना- पकाना वगैरह अपने लिये करे तो, वे तो पाप ही पकाते हैं, पाप ही खाते हैं, पापके पूतले हो जाते हैं। यज्ञ- भगवान्-के लिये रसोइ आदि हो तो वह पाप नहीं, पुण्य नहीं, सेवा ही हो जाती है। क्रिया- वस्तु तो प्रायः समान ही होती हैं- पकानेमें! उद्देश बदल जाने से फलादि भी बदल जाते हैं। अपने लिये रसोइ करना- पाप है। प्रभुके लिये रसोइ आदि करना यह तो सेवा है, जीवनका बल है- फल है।

यज्ञात्मक- कर्मसे भी कुहतार्थता :

यज्ञसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न, अन्नसे प्राणीमात्र उत्पन्न होते हैं, पुष्ट होते हैं। यज्ञ कर्मसे, कर्म वेदसे, वेद अक्षरब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं। इसलिये व्यापक ब्रह्म यज्ञमें प्रतिष्ठित है।

यह उत्पत्ति– स्थिति– पोषण– चक्रको नहीं चलानेवाला, अपने शास्त्रानुसार न जीनेवाला, तो इन्द्रियाराम (भोगरत), अघायु– (पापमय– जीवनवाला), व्यर्थ जीता है । परमात्म– प्रीतिवाला, परमात्म– तृप्त मानवको कुछ करनेका रहता नहीं है । उसको तो कर्म करनेसे, न करनेसे, कुछ प्रयोजन नहीं है, किसीसे स्वार्थसंबंध नहीं है । इसलिये आसक्तिरहित, निरंतर, करने योग्य, आवश्यक, कर्मका आचरण करता हुआ मुक्ति प्राप्त है । राजा जनक– वैदेही प्रभृति कर्मसे ही सिद्धिको प्राप्त हुए हैं । भक्तको भी लोकसंग्रह (लोककल्याण) को देखकर कर्म करने योग्य हैं। उत्तम पुरुष जो कुछ भी करता है, जो प्रमाण (यथार्थ) ठहराता है, लोक उसको ही अनुसरते हैं ।

कामनारहित कर्म :

प्रभु कहते हैं,– त्रिलोकमें मेरा कुछ भी कर्तव्य– प्राप्तव्य न होने पर भी मैं कर्म करता रहता हूँ । यदि न करूँ तो लोग मेरे मार्ग को अनुसरें । लोक नष्ट हो जाय । संकरका कर्ता तथा प्रजा– घातक मैं हो जाऊँ । संसारासक्त अज्ञानलोग जैसे कर्म करते हैं, ऐसे ही अनासक्त– विद्वान्– लोकसंग्रहके लिये कर्म करें । अज्ञोंको बुद्धिभेद (कर्ममें अश्रद्धा, अन्य– समझ) न करावें, विज्ञ युक्तिपूर्वक योग्य कर्म करें ।

प्रकृतिके गुणोंसे किये जाते हुए कर्मोंको अहंकारसे विमूढ अंतःकरणवाला अपने किये हुए मानता है । तत्त्वज्ञ तो, इन्द्रियनिष्ठ– गुण, विषयनिष्ठ– गुणमें प्रवर्तित होते हैं,– ऐसा

मानकर आसक्त नहीं होता है । प्रकृतिके गुणोंसे मोहित, अल्पज्ञ, मूर्खलोगोंको संपूर्णज्ञानी चलित न करें ।

मन– बुद्धि– चित्त– अहंकार– मेरेमें (कृष्णमें) रखकर, सबकर्म मुझे (कृष्णको) समर्पण कर दें । आशा– ममता– रहित होकर, खेद छोडकर, युद्ध (आवश्यक कर्म) कर । मेरे यह मतको आचरण करें, वे श्रद्धायुक्त, असूया (गुणोंमें दोषबुद्धि)– रहित, लोग कर्मोंसे मुक्त होते हैं । जो नहीं अनुसरे वे मार्गभ्रष्ट होतें हैं ।

स्वधर्मसे धन्यता :

ज्ञानी भी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही चेष्टा करते हैं । अपने पेट– प्रकृतिसे कोई छूटकारा पाता नहीं है । माया ज्ञानीओंको भी मोह कराती है । सब स्वभाववश है, तो निग्रह क्या करेगा? इन्द्रियोंका इन्द्रियोंके विषयोंसे राग– द्वेष व्यवस्थित है । इस राग–द्वेषकी वशमें न आना ! कल्याणशत्रु ये दो है । अपना धर्म विगुण होने पर भी, यथार्थ अनुष्ठान किये हुए परधर्मसे तो अधिक कल्याणकारक है । परधर्म तो अधर्मकी शाखा है। स्वधर्ममें मृत्यु कल्याणरूप है, परधर्म भयावह है । "**विधर्भः परधर्मश्च आभास उपमा छलः । अधर्मशाखाः चंचेमा धर्मज्ञोऽधर्म– वत्त्यजेत् ।।**" – श्रीभागवत (७–१५–१२)– १. **विधर्म**– अपने अपने वर्णाश्रमधर्मसे विरुद्ध हो, धर्मबाध हो वह, २. **परधर्म**– अन्यके जो वर्णाश्रधर्म हो वह अपने लिये पर है, ३. **आभास**– विधिवाक्य बिना किया गया कार्य, धर्म

जैसा लगे– धर्म न हो, मात्र स्वेच्छासे किया हुआ आश्रमभिन्नक्रम, ४. **उपमा**– पाखंड, ५. **छल**– (शास्त्र) शब्दोंके मनमाने अर्थ । ये पांच अधर्मशाखासे बचकर ही धर्म करना चाहिये ।

पापाचरणका मूल– काम :

अर्जुनने जिज्ञासा की,– पुरुष किसकी प्रेरणासे पाप आचरता होगा ? भगवानने क्रम बताया,– रजोगुणसे उत्पन्न यह काम है, यह क्रोध है । वह अत्यंत भोगसे भी तृप्ति नही पाता है, महापापी है, वैरी है । जैसे, १. धूलसे आवृत्त अग्नि, २. मल से आवृत्त अरीसा, ३. उल्बसे आवृत्त गर्भ हो,– ऐसे कामसे ज्ञान ढका हुआ रहता है । इन्द्रिय– मन– बुद्धि कामके स्थान है । ज्ञानको ढकके काम मन– इन्द्रिय– बुद्धिसे जीवको मोह कराता है । इसलिये पहेले इन्द्रियोंका नियंत्रण करके, ज्ञान– (शास्त्रीय ज्ञान– भक्ति), विज्ञान– (अनुभव)– नाशक कामको मार दें । इन्द्रियोंको बलवती कही है । इन्द्रियोंसे मन बलवान् है। मनसे बुद्धि और बुद्धिसे पर प्रभु है । यहाँ, प्रकरण– संगति "**सः**" – वह "**काम**" आता है, परंतु शास्त्रर्थ– संगतिसे "**सः**"से– "**भगवान्**" आते हैं । भगवान्– आत्मा–को बुद्धिसे पर जानके, मनको बुद्धिसे नियंत्रित करके, कामरूप शत्रुको मार दें ।

अध्याय–४ : ज्ञानकर्मसंन्यासयोगः श्लोक– ४२

भगवानका स्वमार्ग–स्थापन :

सर्वसमर्थ– सर्वज्ञ– भगवान्, स्वेच्छासे स्वलीलार्थ एक और

अद्वितीय होते हुए भी, लीलाके अनुरूप हो जाते हैं । अनेकरूप–नाम–विभेदसे क्रीडा करते हैं । जडचेतन सब रूपसे अविकृत आप ही बिराजते हैं । विश्वरूपमें विविध विहार करते हुए भगवान्, विश्वमें भी विचित्र विहारके लिये, विश्वस्थ और विश्वस्त जनोंके विषाद–विपरीतता दूर करके, आनंदप्रदान करते हुए, सत्यसंधोंमें धर्म–स्थापन करनेके लिये, भक्तिदानके लिये, अवतार लेके पधारते हैं, प्रकट हो जाते हैं। विश्वको अपनी लीला–जीवनीसे और उपदेशसे दिव्य जीवनमंगल– मार्गदर्शन देते हुए,– स्वप्राप्तिके मार्ग यथाधिकार बताते हैं । उनका जीवन भी कवन होता है, कार्य–स्तवन होता है । सहिष्णुतासे स्वजनोंको स्नेह देते हुए, समजाते हुए, क्षमा करते हुए, सन्मार्ग पर चलाते हुए, गिरे तो उठाते हुए, न माने तो मानसे मनाते हुए, स्वयं सुलभ होते हुए, स्वमार्ग–संस्थापन करते हैं– कृष्ण!।

अर्जुनको तृतीयाध्यायमें कर्मयोग स्नेहसे समजाया । सहिष्णुता–से शंका–समाधान दिया । यज्ञ–सिद्धांत बताते हुए, अपना व्यापकरूप होनेसे समाजरूप प्रति व्यवहार तथा व्यक्तिरूपमें जीवनव्यवहार व्यक्त बताया । "**कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा**"– कर्म (मुख्य) एक ही है,– प्रकट– लीला विशिष्ट भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा ! तदनुरूप जीवनयापनके लिये उसमें कहा,– अवरोधक कामका त्याग !

परंपराकी महत्ता :

अब, बताई हुई बातमें विश्वास होनेके लिये चतुर्थाध्यायमें–

कर्मयोगकी परंपरा बताते हैं,–

"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।" –(१)

यह अव्यययोग मैंने विवस्वान्– सूर्य– को कहा था । विवस्वानने मनुको कहा था । मनुने इक्ष्वाकुको कहा था ।

कई लोगोंको परंपरामें विश्वास होता है, परंपराको बतानेसे विश्वास होता है । प्रायः विश्वस्त– परंपरा होती है,– १. वंशपरंपरा, २. शिष्यपरंपरा । औषनिषत्कालसे ये परंपरा प्रसिद्ध है । संसारी लोग अपनी वंश–परंपरा में घर – खेत– पैसा– जेवर– आदि देते हैं । ऋषिजन अपनी परंपरामें ज्ञान– मंत्र– कर्म– जीवनमंगल– पद्धति– सदाचार– आदि देते हैं । वैष्णव– वृन्द अपनी वंशपरंपरामें अपने गृहस्थित भगवान्– सेवा– कथा– सत्संग– आदि जीवनसंस्कार देते हैं ।

ऐसी परंपरासे जीवनव्यवस्था बनी रहती है । नहीं तो सब तितर– बितर हो जाता है । कई लोगोंको प्राचीनतामें– परंपरामें, प्राचीन होने मात्रसे, आदर– विश्वास– नहीं होता है । अर्वाचीनता का भी आदर– विश्वास– कई लोग करते हैं । अर्वाचीनमें भी जो उत्तम– प्रमाणिक– होता है वह भी आदर– विश्वास– पात्र होता है । दोनोंके सामंजस्यसे विशेषलाभ होता है । भगवानने प्राचीन– परंपराके साथ– **"स एवायं यथा तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।"**– (३) में अभी कहनेसे– अर्वाचीनता भी कही ।

श्रीभागवत–परंपरा :

श्रीभागवतमें भी, परीक्षितको विश्वास हो इसलिये, श्रीशुक–देवजीने अपनी परंपरा बताई है,– **"अधीतवान् द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम् ।"**– (२–९–८) । द्वापरयुगके आरंभमें पिताजी कृष्णद्वैपायन व्यासजीसे मैंने यह श्रीभागवतका अध्ययन किया था । उनकी पूरी परंपरा प्रसिद्ध है । भगवानने वैकुंठमें ब्रह्माजीको कहा । ब्रह्माजीने सत्यलोकमें नारदजीको कहा । नारदजीने सरस्वतीतट पर व्यासजीको कहा । व्यासजीने अपने **"शम्याप्रास"**– आश्रममें श्रीशुकदेवजीको पढाया । श्रीशुकने गंगातट पर स्वानंदसे भक्त परीक्षितको, वैष्णवप्रियतासे ऋषि–गणको और करुणासे संसारीओंको सुनाया । उस समय सूतजीने सुना और बादमें नैमिषालयमें सुनाया– शौनकादि ८८००० ऋषियोंको ! यह शब्दपरंपरा है । श्रीभागवतकी अर्थ– परंपरा भी प्रसिद्ध है,– भगवान् श्रीशेषनारायणने पातालमें सनत्कुमारोंको सुनाया । सनत्कुमारोंने सांख्यायनको, सांख्यायनने पराशर और बृहस्पतिको, पराशरने मैत्रेय मुनि और पुलत्स्यको सुनाया । मैत्रेयजीने विदुरजीको सुनाया । दोनों– शब्दार्थ– परंपराओंमें भेद नहीं है ।

कर्मयोगकी परंपराः कर्मयोगी– सूर्यदेव :

क्षत्रियोंका विद्या–प्रदान :

भगवानने यहाँ कर्मयोग– परंपरा बताई,– "मैंने सूर्यदेवको कहा था !" उत्तम– विद्याप्रदान– परंपरामें स्वसद्गुरुपरंपराका

गौरव होता है– सच्छिष्यको ! और स्वसच्छिष्य– परंपराका गौरव होता है– सद्‌गुरुको ! भगवानका ऐसा सच्छिष्य है– सूर्य– यथार्थ कर्मयोगी ! किसीसे कुछ भी अपेक्षा रखे बिना, अनासक्त रह कर, सतत, नित्यनियमित, निष्कामभावसे भगवत्सेवाके रूपमें, प्रकाश सबको देता है– सूर्य ! न किसीके प्रति राग हैं, न द्वेष ! उष्मा– ज्ञान– मार्गदर्शन– विकास– जीवन– क्रमबद्धता– पोषण– अंधकारप्रभृतिदोष– निवारणादि भी कर देता रहता है– सूर्य ! सूर्य– विवस्वान्– ईक्ष्वाकु– यह परंपरा सूर्यवंशके राजाओंकी हुई । क्षत्रियोंमें यह योग प्रसिद्ध था। "**राजर्षयो विदुः ।**"– (२) राज्य– भोग– युद्धादिमें व्यस्त रहने पर भी कई राजन्योंको यह योग ज्ञात था । उपनिषदकी कई विद्याओंका प्रदान क्षत्रियोंका भी है । यह विद्यासे राजालोग उनके सानुकूल– प्रतिकूल– प्रसंगोमें भी सदा स्वस्थ– प्रसन्न रहते थे । मानसिक तनाव वा आघातके बिना ही प्रसंगोंको पचा देते थे । वैभव– विलास– युक्त राजा होते हुए भी मंत्रदृष्टा ऋषिकी तरह स्वधर्म– निरत, संयमशील, तत्त्वदृष्टा भी वे थे! ऐसे क्षत्रिय राजर्षियोंके पाससे यह (विद्या)– योग ब्राह्मण्पोंके पास आया था । परंतु परंपरा– प्राप्त यह योग– (विद्या)– दीर्घकालमें नष्ट हो गया । यहाँ "**नष्टः**"– शब्दका अर्थ अस्तित्व न रहा, ऐसा नहीं है । "**णश् अदर्शने**"– धातुपाठ है । नाशका अर्थ होता है– दृष्टिगोचर न होना !– प्रकट न रहना– लोकप्रचारमें न रहना ।– कालप्रवाहमें यह कर्मयोग लुप्त– अदृश्य– अप्रचलित हो गया था, है तो– "**अव्यय**"– (१) –नित्य रहनेवाला ! भगवान् नित्य है, लीला नित्य है, जगत् नित्य है, वेदादि शास्त्र– सिद्धांत भी नित्य है । भगवदिच्छासे काल– प्रवाह– क्रममें आविर्भाव– तिरोभाव होता रहता है ।

शुद्धभावमें भाषाकी गौणता :

अर्जुनने अपने प्रियगुरु श्रीकृष्णके वाक्योंमें किसी अज्ञानी–को कुछ असंगति न लगे इसलिये, स्पष्टताके लिये, पूछा,– "आपका जन्म तो अभी पीछे हुआ है, सूर्य तो पहले हुआ है, तो कैसे जानुं कि आपने उसको पहले कहा था ?" अर्जुन सरल हैं– स्नेहयुक्त है– श्रद्धालु है, परंतु तर्कशुद्ध बातका आग्रह रखता है । श्रद्धाविशुद्ध– बुद्धिसे ही यथार्थ बोध होता है,– केवल बुद्धिसे नहीं, केवल मूर्खोंकी श्रद्धा (?)से भी नहीं । भगवान् अर्जुनका हृदय जानते हैं । अर्जुन भगवानका हृदय जानता है। इसलिये कोई अन्यथा समझ होती नहीं है । भाव शुद्ध होता है, तो भाषा गौण हो जाती है ।

अवतारलीला– रहस्य– दर्शन :

भगवानने स्नेहसे समाधान देते हुए, अवतार– रहस्य भी खोल दिया,– "मेरे और तेरे अनेक जन्म व्यतीत हो गये हैं, उन सबको मैं जानता हूँ, तू नहीं !"– अर्जुनने इस विषयमें न शंका की, न कोई प्रमाण माँगा ! श्रद्धा– विशुद्ध– बुद्धिसे स्वीकार कर लिया । भगवानने आगे कहा,–

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।।"– (६)

"मैं जन्मरहित होता हुआ भी, अविनाशी, सब भूतोंका नियामक (ईश्वर) होता हुआ भी, मेरी प्रकृतिको आधार बनाके आत्ममायासे प्रकट होता हूँ ।"

भगवान् भक्तके बिना रह न सके, भक्तके दुःख सहन न कर सके, तब स्वयं अवतार लेकर पधारते हैं । व्यापिवैकुंठमेंसे भगवानका भक्तके पास प्रकट होना– पधारना– यह अवतार है। देव, मानव, पशु या मिश्र जातियोंमें भी भगवान् अवतार लेते हैं । असुरवध– भूमारहरणादि– कार्य तो प्रभु अवतार लिये बिना ही कर सकते हैं । स्वजनोंको भी सामर्थ्य देकर करा सकते हैं । भक्तकार्यके लिये ही भक्तवश भगवान् स्वयं पधारते हैं । पुराणोंमें भगवदतारोंके जहाँ पर भी वर्णन हैं, वहाँ, प्राकट्यसे पहले ब्रह्मादिदेव स्तुति करके लौट जाते हैं, बाद में ही प्रभुका प्राकट्य होता है ! प्रभु ज्ञानी– योगी– कर्मी– धार्मिकोंके लिये प्रकट नहीं होते हैं । ज्ञानीको ज्ञान वा मोक्ष चाहिये, योगी को योग वा सिद्धि वा मोक्ष चाहिये, कर्मी को कर्मफल, लौकिक वा पारलौकिक चाहिये, धार्मिकको धर्मफल– सुखशांति– समृद्धि चाहिये, इनमेंसे भगवान् किसीको कहाँ चाहिये ?! संसारी तो सामान्यतः दुःख दूर करनेमें, सुख प्राप्त करनेमें लगे रहते हैं, भगवानके लिये विचार भी कहाँ होता है?! भक्त तो केवल भगवानको ही चाहते हैं, ओर कुछ चाहते ही नहीं हैं । उन अनन्य– भक्तोंके लिये भगवान् प्रकट हो जाते हैं। प्रकट पधारना, भक्तकार्य करना, साथ साथ ही समाजकार्य भी कर लेना, तो भगवानके लिये खेल मात्र है, लीला है ।

अनायास हर्षसे होती हुई चेष्टा है– लीला ! अक्षरब्रह्म, काल, कर्म, स्वभाव, तत्त्वादि– रूपोंसे भी भगवान् ही अवतरित होते हैं, परंतु उनमें स्वेच्छालीला स्पष्ट नहीं है । भगवानकी दो प्रकारकी भूतलीला । "**एतस्माज्जायते प्राणः–**" (इसमेंसे प्राण होते हैं)– श्रुतिमें साक्षाद्रूपसे कही है तथा "**तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः ।**"– (उस वा इस आत्मामेंसे आकाश प्रकट हुआ) श्रुतिमें परंपरारूपसे कही है । भौतिकलीला भी दो प्रकार की होती है । विराड्– रूप ब्रह्मांडका निर्माण करके (पुरुषसूक्तानुसार) और ऐसा किये बिना (ऊपर श्रुतिमें कहनेके अनुसार) भगवान् अवतार लेकर पधारते हैं । अवतार लेकर प्रभु अपने वर्तन और वाणीसे जीवन– मंगल– मार्गदर्शन, धर्मशिक्षण, धर्मरक्षणादि करते हैं।

भगवान् पहले पुरुषरूपसे अवतार लेते हैं । बादमें नारायणके नाभिकमलमेंसे ब्रह्मजीके रूपसे द्वितीयावतार लेते हैं। प्रभुके अनेक बाहूदरवक्त्रनेत्रवाले रूपके दर्शन सबको नहीं होते हैं । ज्ञानदृष्टिसे योगिपुरुषोंको दर्शन होते हैं । वह पुरुषरूप (आदिनारायणं) सब अवतारोंके आधार रूप हैं, अव्यय है, उसमेंसे सब अवतार प्रकट होते हैं । अपना कार्य पूर्ण करके पुनः वह पुरुष रूपके अंदर आकर विराज जाते हैं । भगवानके दत्त– व्यास– कपिलादि अवतार ज्ञानशक्ति– युक्त हैं । वराहादि अवतार क्रियाशक्तियुक्त हैं । श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् है, पूर्ण पुरुषोत्तम है, इसके अंशमात्रमेंसे वह पुरुषरूप प्रकट होता है। श्रीकृष्णमें ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति संपूर्णरूपसे प्रकट हैं ।

नर – नारद – आदि आवेशावतार हैं, अमुक कार्यके लिये ही आवेश रहता है, भगवानकी क्रियाशक्ति बाह्य दुःखोंको दूर करती है । ज्ञानशक्ति अंदरके दुःखोंको दूर करती है । भक्तोंके उभयविध दुःखोंको दूर करनेके लिये भगवानके अवतार होते हैं । ब्राह्मण– क्षत्रिय– वैश्य– वर्णके धर्मोंके सूचक भी अवतार होते हैं ।

भगवानका अवतार और जीवोंका उद्धार :

भगवान् सच्चिदानंद– रूप है । वे स्वेच्छासे लीलाके कारण ही अवतार लेते हैं । अवतार है,– १. नीचे ऊतर आना, २. सोपान– परंपरा । भगवान् अपनी सच्चिदानंद– कक्षासे भक्तोंके लिये, विश्वजनकल्याण के लिये, सत्– कक्षा– चित्कक्षा– तक नीचे उतर आते हैं । भगवान् होते हुए भी जड– चेतन– धर्म– समता अपनेमें प्रकट करते हैं । जडपदार्थ एवं प्राणीमात्र के रूपमें आप ही प्रकट हो जाते हैं । उन सबमें उद्धारके लिये विशिष्ट रूपसे भी प्रकट होते हैं । उद्धारके लिये जीवोंकी कक्षा तक नीचे उतरकर, जीवोंकी बीचमें, साधर्म्य– प्रकट करके, आ जाते हैं– भगवान् ! ऐसे समान धर्मोंसे स्वकीयताका संपादन करके, स्वसामर्थ्यसे ऊँचे उठाते हैं– स्वकाय जीवोंको भगवान्! भगवानका आनंदमय– कक्षासे (अहंता– ममतात्मक) संसार– कक्षा तक ऊतरके नीचे आ जाना– यह अवतार है। संसारकक्षासे स्वकीय जीवको पुनः आनंद– कक्षा तक स्वकृपासे ऊँचे पहोंचाना यह– उद्धार है ।

अवतारलीलामें दुष्टवधमें पक्षपात वा क्रूरता नहीं है :

अवतार– कार्यसे समाजकल्याण :

"स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपैरभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा ।
परावरेशोमहदंशयुक्तो ह्यजोSपि जातो भगवान् यथाग्निः॥"

–श्रीमद्भागवत– (३–२–१५)

सच्चिदानंदरूप भगवान् किसीको मारे– किसीको तारे– फिर भी भगवानमें किसीके भी प्रत्ये भेददृष्टि नहीं है। जगत्– जगतमें अस्तित्व धराते हुए सब प्राणी, भगवानके ही स्वरूप हैं । इनमेंसे कोई उग्र है, कोई शांत है। जब अपने शांत स्वरूपोंको अपने उग्र– स्वरूप पीडा कराते हैं, तब उन शांत स्वरूपोंको सुख देनेके लिये और उग्र स्वरूपोंको शांत करनेके लिये, भगवान् अवतार लेकर पधारते हैं । सच्चिदानंद– स्वरूपमें अक्षरस्थित पुरुषोत्तम अग्निकी तरह प्रकाशते हैं । पिता जैसे अपने दोषवाले संतानोको उनके हितके लिये दंड देता है, ऐसे उग्रस्वरूपवाले असुरोंको प्रभु मारते हैं, फिर भी तारते हैं । पैरमें कंटक लगा हो, उसको निकालनेके लिये हाथसे दबायें, सूई लेकर हिलावे, तो वह क्रूरता है क्या ?! कंटक लगनेके कष्टको मिटानेके लिये गुड गरम करके लगावे तो क्रूरता है क्या ?! वे तो सब सुखोपचार हैं । ऐसे ही, कंटक जैसी असुरताको निकालनेके लिये, अपने ही अंगभूत, आत्म-सृष्टि– रूप, असुरादिको प्रभु संहारते हैं, उसमें कोई भी पक्षपात नहीं है । क्रूरता भी नहीं है।

पूर्णरूपसे अवतारः

भगवानने अवतार लेनेका प्रकार कहा,– "**अजोऽपि सन् संभवामि ।– अजः सन् एव संभवामि ।**"– मैं अजन्मा होता हुआ भी, अजन्मा रहता हुआ ही, उत्पन्न होता हूँ । सब विरुद्ध धर्मोंका आश्रय भगवान् है, भगवानमें विरुद्ध धर्मोंका परस्परमें विरोध नहीं होता है । और "**अव्ययात्मा**"– होनेसे, उत्पन्न होकर मेरेमें कोई विकृति आती नहीं है, मेरेमें जन्म-मरणादि प्राकृत देहधर्म नहीं होते हैं। जन्म लेनेसे ब्रह्मकी ब्रह्मता, परमात्माकी परमात्मता, ईश्वरकी ईश्वरता, भगवानकी भगवत्ता, अजन्माकी अजन्मतामें कोई बाधा नहीं होती है । "**संभवामि**"– कैसे भी– कितने भी– कभी भी– कहाँ पर भी– **संभव**– यही का यही हो जानेसे, अवतार लेनेसे,– भगवानके स्वरूपसें तनिक भी विकृति नहीं आती है । क्योंकि सर्वसमर्थ, (सर्वभवन-समर्थ, सर्वकरण– समर्थ), सर्वज्ञ, अप्राकृत, सर्वात्मा भगवान् अपनी प्रकृतिको अधिष्ठान बनाकर जन्म लेते हैं । सांख्योंकी त्रिगुणात्मिका– यह प्रकृति नहीं है । "**स्वां– प्रकृति**"– अपनी आनन्दात्मिका– प्रकृष्टकृति– रचना– शरीर– आकृति– को आधार बनाकर– "**आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः**"– आनंदमय भगवान् आनंदावयववाले– प्रकट हो जाते हैं । भगवान्– भगवानका रूप, भगवानके देहेन्द्रियादि, प्राकृत– त्रिगुणात्मक– जड– सदोष– नहीं हैं, अप्राकृत, आनंदात्मक, निर्दोष ही हैं । आकार होते हुए भी विकार नहीं होता है । श्रीशंकराचार्यजीके परमगुरु श्रीगौडपादाजी कहते हैं,– "**देषस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ।**"– लीलापरायण देवका तो यह स्वभाव है,– शासन करना, लीला करना ! नहीं तो आप्तकामको क्या स्पृहा होती है ? आदत है– स्वभाव है– निजसत्ता है–, प्रकट होतें हैं !

माया तो भगवानका सामर्थ्य है :

यह भगवान् प्रकट होते हैं,– "**आत्ममायया।**"– अपने ही सामर्थ्यसे ! "**स आत्मानं स्वयमकुरुत।**" ।– (उसने अपने आपको स्वयं बनाया ।) तथा "**स सर्वमभवत् ।**" (वह सर्वरूप हुआ)– श्रुतिसे भगवान् अपनेको अपने आप ही सबकुछ बनाते हैं, वे सबकुछ जड– चेतनादि– अंतर्यामी– अवतारादि– रूपसे बनते हैं । काल– कर्म– स्वभाव– प्रकृति– पुरुष– परमाणु– माया– अविद्या– वासनादि किसीकी भी जरूरत– सहाय–के बिना ही, अपने ही सामर्थ्यसे भगवान् सब कुछ हो जाते हैं। भगवानकी माया भगवानकी शक्ति है,– भगवानको मोह करानेवाली, ढकदेनेवाली नहीं है । भगवानकी वशमें रह कर, सेवा करनेवाली दासी है– माया ! यह आत्ममायाको तो साधन बनाते हैं– भगवान् ! कर्ता तो स्वयं आप– भगवान्– ही हैं इसलिये "**आत्ममायया**"– में तृतीया– विभक्ति है । "**आत्माऽभिन्नया मायया**"– अपनेसे अभिन्न यह माया है– भगवानका स्वरूप– सामर्थ्य है–, सर्वभवनसामर्थ्य है ।

अन्यमतमें अवतार– विचार :

जैनमतमें– बौद्धमतमें ईश्वर ही होता नहीं है, तो कौन–

कैसे कहाँसे उतरेगा ?– अवतार लेगा ? वहाँ जीव शुद्ध होकर ऊँचीदशामें जाता है,– बुद्ध होता है– तीर्थंकर होता है । ऊर्ध्वस्थितिमें जीवका प्रकाश फैलता है, यह तो जीव– चैतन्यका ज्ञानधर्म है, प्रकाश– धर्ममें जीव स्थिति करता है, वह तो सांख्यमोक्ष– सदृश हुआ । उसके रूपमें तो जीवका उत्तार होता है– उत्थान होता है, ऊपर जाना होता है । ईश्वरका अवतार– उतरना– नहीं होता है । ईसाई और यवनोंके मतमें ईश्वर तो है, वह सर्वज्ञ नहीं है, सर्वसमर्थ नहीं है ! निराकार है– साकार नहीं होता है । उनमें भी भगवानका अवतार नहीं है । आर्यसमाजके मतमें भी ईश्वर तो है, परंतु अवतारकी क्षमता नहीं है । ब्रह्माकुमारीके मतमें ईश्वर तो है, परंतु बिंदु– मात्र है, स्वयं कुछ नहीं कर सकता है, किसीके माध्यम– शरीरकी अपेक्षा करता है। अतः वहाँ भी अवतार नहीं है । सर्वसमर्थ तो हमारा ही ईश्वर है । हमारा ईश्वर सबकुछ कर सकता है, सबकुछ हो सकता है, सबकुछ जानता है ! “**कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थः ईश्वरः ।**”– करनेके लिये, न करने के लिये, अन्यथा करनेके लिये, जो समर्थ है,– जो सर्वसमर्थ है,– वह ईश्वर है । हमारा ईश्वर तो मछली हो सकता है, कछुआ हो सकता है, आधा नर– आधा सिंह–नृसिंह– हो सकता है !

जगतका अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है– ब्रह्म ! :
ब्रह्मका अविकृत– परिणाम है– जगत् :

“**स आत्मानं स्वयमकुरुत ।**”, **सर्वं स्वल्विदं ब्रह्म ।**”, “**स सर्वमभवत्**”– आदि श्रुतियाँ, “**वासुदेवः सर्वम्–**” गीताजी, “**जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात् ।**”– ब्रह्मसूत्र तथा “**जन्माद्यस्य** यतोऽन्वयादितरतः– ।” श्रीभागवत– एकवाक्यतासे उद्घोष करते हैं,– यह जगतका अभिन्ननिमित्तोपादान–कारण ब्रह्म ही है । जो अभिन्ननिमित्तोपादान– कारण होता है,– वही सर्वसमर्थ होता है, सब कुछ हो सकता है, सबकुछ कर सकता है । किसीका ईश्वर जगतका निमित्त– कारण ही है, उपादान– कारण नहीं है, तो उसमें तो आकार कहाँसे संभव है ?! कोई लोगके मतमें– आकार तो है, परंतु वह तो विवर्त है, वहाँ वास्तव– वेद्य क्या रहेगा ? जगत् ब्रह्मका परिणाम है । “**उपादान– समसत्ताककार्यापत्तिः परिणामः**”।– उपादान– कारणकी समसत्ताक– कार्यापत्ति परिणाम है । इसमें भी जगत् तो ब्रह्मका अविकृत– परिणाम है । स्वेच्छासे, स्वसामर्थ्यसे जगद्रूप होने पर भी ब्रह्ममें कोई विकृति आती नहीं है । ब्रह्म स्वल्पांशसे जगद्रूप होता है, और जगद्परूसे पुनः ब्रह्मरूप भी होता है। यही होता है,– अविकृत– परिणामवाद ! जगतकी उपत्ति– स्थिति– लयमें, आदि– मध्य– अंतमें, वह ब्रह्म ही है। जगत ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, अभिन्न है । अभिन्न होनेसे ब्रह्मसत्यतासे जगत् सत्य है । साकार ब्रह्मसे ही सर्वत्र साकारता है ।

शास्त्रोंमें साकार– ब्रह्मवादका प्रसंग :

कहीं कथाप्रसंग चलता था ।– “**अंशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणि शंस नः ।**”– श्रीभागवत– (१०–१–२)– भगवान् सर्वत्र तो प्रकट नहीं हो गये, जहाँ आवश्यकता थी वहाँ ही

प्रकट हुएं । यह सर्वत्रकी अपेक्षामें अंश है; संकर्षणव्यूहसे वंशसंबंध किया, यह भी अंशसंबंध है । इतनेमें कोई वयोवृद्ध विद्वानने कहा,– "यहाँ "**अशुङ् व्याप्तौ**"– धातुपाठसे व्यापकका ही उल्लेख है ।" मैंने कहा,– "पीछे भी "विष्णु"– शब्दसे "**विश्लृ व्याप्तौ**"– धातुपाठसे पुनरूक्ति– दोष होगा ।" उसने कहा, "नहीं, निराकार– व्यापक ब्रह्म मायाशबल होकर ईश्वर होता है, वह अवतार लेता है, विष्णु भी होता है ।" हमने कहा,– "वेदोंमें साकारका प्रतिपादन है,– "**सहस्रशिर्षा पुरुषः**"– "(हजारों माथावाला पुरुष)"में स्पष्ट साकार वर्णन है । "उन्होंने कहा, "यह तो विराट्का वर्णन है।" हमने बताया– "**ततो विराड–जायत**"– से, यही सहस्रशिर्षामेंसे बादमें विराट्की उत्पत्ति कही है । पूर्वमें तो मूलभूत साकार ब्रह्मका ही वर्णन है। "वयोवृद्ध विद्वानने प्रमाणशुद्ध सत्यका स्वीकार सप्रणाम कर लिया । साकार ब्रह्म ही सर्वव्यापक है, स्वेच्छासे अवतार लेकर प्रकट हो जाता है । "लोक मेरे दर्शन करो,"– ऐसी इच्छासे दर्शन प्रभु सबको कराते हैं । केवल एकाद भक्तके लिये प्रकट होते हैं तो वह भक्त ही दर्शन कर सकता है । भगवदिच्छासे ही सबकुछ होता है । अवतारमें आकार भी स्वेच्छासे अविकृत ही है, विकार नहीं है ।

"**अज़ोऽपि सन्**–" में, संपूर्णज्ञान– क्रियाशक्तिवाले पूर्णावतारका उल्लेख है । "**यत्राधिष्ठानमनपेक्ष्य स्वयमेव शुद्धं साकारं ब्रह्माविर्भूवति भक्तार्थं स स्वयं पूर्णो भगवान् उच्यते।**"– अणुभाष्य– (३–३–३)। जहाँ अधिष्ठानकी अपेक्षाके

बिना ही, स्वयं शुद्ध साकार ब्रह्म, भक्तके लिये, प्रकट हो जाता है, स्वयं पूर्ण भगवान् उसको कहते हैं । "**यदा यदा हि धर्मस्य**–" में, ज्ञानशक्तिवाले आचार्य, ऋषि– आदि– रूपसे अवतार कहा है । "**परित्राणाय साधूनां**–" में, क्रियाशक्तिवाले अंश– अंशांश– कला– आवेशादिसे अवतार कहे हैं । इस प्रकारसे, भगवान् **अवतार** लेते हैं ।

अवतार कब होते हैं ? यह बताते हैं :

धर्मग्लानिके समय भगवानका भक्तज्ञानी– आचार्यादिके रूपमें प्रकट होनाः धर्मप्रचारक– रूपमें अवतार :

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।–" (७)

जब जब धर्मकी ग्लानि होती है, अधर्मका अभ्युत्थान होता है, तब तब ही मैं (मेरी) आत्माको सर्जता हूँ, प्रकट करता हूँ। जब जब का आशय है,– जब जब भी आवश्यक होता है, प्रभु चाहते हैं– तब तब । निश्चित समय न होने पर भी प्रभु प्रकट होते हैं । प्राकट्य– हेतु बताया है–, धर्मकी ग्लानि ! यहाँ धर्मका नाश नहीं कहा है, ग्लानि कही है । "**ग्लै हर्षक्षये**"– धातुपाठ है । धर्म तो भगवान् स्वधाम पधारे तब साथ ही गया है, भगवानके दक्षिणस्तनमेंसे हुआ है, शास्त्रमें प्रमाणनिष्पन्न, विधिविहित, चोदनालक्षण– धर्म है । उसका तो नाश नहीं होता है । यहाँ तो धर्मकी ग्लानि कही है ! जब जब धर्म करने पर भी हर्ष न होता हो, धर्म– धार्मिक क्रियाएँ बोझारूप हो जाते

हो, धर्म मोक्षके लिये नहीं– परंतु अर्थ– कामादिके लिये किया जाता हो, धर्म धंधाके रूपमें किया जाता हो, धर्ममें स्मय- संग– मद– असत्यसे अधर्मका ही रूप घूस गया हो, धर्ममें विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा, छल रूप अधर्म– शाखाओंका ही विस्तार हो गया हो, धर्ममें जब धर्मी भगवान् वा भगवच्छास्त्रोंकी उपेक्षा होती हो, धर्ममें विधि– प्रमाण नहीं सुविधा (स्वार्थ) ही मुख्य हो गई हो, तब तब होती है– धर्मकी ग्लानि ! साथमें होता है– अधर्मका अभ्युत्थान !– उत्त्पत्ति और वृद्धि ! तब तब मैं आत्माका सर्जन करता हूँ । “**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।**”– ज्ञानिभक्त मेरी आत्मा है ।– भगवानने कहा है ! भगवान् धर्मोपदेशके लिये अपनी आत्मा ज्ञानिभक्तको भेजते हैं । आचार्य– ऋषि– मुनि– आदिके रूपमें भी भगवान् विहरते हैं । यहाँ श्लोकमें असुरवधादि नहीं कहा है, इसलिए धर्म– हर्षके लिये तो धर्मगुरुके रूपमें प्रभु पधारते हैं । यह आत्माका सर्जन है ।

साधु– रक्षाके लिये भगवानके अशांशादि– अवतार :

“परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥”– (८)

साधु तो साधुतावाले होते हैं– लक्षणसंपन्न ! कपिलजीने साधुके १६ लक्षण बताये हैं । (१) “**तितक्षवः**”– दुःख- अपराध– सहनेवाले, (२) “**कारुणिकाः**”– दयालुतावाले, (३) “**सुहृदः सर्वदेहिनाम्**”– स्वाभाविकतासे सब प्राणीओंके हित करनेवाले, (४) “**अजातशत्रवः**”– किसीके प्रति शत्रुतासे रहित, (५) “**शान्ता**”:– चित्तमें लय– विक्षेप– रहित, स्वस्थचित्तवाले, (६) “**साधचः**”– सदाचारवाले, (७) “**साधुभूषणाः**”– साधुके संगरूप आभूषणवाले, (८) “**मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्।**”– भगवानमें अनन्यभावसे दृढभक्ति करनेवाले । (९) “**मत्कृते त्यक्तकर्माणः**”– मेरे लिये कर्मका त्याग करनेवाला, (१०) **त्यक्तस्वजन बान्धवाः ।**”– प्रभुके लिये ही प्रभुविमुख स्वजन– बन्धुजनका त्याग किये हुए, (११) “**मदाश्रयाः**”– भगवानके अनन्य – दृढाश्रयवाले, (१२) “**कथा–मृष्टाः श्रृण्वन्ति**”– कथासे उज्ज्वल, कथा सुनने वाले, (१३) “**कथयन्ति च**”– भगवत्कथा कहनेवाले, स्मरण करनेवाले, (१४) “**तपन्ति विविधास्तापाः नैतान् मद्गतचेतसः ।**” प्रभुचित्त होनेके कारण–, संसारके विविध संताप भी सताते नहीं ऐसे, (१५) “**सर्वसंगविवर्जिताः**”– सर्वसंगरहित, (१६) “**संग– दोषहराः**”– संगके दोषोंको दूर करनेवाले ।– ऐसे साधुजनोंकी सर्वरक्षाके लिये, दुष्टकर्मवालोंके विनाशके लिये, धर्म– संस्थापनके लिये, मैं युग– युगमें अवतार लेता हूँ । दुष्टदलनके लिये यहाँ दण्डकृद् रूपमें प्रभु अंश– अशांशादि– रूपमें प्रकट होते हैं। भगवान् धर्मसंस्थापन सर्वत्र सबमें नहीं करते हैं ।– “**धर्मश्च स्थापितः सत्सु सत्यसन्धेषु वै त्वया ।**”– श्रीभागवत (११–६–२२)– भगवानने साधुपुरुषोंमें तथा सत्य- प्रतिज्ञ– पुरुषोंमें धर्मका स्थापन कर दिया है । भगवान् युग– युगमें प्रकट होते हैं । “**युगेऽयुगे**”– युगमें, अयुगमें भी अवतार

होता है । कालके साथ भगवानका युगल होता है, इसको युग कहते हैं । कालके साथे छीपे हुए कृष्णको खोज- निकाले, वह तो धन्य हो जाता है, काल उसको क्लेश लेश भी नहीं करता है । भगवान् नियत समयमें अवतार लेते हैं, अनियत- समयमें स्वेच्छा वा भगवदीयेच्छासे भगवान् अवतार लेते हैं- प्रकट हो जाते हैं ।

अवतार- स्वरूप :

"**जन्मकर्म च मे दिव्यं**"- (९) भगवानके जन्म और कर्म दिव्य है। "**दिवु क्रीडाविजिगीषा व्यवहार द्युति स्तुति मोदमद -स्वप्न कान्तिगतिषु**"- धातुपाठ है । "दिवु"- क्रियापदके दश अर्थ हैं- क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गति । दिव्य- जन्म- कर्म है,- दशलीलाविशिष्ट- भगवानके !- दिव्य है,- लौकिक नहीं है, प्राकृत नहीं है । भगवानमें जड- प्रकृति- आदि दोष नहीं है । प्राकृत- देहेन्द्रिय- रहित और अप्राकृत- देहेन्द्रिय- सहित है- भगवान्- आनंदमय ! यह जो तत्त्वतः जानता है वह यह देहको छोडकर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता है ।- वह तो भगवानको ही प्राप्त होता है । भगवानका आश्रय लेकर, राग- भय- क्रोधसे रहित होकर, अनन्यभावसे प्रभुपरायण होकर, ज्ञानतपःसे पवित्र हुए बहुत लोक मेरे भावको- स्वरूपको- प्राप्त हो गये हैं ।

"**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।।**"- (११)

मुझको जो जैसी रीतिसे भजते हैं, उनको मैं ऐसी रीतिसे भजता हूँ । भगवान् तो दर्पण जैसे है, सामनेवाला जैसी मुख- भाव-मुद्रा करता है, वैसी ही प्रतिबिंबमें दिखाई देती है । हसने पर हसेगा, रोने पर रोयेगा, नाचने पर नाचेगा । भक्तके भावका ही प्रतिफलन भगवानमें दिखाइ देता है । प्रह्लादजी कहते हैं-:

"नैवात्मनः प्रभुरयंः निजलानपूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते ।
यद् यज्जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ।।"-

-श्रीभागवत- (७-९-११)

सर्वसमर्थ भगवान् तो अपने निजलाभसे ही परिपूर्ण हैं । उनको अपने लिये मानकी आवश्यकता नहीं है । वे करुण प्रभु अज्ञान- जनकी पूजा स्वीकारते हैं । जो जो मान लोग प्रभुको देते हैं, वे अपनेको ही मान देते हैं । जैसी मुखशोभा होती है, वैसी ही दर्पणमें होती है । मुख जैसा हो ऐसा प्रतिबिंब रूपमें दिखायगा । मुख सुशोभित होगा तो प्रतिबिंबि सुंदर दिखेगा ।

ज्ञानकर्म- संन्यास :

"कर्मफलापेक्षासे लोग देवताओंको भजते हैं, कर्मजा- सिद्धि तुरंत होती है । चातुर्वर्ण- व्यवस्था भी मैंने गुणकर्म- विभागसे की है । इसलिये मैं कर्ता हूँ । अहंकारादि- रहित होनेसे अकर्ता हूँ ।" "**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म- विभागशः ।**"- (१३) समाजकी स्वस्थ- उन्नत- स्थितिके लिये चारवर्णके रूपमें

प्रजाका विभाग भगवानने किया है,– गुण और कर्मसे । यह स्थूल है । पहले किया हुआ दैवासुरविभाग सूक्ष्म है । सत्त्वगुणकी मुख्यतावाले– ब्राह्मण,– शम– दमादि– उनके कर्म। सत्त्वरजः– वाले– क्षत्रिय, शौयादि उनमें होते हैं । रजस्तमःवाले– वैश्य, कृषि– वाणिज्यादिकार्य । तमःमुख्यतावाले, शूद्र । कार्य–द्विज– शुश्रुषा । भगवान् बुद्धि– बल– धन– सेवाको समाजमें सुचारु रखनेका यह उपाय बताते हैं । "मुझे कर्मफलकी स्पृहा नहीं है, कर्मलेप नहीं है । जो मुझे ऐसे जानता है, उसको कर्मबंधन नहीं होता है । यह समझकर पूर्वमें भी मोक्षच्छुओंने कर्म किये हैं । तू भी कर ! क्या कर्म ? क्या अकर्म ? उसमें विज्ञोंको भी मोह होता है । (कर्तव्य– विहित)–कर्म, (निषिद्ध)– विकर्म,– (अकर्तव्य– अविहित)– अकर्म,– जानने चाहिये । कर्मकी गति गहन है।"– "**गहना कर्मणो गतिः ।**" (१७) "**कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।**"– (१८)– बुद्धिमान् यह है कि जो भगवत्संबंध वा भगवदाज्ञाके बिना विकर्ममें अकर्तव्य समझें–– तथा भगवदाज्ञासे अकर्ममें कर्तव्य समझता है । जिसके सब कार्यारंभ फलेच्छा और कर्तृत्व संकल्पसे रहित है, ज्ञानाग्निसे कर्म जल गये है, इसको ज्ञानिलोग भी पंडित कहते हैं । भगवान् सिवाय अन्यके आश्रयसे रहित, प्रभुमें तृप्त, कर्म–फलकामना एवं कर्तृत्वाभिमानका त्याग करके कर्ममें जो प्रवृत्त है वह कुछ भी करता नहीं है । लौकिक– आशा– रहित, मन–तनको संयममें रखनेवाला, सब योग– साधनोंको त्यजनेवाला, मात्र शारीर– निर्वाहके लिये कर्म करे, फिर भी दोषको प्राप्त नहीं होता है । भगवदिच्छासे जो मिले इसमें संतुष्ट, रागद्वेषादि–द्वन्द्व– रहित, इर्ष्या– रहित, सिद्धि– असिद्धिमें समान भाववाला, कर्म करने पर भी बंधनको प्राप्त नहीं होता है। संपर्क वा आसक्ति– रहित, मुक्त, ज्ञानमें स्थिर चित्तवाला, यज्ञके लिये कर्म करनेवालाके कर्म समग्र फलके साथ नष्ट हो जाते हैं ।

"**एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः ।**

त एवात्म–विनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे ।।"–
श्रीभागवत (१–५–३४)– मानवके सब कर्म संसारमें कारणरूप होते हैं । वही कर्म प्रभुके लिये करने पर नष्ट हो जाते है– फलजनक नहीं होते हैं । यही सच्चा कर्मयोग है,– कर्मोंको प्रभुसे जोड देने ! भगवानकी सेवा ही यथार्थ कर्मयोग है,– निष्कामता इसमें पृष्टलग्न है। इसमें विशेष तो कृष्णकामना है!

सबकी ब्रह्मरूपता : ब्रह्मवाद :

"**ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।**"

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।।"– (२४)

जिसको अर्पण करनेके साधन स्रुक्– स्रुव्– मंत्रादि ब्रह्म है, होमद्रव्य भी ब्रह्म है, ब्रह्मरूप अग्निमें– ब्रह्मरूप– होताने-होम किया हुआ भी– ब्रह्म है, ब्रह्मरूप कर्ममें समाधिस्थ हो उसका प्राप्तव्य (गन्तव्य) भी ब्रह्म ही है। यज्ञमें सब यज्ञरूप ही है,– यह ब्रह्मवाद है। सेवामें सब सेव्य– भगवत्स्वरूप– रूप ही है। जगतमें सब ब्रह्मरूप ही है । यही दृष्टिकोण वा ज्ञान–पूर्वक किये गये कर्म विशेष फलद होते हैं ।

विविध यज्ञः

(१) कई कर्मयोगी लोक (कर्मी)– देवता पूजनरूप– दैव–यज्ञकी उपासना करते हैं ।
(२) " (ज्ञानी)– ब्रह्मग्निमें यज्ञ (आत्मा)से (यज्ञ) (आत्मा)का होम करते हैं ।
(३) " (ब्रह्मचारी)– श्रोत्रादि इन्द्रियोंका संयमाग्निमें– "
(४) " (गृहस्थ)– शब्दादि विषयोंका इन्द्रियाग्निमें– "
(५) " सर्व–इन्द्रियकर्म, प्राणकर्म– आत्मसंयम–योगाग्नि – " ।

द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय–यज्ञ, ज्ञानयज्ञ, कई लोग करते हैं । कई लोग अपानमें प्राण–प्राणमें अपानका होम करते हैं । कई लोग, प्राणायाम–परायण, प्राणापान–गतिको रोधते हैं । कई लोग नियमिताहारवाले अंदर रोके हुए प्राणमें प्राणों (कर्म– ज्ञान– इन्द्रियों तथा कार्यों)को होमते हैं । (प्राणायामसे इन्द्रियोंको वश करनेका प्रयत्न करते हैं ।) ये सब यज्ञज्ञ, यज्ञसे नष्ट दोषवाले, यज्ञका अवशिष्ट–अमृत– खानेवाले,– सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं । यज्ञरहित लोंगोको इस लोकमें भी सुख नहीं है । अन्य लोककी तो बात ही क्या ? इसप्रकार अनेक–विध यज्ञ वेदके पूर्वकांडमें विस्तृत हैं । वे सब कर्मज (शरीर– मन– इन्द्रियसे होनेवाला) लौकिक– पदार्थोंसे होते द्रव्ययज्ञोंसे ज्ञानयज्ञ उत्तम है। सब कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं ।

ज्ञानप्राप्तिका एक प्रकार :

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।।" (३४)

इस ज्ञानको प्रणिपात (शिष्यत्त्व– निवेदन)से, परिप्रश्न (जिज्ञासा– आदर– श्रवण)से तथा सेवया (स्नेह– सन्ष्ठिा– संतोष– संपादन)से तत्त्व (भगवद्) दृष्टा ज्ञानी ज्ञानका उपदेश करेंगे । जिस ज्ञानसे पुनर्मोह न होगा, सब प्राणियोंको आत्मामें, मेरे में, देखोगे । अत्यंत पापी होने पर भी ज्ञाननौकासे पापोंको तैर जायगा । काष्ठको जैसे प्रदीप्त अग्नि जला देता है, वैसे ज्ञानाग्नि सब कर्मोंको भस्मसात् कर देता है । कर्मको ज्ञानाग्नि से जलने पर भस्म तो रहती है, ज्ञानीको लगाकर फिरना होगा! भक्ति तो संपूर्ण पापोंको नष्ट करती है, जैसे सूर्य ओसको दूर करता है । ज्ञान जैसा कुछ पवित्र नहीं है । योगसे चित्त शुद्धिवाला समय होने पर अंतरमें स्वयं प्राप्त होता है– ज्ञानको! इन्द्रियसंयमी– श्रद्धावान् ज्ञान प्राप्त करता है, परा शांति– मिलती है । अज्ञ, अश्रद्धालु, संशयात्मा कल्याणमार्गसे भ्रष्ट होता है । यह लोक, परलोक वा सुख संशयात्माको मिलते नहीं हैं । जिसने अपने सब कर्म भगवानको समर्पण किये हैं, ज्ञानसे संशय नष्ट हो गये हैं, उसको कर्मबंधन नहीं होता है । इसलिये अज्ञानसे उत्पन्न हुअे, हृदयमें रहे हुअे, संशयको ज्ञान– तलवारसे काट दे । समबुद्धिरूप योगमें स्थिर खडा रह जा ! जिसमें ज्ञानका अभ्युदय हो, जो अनासक्त कर्मयोगमें अनुरक्त हो,

निष्काम– कर्ममें तत्पर हो, ऐसा जीवन वा जीवंत व्यक्ति यहाँ आदर्शरूप लगता है ।

अध्याय– ५ : कर्मसंन्यासयोग : श्लोक– २९.

वैचारिक– क्रांतिके ज्योतिर्धर कृष्ण :

भारतीय– तत्त्वज्ञानकी विलक्षणता है– मौलिक विचारधारा! परंपरागत– विचारधारा तो लोकमाता नदी सी सबको पावन करती बह ही रही है । लोक यथारुचि यथाशक्य उसमें स्नान– पान– दान– ध्यान करते हुए एकतान बननेका यथाधिकार प्रयत्न करते रहेते हैं । कुछ न कुछ तो लाभान्वित होते ही हैं। संतोष उसमें मान लेते हैं । कहीं कभी कोई एक भगीरथ आता है, जो ब्रह्मांड बहारकी गंगाधारा ले आता है । सबको पावन करनेको जगमें बहाता है । अज– पावनी, भवपावनी, जगपावनी, गंगा बधाई गई है,– प्राचीन– अर्वाचीन– सबको रुचिर आह्लाद देती देवी– भगवत्पदीके नामसे! तत्त्वज्ञान– विचार– धाराके अस्खलित –प्रवाहमें ललित और फलित विचार– भागीरथी ले आये– अर्जुनसारथि– भगवान् श्रीकृष्ण ! वेदविचारधाराको अनुकूल एवं अविरुद्ध फिर भी अनिरुद्ध, मौलिक फिर भी प्रमाणबलसे पर, स्वतंत्र– धारा भी बहा दी है– श्रीमद्– भगवद्गीता ! गीता– गंगा बहती है, वेदका वहन करती है, वैचारिक– क्रांति साथमें बहाती है ! राजकीय– सामाजिक– आर्थिकादि– क्रांतियाँ बहुविध विश्वमें आई– गई होगी । धार्मिक– वैचारिक– क्रांति जगाई है,– गीताजीमें कृष्णने!

भ्रांति तो अनेक फैलाते होंगे, व्यवस्थित वरिष्ट क्रांति गीताजीने की है । वह बुद्धिके सर्वोत्तम उपयोगसे जीवनमंगल सिद्ध कराती हैं । सांख्य– योग– प्रज्ञावाद– ज्ञान– भक्ति– संन्यासादि विषयोंमें कुछ विशिष्ट बातें गीताजीमें भगवान् श्रीकृष्णने कही हैं । आश्रयसे सर्व दुष्टोद्धार, स्त्रीयाँदिको भी परमगति, पृथक् शरणमार्ग, नित्य– संन्यासादि अनेक क्रांतिकारी विचारदर्शन है– श्रीगीताजीमें । भारतीय– विचारकोंने, समाज– संयोग– साधन– साध्यकी परिमिततामें विचारोंको बांध कर, संकुचित दृष्टिकोणसे उपदेश नहीं दे दिये है ! पक्वविचार– अनुभव– एवं प्रभुप्रेरणाके बाद, जीवमात्रका श्रेयः सोचके राजमार्गदर्शन कराया है । “हिन्दु”– शब्दप्रयोगकी संकुचितता शास्त्रोमें देखी नहीं जाती है,– विशाल, उदार, उन्नत, व्यापक जीवहित– भावना, देश– काल– व्यक्तिकी सीमा लांध कर, सर्वहित– संपादनसे बह रही है । ऐक्यकी उदात्त भावनासे, स्वगौरवदृष्टिसे “हिन्दु”– कहलाना,– हिंदुत्व– संदेशका प्रसार करना, सर्वथा आवश्यक है, योग्य है । भगवानने गीताजीमें बुद्धिका विपुल विनियोग बताया ! प्रायः सब धर्म श्रद्धावलंबित है, गीताजी बुद्धि– विकास, परमात्मध्येयसे साधती हुई, दैनंदिन जीवनमें भी शांति– सुख– प्रसन्नता– आनंदका– प्रदानसे अनुभव कराती हुई, प्रभुभक्ति लाभ करा देती है ।

अर्जुनकी कामना– निश्चित कल्याण– प्राप्तिकी :

अर्जुन निश्चितरूपसे एक ही मार्ग चाहता है । उसकी उत्कंठा इस विषयमें बार बार दोहराता रहता है । **“यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं**

ब्रूहि तन्मे–।”– (२–७) (मुझे निश्चित कल्याण कहो) “**तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ।**”– (३–२) (निश्चय करके एक कहो जिससे कल्याण प्राप्त करूँ ।) “**यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ।** ”– (५–२) (दोनोंमेंसे एक श्रेय हो वह निश्चित कहो ।) जीवनमें जो यथार्थ निश्चित हो जाता है, वह निश्चिंत हो जाता है । अर्जुनकी आतुरता तो यही एक ही निश्चित– मार्गके लिये है ! भगवानने तो कर्म–संन्यास भी कहा और कर्मयोग भी कहा ! अर्जुनको तो दोनोंमेंसे एकसे भी लगाव नहीं है ! उसका लगाव तो उसके श्रेयःसे है ! और विश्वास कृष्णमें है । कृष्ण ही निश्चय करके कोई भी एक श्रेयोमार्ग बतादें– वही चाहता है । इसलिये दोनोंमेंसे किसी एक निश्चित करके कहनेको कहता है ।

अर्जुनका प्रश्न श्रेयःसाधनके विषयमें है । साध्यके विषयमें नहीं है । श्रेयःका स्वरूप नहीं पूछता है, पूछता है – श्रेयःका साधन !– कर्मसंन्यास वा कर्मयोग ? दोनोंमेंसे एक ! भगवानने स्पष्ट कह दिया,– “**तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।**” (२) कर्मत्यागसे तो कर्मयोग विशिष्ट है । कर्मका योग – भगवानके साथ कर्मोंको जोडना – यह कर्मयोग है ।

यथार्थ कर्मयोग– कृष्णसेवा :

कर्मोंको संसार– (अहंता– ममता एवं लौकिक– भोगादि)में–जोडनेसे संसार ही फलित होता है । कर्मोंको कल्याणके साथ जोडनेसे कल्याण ही फलित होता है । कर्मोंको कृष्णके साथ

जोडनेसे कृष्ण ही फलित होते हैं । जब लौकिक–(फल)–लालसा (कामना) मनमेंसे निकल जाय, और वैदिक (फल)–लालसा (कामना) भी निकल जाय, तब कृष्णकामना होती है! सर्वधर्मज्ञ पितामह भीष्मजी थे । भक्तद्रोहके कारण शरशैय्यामें सोना हुआ था । नरकका दण्ड भोग रहे थे । वहाँ पान्डवोंको– लेकर स्वयं भगवान् पधारे ! भीष्मजीने युधिष्ठिरको धर्मज्ञान दिया । अंतमें सर्वधर्मसार सा आत्मनिवेदन भगवान् श्रीकृष्णको किया । स्तवन करते हुए कहा,– “**इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा भगवति सात्त्वतपुंगवे विभूम्नि ।**”– श्रीभागवत (१–९–३२) जीवनका अंत था– जन्मका अंत था ! केवल इतना ही नहीं, अंत था जीवनभरकी तृष्णाओंका – वासना–ओंका!– इसलिये तो “**इति**” –(अंतवाचक– शब्द)से आरंभ कर दिया ! भगवानको मति–अर्पण करनेका कोई फल शास्त्रमें कहा नहीं है, इसलिये लौकिक– वैदिक फलकी अपेक्षा भीष्ममें नहीं रही थी ! “**वितृष्णा मतिः**”– इसलिये कहा है ! “**विगता तृष्णा यस्याः**”– जिसमेंसे तृष्णा निकल गई है,– ऐसी मति वितृष्णा–मति है! इतना ही पर्याप्त नहीं है, तृष्णा मात्र निकल जानेसे यथार्थ फल नहीं होता है ! तृष्णा भगवानके साथ जोड देनी जरूरी होती है ! इसलिये, यही “**वितृष्णा**”का अर्थ है– “**विशिष्टा तृष्णा यस्याः यस्यां वा ।**”– प्रभुप्राप्तिकी विशिष्ट तृष्णा जिसमें है वा जिसकी है, ऐसी मति– “**वितृष्णा**” है । लौकिक– वैदिक– तृष्णा– रहित और अलौकिक (कृष्ण)– तृष्णा– सहित है,– “**वितृष्णा**” ! लोकवेदमेंसे तृष्णा– मति

छोडी और भगवानमें जोडी ! हो गया बुद्धियोग !– फल हुआ– भगवत्प्राप्ति ! "**ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।**"– (१०–१०)– उसे बुद्धियोग देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाय। "महाभारत"में कहा है, भीष्मजीको अंतमें स्तुतिकी बुद्धि भी भगवानने दी है !– "**निज–दत्तधिया स्तुतः**" । बुद्धिप्रेरक– बुद्धियोगप्रद तो भगवान् कृष्ण ही है । भगवानके भक्त मोक्ष नहीं चाहते हैं, प्रभुकी सेवा ही चाहते हैं ! सेवा ही यथार्थ निष्काम कर्मयोग है । सकल– शास्त्रका सार है,– "**कृष्णसेवा**"! "**कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा**"– कर्म एक ही (मुख्य) है– उस देव (की पुत्र)की सेवा !

नित्यसंन्यासी– कृष्णकी क्रान्तदृष्टि :

"**ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।**"– (३)

भगवानने नया ही प्रकार बताया– संन्यासका !– नित्य–संन्यासी। गृहस्थाश्रमसे डर कर दूर भागजानेवाले, कटु–– अनुभवोंसे– दोषदृष्टिसे– दूर दौड जानेवाले, वैराग्यपूर्वक आश्रमधर्मसे त्याग करनेवाले, ज्ञानके लिये वा ज्ञानसे संन्यास लेनेवाले, भगवद् विरहानुभवके लिये त्याग करनेवाले,– संन्यासी माने गये हैं । वे तो सब संयोगवशात्, अमुक कालमें, अमुक हेतुसे, अमुक रीतिसे, संन्यास लेनेवाले होंगे । वे सब तो सोपाधिक एवं कादाचित्क– संन्यास है ! नित्यसंन्यासी तो है,– न द्वेष करनेवाला, न आकांक्षा करनेवाला !– द्वेष और आकांक्षासे रहित ! आकांक्षामें राग होता है । राग– द्वेष तो द्वन्द्व है । इसमें द्वेष तो बादमें आता है ! यहाँ पहले लिया है ! क्योंकि, रागसे मन जीतना नहीं लगता, उतना द्वेषसे लगता है ! इसलिये, जो दुःख– साधनादिका द्वेष नहीं करता है, जो सुखसाधनादिकी आकांक्षा नहीं करता है,– वह है– "**नित्यसंन्यासी**" ! राग–द्वेष तो संसारमूल हैं । संसार तो संताप कराता ही है ! इसलिये सब रागद्वेषको निकाल दो, तृष्णाको टाल दो, वासनाको बिदा करो,– "**नित्यसंन्यासी**" हो जाइये । सरलतासे वह बंधनमेंसे छूटता है । भगवे– सफेद– काले– पीले– कपडेवाले, मठ–मंदिर– आश्रममें श्रम करनेवाले, अपनी नयी बनाई हुई अहंता–ममता और उससे हुए राग– द्वेषमें फँसे रहते, होंगे संन्यासी कहलानेवाले ! छूटता है– नित्यसंन्यासी !

सांख्य– योगका ऐक्य :

साधनरूप सांख्य–योग है । सांख्य– विचारप्रधान– कर्म–संन्यास तथा कर्मयोगकी एकता कहते हैं ।

"**सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।।**–" (४)

सांख्य और योग पृथक् है,– ऐसा बालकोंका प्रवाद है, पंडित ऐसा नहीं कहते हैं । यहाँ बालक माँकी गोदमें सोया हुआ, दूधमुँहा, नहीं है । सब कुछ अन्य जानते हुए भी, जो जिस विषयमें कुछ नहीं जानता हो वह इस विषयमें बालक है! "**तर्कसंग्रह**"में– "**बालानां सुखबोधाय क्रियते तर्क –संग्रहः।**–" है, यहाँ इस शास्त्रको न जाननेवाले, और सब कुछ जानने पर भी, इस शास्त्रमें बालक हैं । श्रीमद् वल्लभाचार्यजीने "बालबोध"में स्पष्ट कहा है,–

"नत्वा हरिं सदानन्दं सर्वसिद्धान्तसंग्रहम् ।
बालप्रबोधनार्थाय वदामि सुविनिश्चितम् ।।"– (१)

यहाँ भी "बाल"– है,– तत्तच्छास्त्रमें अव्युत्पन्न– मति ! सांख्य अलग है,– योग अलग है,– ऐसा तो बच्चोंका प्रवाद है ।– पंडितोंका नहीं ! सांख्य–योगमेंसे किसी एकमें भी स्थिरता हुई तो उभयका फल मिलता है । उभयमें एकता देखे वही देखता है ।

यथार्थ कर्मयोगीः युक्त : कर्मबंधनरहित होता है :

(भगवत्प्रीत्यर्थ) निष्कामकर्मसे चित्तशुद्धि रूप योग किये बिना संन्यास तो कठिन है । प्रभु– प्रसन्नताके लिये ही कर्म करनेवाला योगयुक्त (चित्तशुद्धिवाला) अविलंब ब्रह्मको प्राप्त होता है । ऐसा योगयुक्त, जितेन्द्रिय व्यक्ति कर्म करने पर भी लिप्त नहीं होता है ।

देखना– सुनना वगैरह– सब कुछ क्रियाएँ करता हुआ कर्मयोगी– युक्त– तो "मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ।"– ऐसा मानता है, मनाता है ।

"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगंत्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रभिवाम्भसा ।।"– (१०)

लौकिकं– वैदिक– संग (संपर्क वा आसक्ति) छोडके ब्रह्म (भगवान्)को समर्पित करके (भगवत्प्रीतिके लिये) जो कर्म करता है– वह, जलसे जैसे कमलपत्र नहीं भिगता है, ऐसे पापसे लिप्त नहीं होता है । योगिलोक आत्मशुद्धिके लिये, संगरहित होकर, शरीर– मन– बुद्धि– इन्द्रियोंसे कर्म करते हैं । (प्रभु– प्रसन्नताके लिये सब कुछ कर्म करनेवाला) निष्काम कर्मयोगी कर्मफल छोडके नैष्ठिक शांति प्राप्त कर लेता है । अयुक्त तो कामनासुसार, फलमें आसक्ति होनेसे, बंधनको प्राप्त होता है। मनसे सर्व कर्मोंको छोड देनेवाला संयमी, शरीरमें रहता हुआ कुछ न करता, न कुछ करवाता, सुखसे स्थिर रहता है । भगवान् जीवोंके लिये कर्म– कर्तृत्व– कर्मफल संयोग– सर्जते नहीं है। स्वभाव ही प्रवर्तमान है । भगवान् किसीके पापपुण्य– शुभाशुभ– कर्म ग्रहण नहीं करते हें । कामना– अहंता– सहितके कर्म जीवको ही प्राप्त होते हें, प्रभु तक नहीं पहूँचते हैं । निष्काम– निरहंकारी भक्तके कर्म भगवदर्थ होते है; प्रभु ऐसे यज्ञतप– भोग करते हैं ।

अज्ञानसे ढके हुए ज्ञानसे जीवको मोह :

"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।"– (१५)

अज्ञानसे ज्ञान आवृत है ।– इससे (प्राणधारण– परायण– -तुच्छ) जीवको मोह होता है । व्यासजी जैसे भगवानकी ज्ञान– कलाके अवतार, आचार्योंके आचार्य, स्वयं ज्ञानमहासागर, भी डूब गये थे– अज्ञानसागरमें ! स्वयं व्यासजी कहते हैं– **"परितापवति व्यासे मुह्यत्यज्ञानसागरे ।।"**– पद्म. पु. श्री मा. मा. (१–७२). श्रीशुकदेवजी जब संगभयसे चले जा रहे थे, तब व्यासजी पीछे पीछे विरह व्याकुलतासे "पुत्र ! पुत्र !" पुकारते थे ! अज्ञानसे ज्ञान ढक गया था ! फिर सामान्य जन्तु

(जीनेमें प्रयत्नपरायण– जीव)की तो बात ही क्या है ?!

जीवात्मज्ञानसे नहीं, ब्रह्मज्ञानसे मोक्ष :

जिसका अज्ञान आत्म (परमात्म) ज्ञानसे नष्ट हो गया है, उनका सूर्य जैसा ज्ञान वह "पर"– श्रेष्ठ– ब्रह्मको प्रकट करता है ।– सामान्यज्ञानसे वा जीवात्मज्ञानसे नहीं ! ब्रह्मज्ञानसे अज्ञान निवृत्ति होती है, मोक्ष होता है।

"तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छान्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिधूर्तकल्मषाः ।।"– (१७)

भगवन्मय बुद्धिवाले, प्रभुपरायण चितवाले, प्रभुमें निष्ठावाले, अनन्य भगवदाश्रयवाले, भगवानके ज्ञानसे निकल गये हुए पापवाले, मोक्षको प्राप्त होते हैं ! **"एक– विज्ञानसे सर्वविज्ञान"**– वेदमें प्रतिज्ञात है । प्रसिद्ध है– ऐसा ज्ञानोदय भगवत्कृपासे होता है ।

भगवत्कृपासे ही भगवज्ज्ञान होता है :

"यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां
तमो निहन्यान्नतु सद्विधत्ते ।
एवं समीक्षा निपुणा सती मे
हन्यात्तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः ।।"–

–श्रीभागवत (११–२८–३४)

जैसे ही सूर्यका उदय मनुष्यनेत्रोंके अंधकारको दूर करता है, परंतु कुछ वस्तुको बनाता नहीं है, मात्र जो है उसको बताता

है ! सूर्यप्रकाशसे जो है वह दिखने लगता है, इसी प्रकार भगवानका यथार्थ शुद्धाद्वैत– ज्ञान जब उदित होता है, तब पुरुष की बुद्धिका अंधकार दूर कर देता है । फिर तो जो है– उसका दर्शन– अनुभव होने लगता है । जैसे सूर्योदय पुरुष– प्रयत्नादिसे नहीं होता है, भगवादिच्छासे– कृपासे– विश्व– नियमानुसार, होता है । वैसे भगवज्ज्ञान पुरुष– प्रयत्नादिसे नहीं होता है, होता है– भगवत्कृपासे !

ब्राह्मणकी विशिष्टता– विद्या– विनयसे है :

"विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्चपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।"– (१८)

विद्या पेट भरनेके लिये नहीं होती है, होती है– मोक्षप्राप्तिके लिये !– भगवत्प्राप्तिके लिये ! ऐसी विद्यावाला तथा विनय– संपन्न होता है– ब्राह्मण ! विद्या अहंकार वा मात्र धंधा चलानेका साधन है तो अविद्या ही है ! आखिरमें दोनों है तो– मायाकी बेटियाँ ! विद्याके साथ विनय हो यही ब्राह्मण– वेदज्ञ– की शोभा है । (१) शुद्ध ब्राह्मण– माँ– बापसे जन्म होता है वह– शुक्ल(शुद्ध)! (२) यज्ञोपवीत– संस्कारसे वेदाधिकार होता है। वह द्वितीय– जन्म माना गया है– सावित्र ! ब्रह्मण्यदेवताका प्राकट्य, संस्कार और वृत्तसे ब्राह्मणत्व होता है । (३) यज्ञादिकी दीक्षासे– तृतीयजन्म है, उसको दीक्षित– कहा जाता है । विद्या– विनय– संपन्न ऐसा ब्राह्मण है, तो सम्माननीय है । विद्या वा विनय न हो तो ब्राह्मण नाम– मात्र रह जाता है !– आभास

वा प्रतिबिंब ! गाय– हाथी– कुत्ता जैसे हैं वैसा । ब्राह्मणकी विशेषता है– विद्या– विनयस !

पंडित समदर्शी है, समवर्ती नहीं :

ब्राह्मणादि तथा श्वपाकोंके शरीर तो पांच भौतिक है ही, जीव तो सबके भगवानके चेतनांशके ही है । हो तो गई,– सबकी समानता !– वह करनेकी नहीं, समझनेकी होती है । सब रूपमें भगवान् ही है ! पंडितलोग ऐसे समदर्शी होते हैं । "**समदर्शिन**":– कहा है,– "**समवर्तिनः**" नहीं कहा है ! विद्या विनय संपन्न– ब्राह्मणको कुत्तेकी साथ बिठाके पूजन– भोजनादि कैसे चले ?! इसमें तो शास्त्रानुसार– यथाधिकार– स्थान–मान– दान होते हैं । समदर्शी पंडित है; समवर्ती तो व्यवहार नहीं होता है । सर्वत्र– सर्वदा– भगवान् खेल ही रहे हैं !– सब रूपोमें भी वे ही हैं ! रूप– नाम– विभेदसे जगद्रूपमें भगवान् ही विराजते हैं । इसलिये, यह दृष्टि पंडितोंकी होती है। जिसका मन ऐसे ही साम्यमें रहा हो वो तो जिता गया ! "**निर्दोषं हि समं ब्रह्म ।**"– (१९)– निर्दोष– सम– है ब्रह्म ! इसलिये वह ब्रह्ममें स्थित है । प्रिय मिलने पर हर्ष न करें, अप्रिय मिलने पर उद्वेग न करें, स्थिरबुद्धिवाला, भ्रान्तिरहित, ब्रह्मज्ञ, ब्रह्ममें स्थित है । बाह्यविषयोंमें आसक्ति– रहित व्यक्ति जो सुखको प्राप्त करता है, वह योग– समाधि द्वारा ब्रह्ममें स्थितचित्तवाला योगी अक्षय– सुखको भोगता है ।

दुःखका मूल– लौकिक स्पर्शजभोग :

सच्चा सुखी– काम– क्रोधावेश सहन करनेवाला :

"**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।**"– (२२)

इन्द्रिय– विषय– संबंधसे जो भी भोग उत्पन्न हुए हैं, वे सब दुःखके कारणरूप हैं,– अनित्य है । शास्त्रज्ञ उसमें प्रीति नहीं रखता है । शरीर छोडनेसे पहले काम– क्रोधसे हुए आवेशोंको सहन करनेमें समर्थ नर सुखी होता है ।

अंतःसुख– अंतःप्रीति– अंतःज्योति (ज्ञान)– वाला योगी ब्रह्मभूत होके मोक्षरूप ब्रह्मको प्राप्त होता है । पापरहित, संशयरहित, सर्वहितरत, संयमशील, ऋषिलोग ब्रह्मनिर्वाणको (शान्तरूप ब्रह्मको) प्राप्त होते हैं । काम–क्रोधरहित, चित्तको वश करनेवाले, साक्षात् प्रभुको जाननेवाले, यती (प्रभु–प्रयत्नपरायण)को सर्वत्र ब्रह्मनिर्वाण है । बाह्यविषयोंको न भोगता, न स्मरता, प्राणायामादि– परायण, इन्द्रिय– मन– बुद्धिको वशमें रखनेवाला, इच्छा– भय– क्रोधरहित मुनि सदा मुक्त– (जीवन्–मुक्त)– है ।

भगवान् श्रीकृष्णके ज्ञानसे शांति :

यज्ञ और तपःके भोक्ता, सर्वलोकके ईश्वरके ईश्वर, सर्वभूत (प्राणीमात्र) के निःस्वार्थ स्नेही (सुहृद), भगवान् श्रीकृष्णको जानकर शांति प्राप्त होती है ।

"**भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।**
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।।–" (२९)

यज्ञ– तपःके शास्त्रोक्त फलभोक्ता जीव होगा ! भगवान् तो

है– यज्ञ और तपःके भोक्ता ! लोकनियामक नेता– राजा– प्रभृति होंगे, देवता सर्वलोक–नियामक होंगे, सर्वलोक–महानियामक –महेश्वर– भगवान् ही हैं । अमुक व्यक्ति अमुककी मित्र होगी। स्वार्थानुरूप संबंध होते हैं– संसारीओंके ! भगवान् तो निःस्वार्थभावसे सबके "सुहृद्" है । सुन्दर हृदयवाला, हित करनेवाला,– सबके लिये स्नेह करनेवाला है– भगवान्! सबको अब तो यह समझके अभय– आनंद हो जाने चाहिये । आशंका इसमें न करें। भगवान् श्रीमुखसे यह कहते हैं । यह अब तो रजिस्टर्ड हो गया, भगवानके ज्ञानसे ही शांति मिलती है ।

अध्याय – ६ : आत्मसंयमयोगः श्लोक – ४७.

सब कुछ करते–कराते–हैं भगवान् :

अद्‌भुत लीला करते हैं – कृष्ण ! परंतु लीला अकेलेसे तो नहीं होती है, अन्यकी अपेक्षा रहती है ! अन्य तो कोई है ही नहीं ! स्वयं ही अनेकरूप हो जाते हैं – कृष्ण ! एक ही कृष्ण! अनेक भी कृष्ण ! एकमें कृष्णता रही । अनेकमेंसे तो कृष्णेच्छासे गई ! लीलानुरूप विविधता हुई ! विविधता विश्वके रूपमें व्यक्त हैं ! भगवान् ही अव्यक्त हैं । विश्वमें विविध वस्तुओंको व्यवस्थित रखते है– विभु ! सबको अपनी अपनी मर्यादामें स्थिति कराते हैं – भगवान् ! भिन्न भिन्न ग्रहोंको, ज्योतिश्चक्रमें भिन्न भिन्न स्थानोमें कालके गुण हों ऐसे रखना, तो मात्र भगवान् ही कर सकते हैं । भगवान् कर्मानुकूल भी स्थिति देते हैं । सात्त्विकादि कर्मोसे सात्त्विक– स्थानोंमें स्थिति कराते हैं।

जीवोंकी स्वरूपमें स्थिति वेदमार्गसे होती है । वेद चित्तशुद्धिरूप कर्म और ज्ञानसे आत्मामें स्थिति कराते हैं । वेदोंका तात्पर्य तो ब्रह्ममें है । इसलिये देशस्थिति देनेवाले कर्म वेदोक्त होने पर भी वेदमार्गीय नहीं है ! वह तो बहिर्मुखको वैदिककर्ममें योजनेके लिये कहे हैं । कर्म स्वतंत्ररूपसे फल देते नहीं हैं । फल तो भगवान् ही देते हैं । शास्त्रमें कहे हुए कर्म जीव करता है, इसलिये वह कर्ता है । वह कर्तृत्व जीवको भगवानके अंश होनेसे मिला है । भगवान् वेदकी वशमें नहीं है । वेद तो भगवानके अनुचरकी तरह अनुकूल होकरके विधान करते हैं । भगवान् तो असंग होने पर भी मुक्त जीवोंके आधाररूप बनते हैं । ऐसे देश– काल– कर्म– जीव– आत्मा– (स्वरूप) पर विजय कर सकते हैं– भगवान् ! भगवान् अपनी ईच्छानुसार किसीके भी पासमें कार्य कराते हैं । अपना सामर्थ्य किसीको देते हैं – आवश्यकतानुसार ! सबमेंसे आसक्ति निकल जाय तब स्वरूपस्थिति मिलती है । "**एष उ एव साधुकर्म कारयति यमेभ्य लोकेभ्य उन्निनीषति । एष उ एव असाधुकर्म कारयति यमेभ्य लोकेभ्य अधो निनीषति।**" श्रुति है । जिसको भगवान् ऊँचे ले जाना चाहते है, उसके पास सत्कर्म कराते हैं। जिसको भगवान् नीचे ले जाना चाहते हैं, उसके पास असत्कर्म कराते हैं । भगवदिच्छासे आनंद तथा ब्रह्मधर्मके तिरोधानसे भगवदंश रूप जीव अविद्यासंबंधसे लौकिक–कामनावाला हो जाता है । अहंता– ममतात्मक भ्रम–संसार–में फंसकर अनर्थको प्राप्त होता है। इसमेंसे बचानेके लिये भगवानने वेदोंमें

कर्म–ज्ञान–भक्तिरूप योग–(मार्ग–उपाय) बताये हैं । भगवदिच्छानुसार ही इनमेंसे किसीकी प्राप्ति जीवको होती है । स्वल्प अनर्थोपशम होता है ।

अनर्थमेंसे संपूर्ण शांतिका उपाय :

संपूर्णतया अनर्थोपशम तो भगवद्– भक्तियोगसे होता है, जीवकृत भक्तिसे भी नहीं। "**अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगमधोक्षजे । लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्त्वतसंहिताम्।।**" **–श्रीभागवत** (१–७–६)

अनर्थोको शान्त करनेवाला (मर्यादा) भक्तियोग है तथा इन्द्रियजन्य– ज्ञानसे पर (अधोक्षज) भगवान् का साक्षाद् (पुष्टि) भक्तियोग है । अनर्थोंका शमन करनेवाला, (प्राकृत) इन्द्रियोंसे ज्ञात न हो सके (कृष्णेच्छासे ही ज्ञात हो सके) ऐसे भगवान् अधोक्षजका साक्षाद्–भक्तियोग भगवान् व्यासजीने समाधिमें देखा । अज्ञात लोगोंके लिये, स्वयं युक्तिपूर्वक जानके, भगवानने कहे हुऐ पदार्थोंका प्रतिपादन करनेवाली "**सात्त्वत–संहिता**" (**–वैष्णववेद– श्रीमद्‌भागवत**) प्रकट की । वेद– गीता– ब्रह्मसूत्र (यह प्रस्थानत्रयी)के विषयों का स्पष्ट निरूपण– (सर्वसंदेहोंके समाधान– पूर्वक)– है– (चतुर्थप्रस्थान) – "**श्रीमद्‌भागवत**"!

कर्म– ज्ञान– भक्तिमें रुचि प्रभु देते हैं :

त्रिविध सृष्टि भगवान् स्वलीलार्थ करते हैं :

कृष्ण– कृपासे ही (मर्यादा–पुष्टि) भक्ति सुलभ होती है । स्वयं

भगवान् ही कृपासे देते हैं । मर्यादामें कुछ शास्त्रोक्त भी कभी कराते हैं । पुष्टिमें तो स्वयं ही फलात्मक भगवान् भी साधन रूप हो जाते हैं । भगवान् शास्त्रीयसाधन कर्म– ज्ञान– भक्ति कराना चाहते हैं, तो (अंतः) प्रेरणा– और (बाह्य) परिस्थिति भी तदनुरूप देते हैं । भगवान् जीवको कर्मी बनाना चाहते हैं तो वह कर्ममार्गीय हो जायगा– रुचि ही ऐसी होगी । भगवान् जीवको ज्ञानी बनाना चाहते हैं, तो वह ज्ञानमार्गीय हो जायगा– रुचि ही ऐसी ही होगी ! भगवान् जीवको भक्त बनाना चाहते हैं, तो वह भक्तिमार्गीय हो जायगा– रुचि ही ऐसी होगी ! कोई भी जीव अपने आप कर्मी– ज्ञानी– भक्त नहीं हो जाता है, नहीं हो सकता है। भगवान् जीवको जो कुछ भी बनाना चाहते हैं, ऐसे ही जीवको बनना पडता है ! सर्वतंत्र– स्वतंत्र, सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ, सर्वरूप है – भगवान् । भगवान् अपनी ही इच्छासे, लीलाके लिये, जीवोंको व्युच्चरित करते हैं। मनसे प्रकट किये हुए जीव, – काल– प्रवाहमार्गमें रहे हुए, अपने मनके अनुसार ही सब कुछ करते हैं; सुख– दुःख कर्मानुसार भोगते, जन्म– मरण– चक्रमें घूमते रहते हैं । वाणीसे प्रकट किये हुए जीव, –शास्त्रमार्गमें रहे हुए, अपने मनको बुद्धिसे शास्त्रानुसार मर्यादामें रखकर, स्वशास्त्र– मर्यादामें "**आत्मसंयम**" में रह कर, कर्मानुसार फल भोगते, स्वसाधनानुसार लौकिक– पारलौकिक– मोक्षावधि– फल, यथाधिकार पाते हैं । । भगवानकी अपनी ही कायासे प्रकट किये हुए जीव, कृपामार्गमें रहे हुए, अपनी स्वाभाविक रुचिसे पुष्टि–भक्तिमें रहकर प्रभु– स्वरूप– सेवा

करते हुए, प्रभुदत्त प्रेममें मग्न रह कर, भगवादिच्छानुसार फल भोगते, भगवल्लीला रसानुभवरूप फल पाते हैं । चर्षणीजीव कालप्रवाहमें रहे हुए, संग- प्रसंगसे पुष्टि- प्रवाह- मर्यादामें घूमते हैं, रुचि कहीं पर नहीं होती है, खंडशः कुछ फल पाते हैं ।

सबकेलिये कृतार्थ होनेका सरल सफल उपाय :

"यमादिभिर्योगपथैः कामलोमहतो मुहुः ।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथात्माद्धा न शाम्यति ।।"

–श्रीभागवत (१–६–३६)

काम ओर लोभसे बारबार मृतप्राय हो गया हुआ अंतःकरण, (मोक्ष वा लीलाप्रदाता) भगवान् मुकुन्द (कृष्ण)की साक्षात्- सेवासे जैसा शान्त (प्रसन्न) होता है ऐसा यम- नियम- आदि- योगमार्गसे शान्त होता नहीं है। काम अग्निकी तरह जलादेता है, लोभ बाढकी तरफ बहा- डूबा देता है ! दोनोंसे अंतःकरण बारबार पीडाता है, मृतप्राय हो जाता है । इसके लिये मोक्षदाता भगवान् कृष्णकी साक्षात् (पुष्टि)- सेवा मृतसंजिवनी है, अमृतरूपा है, स्वरूपानन्द- प्रदा है । इस अध्यायके अंतमें सेवाका ही विधान भगवानने किया है –

"योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।।" –(४७)

(कर्म- ज्ञान- भक्ति) सब योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी (पुष्टिभक्त) मेरेमें लगे हुए अंतःकरणसे मुझे निरंतर भजता है

(मेरी निरंतर सेवा करता है), वह मुझको अत्यंतयुक्त (अतिश्रेष्ठ) मान्य है ।

आवश्यक- कार्य करनेवाला गृहस्थ भी संन्यासी है- योगी है :

आरंभमें भगवानने बताया हुआ साधन गृहस्थाश्रमीको भी हितावह है,–

"अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।। (१)

जो कर्म करता है, सब कर्म नहीं, परंतु **"कार्यम्"**,– करने जरूरी- कर्तव्य, जितने जरूरी है- कर्तव्य है, इतने ही कर्म करता है। कर्म फलमें- आसक्त होकरके नहीं,– **"अनाश्रितः कर्मफलं"**– कर्मके फलकी आसक्ति- इच्छा- भी उसको नहीं होती है । **"न निरग्निः"**– वह अग्निरहित नहीं है, उसने (गार्हपत्य)अग्निका (गृहस्थाश्रमका) परित्याग नहीं किया है फिर भी,–**"स संन्यासी"** – वह संन्यासी है ! **"न च अक्रियः"** –वह कर्म- रहित नहीं है, कर्म करता है, **"योगी"** – वह योगी- कर्म- योगी है । परंतु वो **"कार्य"** – कर्म ही करेगा । कर्तव्य- करना आवश्यक – होगा वही करेगा । अनर्थवाले, व्यर्थ- कर्म वह नहीं करेगा; परंतु शास्त्रने करनेको कहे हुऐ कर्म,– जो न करनेसे दोष होता है, वही **"कार्य"** करेगा, निषद्धकर्म अथवा काम्यकर्म नहीं । नित्य – नैमित्तिक कर्म- वह करता है । लौकिक- हीन- स्वार्थके लिये, शास्त्रमें मना किये हुए कर्म-निषिद्धकर्म

– वह नहीं करता है । लौकिक उत्तम स्वार्थके लिये, स्वर्गादि-सुखप्रद – कर्म – काम्यकर्म – वह नहीं करता है । सोपवीत ब्राह्मणकेलिये (१) स्नान– (२) संध्या– जया,– (३) होम- (४) स्वाध्याय– (५) देवतार्चन– (६) वैश्वदेव– अतिथि सत्कार– ये षट्कर्म आवश्यक माने गये हैं,– "**स्नानं संध्याजपो होमः स्वाध्यायो देवतार्चनम् । वैश्वदेवातिथेयश्च षट्कर्माणि दिने दिने ॥**" ये छः कर्म तो न करनेमें दोष है, नित्यकर्म है। अवश्य करनेके लिये हैं । ब्राह्मणके धर्मरूपमें,– अध्ययन– अध्यापन, यजन– याजन, दान– प्रतिग्रह,– यह छः बतायें हैं । उनमेंसे तीन,– अध्ययन, यजन, दान (देना) तो अवश्य– कर्म है– कर्तव्य है । बाकीके तीन,– अध्यापन, याजन, प्रतिग्रह (दान लेना)– काम्य है, कामना हो तो करे । पहले तीन,– अंतःकरणकी शुद्धिके लिये हैं इसलिये कार्य है । दूसरे तीन,– आजीविकाके लिये है ।– इसलिए काम्य है – कामना हो तो करे । "**कार्य**"– नित्य– नैमित्तिक स्वीकार्य है, "**काम्य**"– अस्वीकार्य है।

"**न निरग्निः स संन्यासी**"– जिसने (गार्हपत्य) अग्निका सेवन (गृहस्थाश्रम) करने का छोड दिया, मात्र वह संन्यासी नहीं है । संन्यासाश्रम भी शास्त्रोक्त होना जरूरी है । घर छोडके भाग जानेसे, गेरुए वा सफेद कपडे पहननेसे, मठ–मंदिर–आश्रम, बनाने, चलाने तथा रहनेका श्रम– करनेसे संन्यासी नहीं है । "**न अक्रियः : च योगी**"– क्रिया न करनेवाला योगी नहीं है । कर्मके फलकी अपेक्षा– वा– आसक्तिके बिना, जो

आवश्यक–नित्य– नैमित्तिक– कर्म करता है, वह (गृहस्थ भी) संन्यासी है और योगी है, और न अग्निरहित संन्यासी है और न कर्मरहित योगी है ।जो संन्यास कहा जाता है, वही योग है।

जिसने संकल्प (फलेच्छा तथा कर्तृत्वका अहंकार) छोडे नहीं है; ऐसा कोई भी योगी हो सकता नहीं है । योगमें जो आरुढ होनेको चाहता है, उसके लिये निष्काम–भावसे कर्म करना–वह साधन– (कारण) है । जो योगारुढ है, उसके लिये, शम–अंतःकरणका संयम–कल्याणका कारण (साधन) है । जब इन्द्रियोंके विषयोंमें, कर्ममें, व्यक्ति आसक्त नहीं होता है, तब सर्व संकल्प त्यजनेवालेको योगारुढ कहते हैं । संकल्पसे काम उत्पन्न होता है, संकल्प ही न हो तो काम फिर होता ही कहाँ से ?!

अपना उद्धार अपने आप ही करेंः

"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥" – (५)

मन संकल्प– विकल्पात्मक है। संकल्प ही मनमें न हो तो मन शान्त हो जायगा । मन शान्त होता है,– भक्ति– ज्ञान वैराग्यसे प्राप्त– जीवनविवेककी वुद्धि एवं स्थिरतासे । विवेक–वृद्धि होती है– भगवच्छास्त्रथ– संस्कारवाली बुद्धिसे । इससे होता है,– अन्तःकरण (मन)का उद्धार– ऊर्ध्वगति ! इससे होता है,– आत्मा (जीव)का उद्धार !– ऊर्ध्वगति– मोक्ष वा भक्ति की प्राप्ति ! इसलिये, जरूरी है,– (हम) आत्मा (विवेकयुक्त अंतःकरण)से आत्मा (जीव)का उद्धार करें ! आत्मा (जीव वा

अंतःकरण)का अवसादन– उत्पीडन (पतन–नाश) न करें। आत्मा (विवेकयुक्त–अंतःकरण)– ही आत्मा (जीवका) बन्धु (मित्र) है, (असंयमी) आत्मा (अंतःकरण) ही आत्मा (जीव)का शत्रु है ।

विवेकयुक्त अंतःकरणके लिये– अन्न(द्रव्य)शुद्धि जरूरी है। "**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः**"।– आहार (द्रव्य) शुद्धिसे सत्त्वशुद्धि होती है। अनीति–अरीति –अप्रीतिसे कमाये (आमदनी) द्रव्यसे अन्नादि शुद्धि नहीं होती है । अन्नादि–आहार–शुद्ध न होनेसे सत्त्वशुद्धि नहीं होती है । अन्न पकानेमें, तैयार करनेमें भी, नीति–रीति– प्रीति उत्तम होनी चाहिये। अन्यथा अयोग्य विचार–बात–श्रवण–करते हुए पकाया अन्न भी शुद्ध नहीं होता है । शुद्धद्रव्य (शुद्ध–कमाई) का शुद्ध अन्न (शुद्धभावसे) पकावो । अपने लिये पकाना तो पाप है।– "**भुंजते ते त्वघं पापाः ये पचन्यात्मकारणात् ।।**" (३–१३) अपने लिये पकानेवाले पापमय लोग पाप खाते हैं ।– गीतामें है । प्रभुके लिये ही पकाओ तो कोई अन्यथा संभव ही नहीं है । प्रभुके लिये ही पकावो, प्रेमसे प्रभुको धरावो । योग्य सदाचारका इसमें निवार्ह करो । प्रभुकी प्रसादीसे अधिक शुद्ध–पवित्र ओर क्या मिलना संभव है ?! अतः असमर्पित– वस्तुओंके त्यागपूर्वक कृष्णसेवा ही जीवनका बल है– फल है ! प्रसादसे होगी अब सत्त्वशुद्धि ! सत्त्वशुद्धि पूर्वक कथा– श्रवणादि–सत्संगादिसे होता है – जीवनविवेक ! यह जीवनविवेक है–सफलताका मूल ! श्रीभागवत– श्रीगीतादिसे – सेवनसे

भगवच्छास्त्र – संस्कारवाली बुद्धि होती है, इससे बढता रहता है– जीवनविवेक ! ऐसे,– "**मैं कृष्णका हूं, मैं कृष्णके लिये ही जीऊँगा, मैं मेरे कृष्ण प्रसन्न हो– ऐसा ही जीऊँगा**"– यह जीवनव्रत हो जाता है । यही है – जीवनविवेक ! ऐसा व्यक्ति न किसीसे दबता है; न डरता है, न विवश होता है, हमेशा प्रसन्न– स्वस्थ– दृढ– कार्यरत रहता है । इसलिये जरूरी है,– (हम) आत्मा (विवेकयुक्त–अंतःकरण)से आत्मा (जीव)का उद्धार– ऊर्ध्वगति – प्रभुप्राप्तिके लिये यह जीवनविवेक– व्रतका निर्वाह करें । यही मार्ग पर चलें । प्रभु कृपासे ही मार्ग मिलता है,– मार्गदर्शक– प्रेरक– भी मिलते हैं,– सफलता भी मिलती है । मार्गदर्शक मार्ग बताते हैं, चलना तो होता है,– मार्गदर्शनलेने–वालोंको ! मार्गमें चलनेकी वृत्ति – प्रवृतिका होना, मार्ग पर चलनेकी शक्ति, मार्गमें आगे बढना, यह सबकुछ भी होता है– कृपाके कारण ही ! ऐसे मार्गादिके बिना ही प्रभु प्राप्त हो जाय, वह तो केवल शुद्ध– कृपा (पुष्टि) ही है । परंतु अभी तो सामान्य मर्यादा मिश्र पुष्टि होनेसे जीवके प्रयत्न अपेक्षित हैं !

कोई एक छोटेसे गाँवमें कोई शहरका आदमी अपनी मोटरमें पहूँच गया । मनमें तो अपनेको पढा लिखा– समझदार मानता था । गाँवमें तो गँवार होते हैं– प्रायः है सब !– ऐसा वह मानके चलता था । गाँवके बाहर पाँच –सात–मार्ग इकट्ठे थे। पता नहीं चलता था– अपने ध्येय तक कौनसा मार्ग पहूँचायगा?! सामने कोई ग्रामीण आया। मोटरवालेने तुच्छकारसे पूछा,– "अबे

यह रास्ता कहाँ जायगा" ?! गाँवके आदमीने आँख खोल देके ऐसा उत्तर दिया,– "शेठ ! रास्ता तो कहीं नहीं जायगा! जहाँ भी जाना होगा आपको ही जाना होगा" ! भगवानका मार्ग तो है, मार्ग देने–दिखाने–वाले– गुरुजन भी है । सब मिलते तो हैं– कृपा भी है, परंतु मार्ग पर तो अपनको ही चलना पडेगा! कृपा– प्राप्त मार्ग पर विवेक (धैय–आश्रय)पूर्वक चलते रहें, अपना उद्धार आप करें ! प्रमादादिसे रुके न रहें, प्रमोदमें भान न भूल जाय, अन्य लोगोंकी लौकिक– वैदिक– फलके लिये उत्कंठा वा सफलता देखकर, दौडते देखकर, अन्यत्र दौडे नहीं,– "**नात्मानमवसादयेत्**" । आत्माको अवरूद्ध न करें । योग्य जीवनविवेक–व्रतसे आप ही आपके बन्धु हो। ऐसा जीवनविवेक व्रत न हो तो आप ही आपके शत्रु हो । संयमी–सिद्धान्तनिष्ठ अंतःकरण अपना मित्र है , असंयमी– सिद्धान्त–रहित अंतःकरण अपना शत्रु है । शीत–उष्णादि तथा सुख–दुःखादि तथा मान–अपमानमें (सब द्वन्द्वोंमें) जितेन्द्रिय, शांतचित्तवालाको परमात्मा समाहित होता है– अच्छी रीतिसे प्राप्त होता है । – "**जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः**"।– (७) श्रीमद्भागवत (१०–८०–६)में, भगवान् श्रीकृष्णके मित्र सुदामा ब्राह्मणका भी वर्णन ऐसा ही मिलता है,– "**कृष्णस्यासीत् सखा कश्चिद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः । विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः**" ॥– था ही कृष्ण का ! कृष्णने मित्र बनाया ! मित्र हो गया ! ब्राह्मण था ! ब्रह्म–वेद–को जाननेवालोंमें श्रेष्ठ था ! वेद जाननेवाले– ज्ञानी, उनमें भी श्रेष्ठ होता है– भक्त ! इन्द्रिय– विषयोंमें विरक्त था । प्रशान्त–कामक्रोधादिके आवेगोंसे रहित, आत्मा–अंतःकरण–वाला था । अतः जितेन्द्रय था ! प्रसिद्ध है,– भक्त सुदामाको भगवान् कैसे प्रेमसभर सौहार्दसे मिले थे ?!

भगवानके साथ जीवन–मन– जोडनेवाला योगी :

शास्त्रीय है– ज्ञान और अनुभव– प्रयुक्त है– विज्ञान! दोनोंसे तृप्त अंतःकरणवाला, निर्विकार, जितेन्द्रिय, लोहा–पथ्थर–सोनामें समान दृष्टिवालाको युक्त– योगी– कहते हैं । मित्र–शत्रु, साधु–पापी, उदासीन–मध्यस्थ आदिमें समान बुद्धिवाला(युक्त) उत्तम (योगी) है । योगी एकांतमें, एकाकी रहकर, वासना और संग्रहसे रहित होकर, (यम–नियम–पूर्वक) संयम पूर्वक सतत अंतःकरण को प्रभुमें जोडे । एकान्तमें स्थिर–यथोचित आसन पर बैठ कर, (प्राणायाम–पूर्वक) मनको विषयोंमेंसे बहार निकाल (प्रत्याहार–कर)के, प्रभुमें चित्त रखके प्रभु–परायण हो जाय । ऐसा सदा किया करते हुए योगी भगवद्धाम रूप वैकुंठ–व्रज–में परम शांति (लीलानुभूति)को प्राप्त होता है । अत्याहार या अनाहार करने वाले, अति सोने– वाले वा अति–जगनेवालेको योग सिद्ध नहीं होता है । युक्ताहार– विहार ही योग– योग्य बनाये रखते हैं । ज्ञान–कर्म–भक्ति ये तीनों योगमें योगीको आवश्यक तन– मनकी स्थिरता – दृढताका यह उपाय बताया है ।

नीरोगी रहनेका राजमार्गः

"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।" – (१७)

योग्य–आहार–विहारवालोंको, कर्ममें योग्य चेष्टावालोंको, योग्य निद्रा– जागरणवालोंको, योग दुःखनाशक होता है। कहते हैं,– आयुर्वेद–विज्ञ चरकजीको हुआ, वैद्योंकी परीक्षा करें । पक्षि– रूपमें वृक्ष पर बैठे । बोले,– **"कोऽरुक् कोऽरुक् कोऽरुक् !"** वैद्योंने विचित्र बात सुनी । "नीरोगी कौन ? नीरोगी कौन ? नीरोगी कौन" ? सुनते ही– प्रत्युत्तरमें औषध– सेवन बतायें, – चंद्रप्रभा, स्वर्ण– वसंत–मालति – प्रभृति ! चरकजीको संतोष नहीं हुआ । दवाईयाँ खाके स्वस्थ रहना वह स्वस्थता नहीं है । दवाकी दया पर जीना तो आत्मघात है । इतनेमें वैद्य वाग्भट्टजी आयें, उन्होंने उत्तरमें कहा,– **"हितभुक्, मितभुक्, ऋतभुग्"** । संतुष्ट होकरके चरकजी चले गये ! सृष्टिको स्वास्थ्य–संदेश है– इन तीन शब्दोंमें ! नीरोगी रहनेका राजमार्ग बता दिया– इसमें ! जो कुछ मिलें, जब भी मिलें, जहाँ पर मिले, जिससे भी मिले,– वह सब खा–पी–लेना वह तो पशुओंकी ही स्वभाविकता है, विवेकशील पुरुषोंकी नहीं ! विवेकशील पुरुष विचार के व्यवहार करता है । तीन शब्दोंमें भोजन– विवेक बताया । (१) **"हितभुक्"** – पथ्यापथ्यका विचार करना चाहिये । अपने शरीरकी प्रकृतिको जो अनुकूल हो, हितरूप हो, ऐसी वस्तु ही (प्रभुप्रसादमेंसे भी) लेनी चाहिये । (२) **"मितभुक्"**– कितना भी मन– पसंद खाना मिल जाय या अपसंद मिल जाय, शरीर– निर्वाहमें जरूरी हो इतना– परिमित–स्वल्प– ही खाना चाहिये । जितना खा सकें इससे आधा ही खाईये । चौथाई पानीके लिये और चौथाई हवाके लिये खाली रख लें । (३) **"ऋतभुक्"**– खाना तैयार है, मिल गया है, पसंद है, समय हो गया है, तो खा ही लो, यह उचित नहीं है । जब सच्ची तीव्र भूख लगे तब ही (सच्चा) भोजन करना– प्रसाद लेना– चाहिये । योग्य श्रमके लिये योग्य विश्राम भी जरूरी है । विश्रामके बिना पुनः सतत श्रम करनेका सामर्थ्य रहता नहीं है । सोना– जगना भी योग्य हो वह जरूरी है । दैनंदिन क्रियाओंमें नियमितता भी जीवनमें हितावह होती हैं ।

योग– युक्तको सुखानुभव :

यहाँ अष्टांग योगकी भौतिक– सिद्धियो नहीं बताई हैं, बताई है– भक्तिकी अलौकिक– परमात्म– सुखसिद्धि !

"यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा" ।।– (१८)

जब विशेष प्रकारसे वश किया हुआ चित्त परमात्मामें ही स्थिर हो जाता है, तब पुरुष सर्वकामनाओंसे निःस्पृह हो जाता है, तब उसको (योग) युक्त कहा जाता है । **"चेतस्तत्प्रवणं सेवा–"** । –"सिद्धांतमुक्तावलि"में श्रीमद्वल्लभाचार्यजी श्री–कृष्ण– परमात्मा– में चित्त–प्रवण (प्रह्वीभाव– झुकाव– स्थिरता– एकरूपता)को सेवा कहते हैं । भगवानकी स्नेहसे सेवा करनेवाले, लौकिक– पारलौकिक– सुखोंको तो ठीक, स्वयं भगवानने दिये हुए मोक्षकी भी कामना नहीं करते हैं ।

सर्व कामनाओंको छोडकर निःस्पृह हो जाते हैं । यही कृपा- सेवा- यथार्थ निष्काम- कर्मयोग- युक्त- है । वायुरहित- स्थानमें रहा हुआ दीप जैसे चलित नहीं होता है, ऐसी उपमा (समानता) परमात्मामें ध्यान से जुडे हुए योगीके चित्तको दी जाती है । योगनिरुद्ध चित्त शांत होता है, सूक्ष्मबुद्धि (हृदय) से परमात्माका साक्षात्कार (दर्शन) करके परमात्मामें ही वह संतुष्ट होता है । जहाँ वह प्राकृत- इन्द्रियोंसे ग्रहण न हो सके ऐसा, शुद्ध-बुद्धिसे ग्रहण योग्य, आत्यंतिक परमसुखका अनुभव करता है । इस अवस्थामें स्थित भगवत्स्वरूपसे चलित नहीं होता है। जिससे अधिक लाभ अन्य कोई नहीं है। जिसदशामें रहा हुआ भारीसे भारी दुःखोंसे भी चलित होता नहीं है । उद्वेगके वेगसे रहित चित्तसे ही योग होता है । संकल्पमेंसे होनेवाले कामको संपूर्ण छोडके, मनसे इन्द्रियोंको संपूर्ण वश करके, धैर्ययुक्त- बुद्धिसे मनको क्रमशः शांत करके, परमात्मामें मनको स्थिर करके, कुछ चिंतन न करें । मन जिस जिस कारणसे विषयमें विचरण करें, उस उस कारणसे मनको रोकके परमात्मामें उसका निरोध करें । रजोगुण- रहित, प्रशांत (आवेश-रहित) ब्रह्मभूत योगीको उत्तम सुख प्राप्त होता है । सदा ऐसा करता योगी परमात्मप्राप्तिरूप परमसुखको भोगता हैं । "**सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता ।**" श्रुतिके अनुसार विविध- रस- भोग- चतुरब्रह्मके साथ जीव यथेच्छ कामोप-भोग करता है । यह पुष्टिफल है । यथाधिकार लाभ होता है - सबको ! योगयुक्त सर्वत्र समदृष्टिवाला पुरुष आत्माको सर्व

भूतोंमे रहा हुआ, सर्वभूतोंको आत्मामें रहे हुए देखता है । आनंदांशके आविर्भावसे (भगवदात्मक्तासे) उसको व्यापक-त्वका अनुभव हो जाता है । जो मेरेको (भगवान् श्रीकृष्णको) सर्वत्र देखता है - समझता है - सबको मेरेमें (प्रगाढदृढतासे) देखता है, उससे मैं परोक्ष होता नहीं हूँ । मेरेसे वह अदृष्ट रहता नहीं है । सब जड-चेतनमें मैं रहा हूँ, मेरेको एकान्त-भावसे जो भजता है, वह कैसे भी बरतता लगता हो फिरभी मेरेमे ही है । "**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः** (३२)- सुख-दुःखादिमें सर्वत्र अपनी तुल्यतासे वर्तता है वह योगी श्रेष्ठ माना गया है। जिस परिस्थितिमें अपनेको सुख-दुःख होते हैं, ऐसा दूसरोंको भी होंगे-यह सोचके किसीको कष्ट नहीं देताहै।

मनकी चंचलता दूर करनेका उपाय :

अर्जुनने मनको चंचल, हठीला, क्षोभप्रद कहा है । उसका नियंत्रण कैसे करना ?- पूछा । प्रभुने "**अभ्यास**"- बारबार आवर्तन और "**वैराग्य**"- (अन्यत्र रागाभाव - भगवानमें रागभाव)- से मन वश होता है- कहा । अपने मनको वश किये बिना परवश योग दुष्प्राप है । मन वशमें करके ही योग सुलभ होता है । अर्जुनने पूछा,- योगसे चलित मनवालोंकी गति क्या ? भगवन्मार्गमें कर्म- ज्ञान- दोनोंसे रहित, भगवत्प्राप्ति और संसारिक- भोगोंसे भ्रष्ट, नष्ट होता है ?

भगवानने कहा,- यह लोक-परलोकमें भी वह नष्ट नहीं होता है । "**नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।**"-

(४०)– कल्याणकर्म करनेवाला कोई भी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता है । योगभ्रष्ट पुरुष स्वर्गादिमें वर्षों तक रहकर बादमें,– "**शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते** ।" (४१)– योगभ्रष्ट पवित्र– श्रीमंतोके घरमें जन्मता है । सब सुख-संपत्तिवाले प्रायः पवित्र नहीं होते हैं । जिसके जीवनमें प्रभु मुख्य हैं, वही पवित्र है । व्यवहार पहला, कुटुंब पहला, नौकरी-धंधा पहले, कमाना पहला, शरीर पहला, लौकिक– कार्य पहले और भक्त–भगवान् बादमें ! वह तो अपवित्रता ही है । पैसेसे, परिवारसे, पदसे, प्रतिष्ठासे, परोपकारसे, पूजा–पाठसे, प्रबलतासे, पवित्रता नहीं आती है । पवित्रता आती है– प्रभु– प्रेमसे, जीवनमें प्रभुकी ही मुख्यतासे ! पैसा और प्रेमका सुयोग बहुत कम होता है । "**अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्**।"– (४२)– अथवा बुद्धिमान् योगियोंके ही कुलमें जन्मता है। यह दुर्लभतर है । वहाँ पौर्वदैहिक बुद्धिसंयोग मिलता है, पुनः (भगवन्प्राप्ति) सिद्धिके लिये प्रयत्न करता है । पूर्वाभ्याससे, वह अवश होने पर भी, (प्रभुकी ओर ही) आकृष्ट होता है, योगजिज्ञासु वेदोक्त सकामकर्मको लांघ जाता है । अनेक जन्मोंके पुण्योंसे अशुद्ध– अंतःकरणवाला, प्रयत्नपरायण, योगी– परम-गतिको प्राप्त करता है । तपस्वीओंसे, (शास्त्र) ज्ञानीओंसे भी, कर्मीओंसे भी, (भक्तियुक्त) योगी अधिक (उत्तम) है। "–**तस्माद्योगी भवार्जुन** ।"– (४६)– इसलिये, हे अर्जुन ! तूं योगी हो । भक्तिमें ही कर्म– ज्ञान– तपः सबकुछ समाविष्ट हो जाता है । भक्तके जीवनमें तो यथार्थ कर्म–ज्ञान–भक्ति–तपः

स्वाभाविक सुलभ हो जाते हैं ।

"**योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।**
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥"– (४७)

कर्म–ज्ञान–तपः–प्रभृत्ति सब योगवालोंमें भी जो श्रद्धावान्, मेरेमें रहे हुए अंतःकरणसे मुझे(श्रीकृष्णको) निरंतर भजता है। वह(पुष्टिभक्त) अतिश्रेष्ठ (युक्ततम) है, मुझे(श्रीकृष्णको)मान्य है। **अध्याय– ७ : ज्ञानविज्ञानयोगः श्लोक–३० :**

वेद– भगवान्– धर्म– पुष्टि– सनातन हैं :

सर्वसमर्थ फिरभी प्रेमस्वरूप भगवान् निजजनोंके लिये तो क्या क्या नहीं करते हैं ?! लोक– शिष्टाचार– वेदविधान–की मर्यादामें रह कर ही सबकुछ करते हैं– ऐसा तो नहीं ही है ! प्रेमपरवशतासे, अपने स्वभाव और सामर्थ्यसे तो लोक–वेद तो ठीक, अपनी ब्रह्मस्वरूप– मर्यादाओंको छोडकर भी भक्तानुकुल हो जाते हैं– भगवान् ! भगवानका यह समर्थ्य–स्नेह है,– कृपा– पुष्टि ! भगवान् है,– तो उनके असाधारण धर्मरूप पुष्टि भी इतनी ही स्वभाविक है ! काल– धर्म–स्वभावका बाध करके भक्तोंको समर्थ बनानेवाला भगवानका असाधारण धर्म– सामर्थ्य विशेष– है– पुष्टि ! भगवान् सनातन है,– भगवानके प्रतिपादक वेद– सनातन है । वेद– धर्मसहित भगवानका प्रतिपादक है तो भगवद्– धर्मपुष्टि भी सनातन है! भगवान् पसंद करे– वरण करें– उसको, पात्रता– प्रयत्न–परिस्थिति– प्रारब्धादिकी निरपेक्षतासे, प्रदान करते हैं,–अन्य

फलोंका ही मात्र नहीं–स्वयं अपनी आत्माका– स्वस्वरूपका– भी! **अर्जुनका अधिकार– पुष्टिमर्यादा– के अनुकूल भगवद्– वचन :**

शुद्धपुष्टिकी तो बात ही इतनी अलग है ! अर्जुनका स्वीकार पुष्टि– मर्यादामें है ! प्रभुने मर्यादाको मुख्य रखकर पुष्टि की है। इसलिये अर्जुनके प्रश्न– प्रयत्नादिकी अपेक्षा रखते हैं। फिर भी स्नेहवश विना प्रश्न भी बता देते हैं– कई रहस्योंको! "मनुस्मृति"में कहा है– "**ना पृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् ।**"– बिना पूछे किसीको कुछ न कहें। भगवान्ने तो बिना पूछे ही बहुत कुछ कह दिया है !

गीताजीके अध्यायोंको ध्यानसे देखें तो स्पष्ट हो जाता है। अगले अध्यायोमें कई जगह भगवान् ही कह रहे हैं, वही अध्याय– समाप्तिके बाद नये अध्यायके आरंभमें पुनः– भगवान् कहते हैं– "**श्रीभगवानुवाच–**" आता है ! महर्षि व्यासजीको जहाँ योग्य संगति लगी वहाँ अध्याय– विभाग कर लिये ! इस दृष्टिसे तो आवश्यक कथानक– प्रकरण तो अध्याय– समाप्तिमें पूरा हो गया ! पुनः नये आरंभमें तो अर्जुनकी कुछ पृच्छा अपेक्षित होती है, परंतु वह न होते हुए भी "**श्रीभगवानुवाच**" आता है ! स्पष्ट है कि भगवान् लोकमर्यादा एवं शास्त्रमर्यादासे पर "**पृष्टि**"से बोल रहे हैं। तथापि "**ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ।**"– श्रीभागवत (१–१–८–)– शिष्यके स्नेहकी स्वभाविकता– सर्वाधिकता– सुदृढता देखकर गुरुजन शिष्यके पूछे बिना ही, गुह्यबात–

रहस्य– भी अपने आप अनुग्रहसे, उदार आत्मीयतासे, बता देंगे। भगवान् अर्जुनका स्निग्ध शिष्यत्व देखकर, बिना पूछे ही, रहस्य – गुह्य– गुह्यतर– गुह्यतम कहते रहते हैं, "**प्रियोऽसि**"– भी कहते रहते हैं ! यह है– तो बात स्नेहकी, परंतु है– शास्त्रोक्त ! इसलिये है– तो मर्यादा ! यही बात मुख्य हुई, हो गई– पुष्टिमर्यादा !– जिसमें अर्जुनका श्रवणादिके लिये अधिकार हैं। भगवान् तो बरसातकी तरह कृपा बरसाते हैं, प्रदान करते हैं, परंतु ठहरता सबके पास इतना ही है– जितना जिनका पात्र होता है !!

स्वतंत्ररीतिसे पुष्टिकी बात भी गीताजीमें कही है :

अर्जुनके "**पुष्टिमर्यादा**"– अधिकारानुसार प्रायः सब बातें भगवानने गीताजीमें कही है, परंतु कहीं कहीं तो अपनी स्वाभाविकतासे, अर्जुनके अधिकारसे अधिक, बातें कही ही है–, यह पुष्टिकी स्वतंत्रता है ! "**अपि चेत् सुदुराचारः ।**"– (९–३०), (सुदुराचारी भी मुझे भजे तो साधु जानना), "**मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य**"– (९–३२), (मेरा आश्रय करके पाप– जन्मवाले भी परमगति प्राप्त करते हैं) । "**सर्वधर्मान्– परित्यज्य।**"– (१८–६६)– (सर्वधर्म छोडके मेरी शरणमें आ) ऐसी स्वतंत्र– पुष्टिकी बातें भी हैं।

प्रस्थान चतुष्टयका ज्ञान– विज्ञान :

भगवानने गत– षष्ठ– अध्यायके अंतमें "**योगिनामपिसर्वेषां श्रद्धावान् भजते–।।**"–(६–४७)में, कृष्ण–सेवारत पुष्टि–

भक्तका वर्णन किया था, अब उसकी ही बात आगे बढाई है।

"मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन् मदाश्रयः ।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥"–(१)

वेद– गीता– **ब्रह्मसूत्र** और **श्रीमद्भागवत**– **प्रस्थान चतुष्टय** है । इनमें जो निर्णय किये गये हैं– वह सब आस्तिकों को मान्य हैं । चारों प्रस्थानसे होता है– ज्ञान !– कृष्णका ! –महिमाका! अनुभव है– विज्ञान ! ज्ञानका प्रयोग वा व्यवहार-रूप भी है !– विज्ञान– सेवा !

कृष्ण और सेवाकी फलरूपताः–

चारों प्रस्थानकी एकवाक्यतासे फलित होता है,– माहात्म्य जानके कृष्णकी सेवा स्नेहसे करें ! भगवदंश रूप जीवका यही स्वधर्म है, और कोई भी नहीं, कहाँ पर भी नहीं, कभी भी नहीं! माहात्म्यज्ञान एवं स्वधर्मज्ञान शास्त्रसे मिलता है । इसलिये, शास्त्र समझके मन – वाणी – देहसे कृष्णसेवा जरूरी है ।– श्रीवल्लभाचार्यजी **"तत्त्वार्थदीप निबंधके शास्त्रार्थ "(गीतार्थ)" प्रकरणकी "प्रकाश"**– टीकामें बताते हैं,– **"शास्त्रमवगत्य मनो वाग्देहैः कृष्णः सेव्यः ।"** "सिद्धान्त–मुक्तावली" में,– **"कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परामता । चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा ॥"** कहा है– मानव– जीवनका फल है,– भगवान् श्रीकृष्ण । यह फलात्मक भगवानकी सेवा भी फलरूपा ही है । भगवान् और भगवानकी सेवा स्वतः फल ही है, वह मिलने पर अन्य कुछ भी मिलना– "फल"– बाकी

रहता नहीं है । कृष्णके पाससे और कुछ भी अब चाहना या माँगना नहीं रहता है, क्योंकि कृष्ण ही फल हैं ! सेवा करके भी बदलेमें कुछ भी चाहना या माँगना नहीं रहता है । क्योंकि सेवा ही फल है !

स्वामि– सेवक– धर्मः

सारी दुनीआमें, सब धर्ममार्गोंमें, साधन– सिद्ध होने पर, अंतमें कोई (शास्त्रोक्त) फल मिलता है । ऐसे फल– रूपमें भगवान् तो नहीं होते हैं ! अगर कहीं मिल भी जाय, स्वेच्छासे– कृपा करके, तो दर्शन वा वरदान देके अदृश्य हो जाते हैं ! भगवान् वा दर्शनको अंतमें तो खो देते हैं ! यह तो लाभ नहीं, भारी असह्य घाटा ही हो जाता है ! वरदानमें भी वर जाता है, और मात्र दान ही रहता है !

प्रह्लादजीने श्रीनृसिंह भगवानको यथोचित कहा है,– **"यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् । आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः । न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन् यो राति चाशिषः ॥"**– श्रीभागवत (७–१०– ४,५), जो सेवक आपसे (लौकिक– वैदिक– कोई भी) अपनी कामनाएँ पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं है, वह तो मुनाफा–घाटा देखने–वाला, लेन–देन–करनेवाला, निरा बनिया (व्यापारी) है। जो अपने स्वामी (प्रभु)से अपनी कामनाओंकी पूर्ति चाहता है, वह सेवक नहीं है, नोकर है; और जो सेवकसे सेवा करानेके लिये, स्वामी बननेके लिये, उसकी कामना पूर्ण

करता है वह स्वामी नहीं है। वह तो शेठ है ! स्वामि- सेवक- संबंध तो निरपेक्ष- निष्काम होता है, शेठ- नोकर- संबंध तो सापेक्ष- सकाम ही होता है। प्रह्लादजी आगे स्पष्ट कर देते हैं,- "**अहं त्वत्कामस्त्वद् भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाःश्रयः। नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव ॥**" (७-१०-६)- मैं आपका केवल निष्काम ही नहीं; भगवत्काम सेवक हूँ और आप मेरे निरपेक्ष स्वामी हो। जैसे राजा और उसके सेवकका प्रयोजनवश स्वामि- सेवकका संबंध होता है, रहता है, वैसा तो मेरा और आपका संबंध है ही नहीं ! सच्चे अर्थमें तो निष्काम- कर्मयोग है,- भगवान् कृष्ण की सेवा ! यही है,- यथार्थ ज्ञान ! यही है,- यथार्थ विज्ञान!।

पुष्टिभक्तिमार्गमें तो भगवान् आरंभसे ही मिल जाते हैं :

पुष्टिभक्तिमार्गमें तो जिसी ही दिन दीक्षा ली, कृष्णसेवा शुरु की, उसी ही दिनसे सेवकको भगवान् साक्षात् मिल जाते हैं। हमेशाके लिये जीवनभरके लिये मिल कर रह ही जाते हैं ! वे फिर सेवकको छोडकर वापस लौटतें नहीं हैं। भक्तके घरमें- भक्तके हृदयमें- भक्तके जीवनमें- भक्तके प्रत्येक कार्यमें- भगवान् प्रकट विराजते ही रहते हैं। यही आनन्दमय भगवानको जाननेसे ज्ञानीओंको "अभय" मिलता है ! यह ही उन लोगोंका फल होता है।- भगवान् नहीं !- आनंद नहीं! भक्तका फल तो आनंद है,- आनंदमय भगवान् है,- आनन्दमयी भगवानकी लीला है ! अभय तो उसमें आरंभसे वा बीचमें कहीं आ ही जाता है- गौणरूपमें ! "**अभय**" तो भक्तको, दैवी-

संपदवालोंको, जन्मतः स्वयं सिद्ध होता है ! "**अभयं सत्त्वसंशुद्धिः** -" गीता (१६-१) में स्पष्ट भगवानने कह दिया है!!

जिसका ध्येय अभय हो वह भले जीवनभर प्रयत्न अभयके लिये करता रहे ! भक्तको- दैवी-संपद्वाले, दैवी- जीवको, तो अभय जन्मसे प्रभुने ही दे दिया है ! वह क्यों व्यर्थमें अभयके लिये समयको- जीवनको- बिगाडें ?!- शक्तिको क्यों बरबाद करें ?! भक्त तो अभयसे भी आगे- उत्तम- भगवानकी लीलाका आनन्द है- भगवत्- स्वरूपका आनंद है, उनका ही आस्वाद करता रहे- करता रहता है। यह भी तो कृष्णकी सेवामें ही सुलभ हो जाता है !

कृष्णसेवा- अपने घरमें- अपने ही तन- धन- मनसेः

कृष्णसेवा सदा करनी ज़रूरी है। सेवाकी प्रक्रिया जो प्रसिद्ध है, वह तो प्रतिदिन, आजीवन करनेकी है ही; परंतु वह प्रक्रिया तो सीमित समयके लिये होती है, इसलिये सेवाके बाद भी, "**मेरे प्रिय प्रभु प्रसन्न हो**"- इस ही ध्येयसे प्रत्येक क्रिया हमारे जीवन- व्यवहारमें भी करते रहेंगे तो निश्चय जीवनकी- दैनंदिन व्यवहारकी- दैहिकाहि- सब क्रियाएँ भी सेवा ही हो जायगी ! दोनों प्रक्रियाएँ सदा चलती ही रहेगी, इससे कृष्णसेवा सदा चलती ही रहेगी ! मानसी - सेवा फलरूपा - उ़त्तम- परा - मानी गयी है। चित्त भगवान् श्रीकृष्णमें झुकता रहे, बहता रहे, निमग्न रहे - यह सेवा है। उसकी सिद्धिके लिये होती है, - तनुवित्तजा - सेवा ! "भक्तिवर्धिनी" - ग्रंथमें, -

दैनंदिन व्यवहारकी– दैहिकादि– सब क्रियाएँ भी सेवा ही हो जायगी । दोनों प्रक्रियाएँ सदा चलती ही रहेगी, इससे कृष्णसेवा सदा चलती ही रहेगी । मानसी – सेवा फलरूपा – उतम – परा – मानी गयी है । चित्त भगवान् श्रीकृष्णमें झुकता रहे, बहता रहे, निमग्न रहे – यह सेवा है । उसकी सिद्धिके लिये होती है, – तनुवित्तजा सेवा ! "भक्तिवर्धिनी" – ग्रंथमें,– " –**गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।–**" भक्ति बढानेके उपायोमें कहा है– सेवानुकूल घरमें रह कर, वर्णाश्रम धर्म– पूर्वक भगवानकी सेवा करें । दोनों ग्रंथके संयोगसे निष्पन्न होता है कि,– अपने सेवानुकूल घरमें रह कर, अपने वर्णाश्रमधर्मपूर्वक, अपने ही तन– धनसे, मन लगाके, सपरिवार, अपने प्रिय स्वामी कृष्णसुखका स्नेहसे संपादन करना !– यह होती है– कृष्णसेवा! सेवामें तन– धन अपने ही लगने चाहिये । "**असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत् ।**"– "सिद्धान्त रहस्य" । तदनुसार पूरा जीवननिर्वाह प्रभुकी प्रसादी वस्तुसे होना जरूरी है । असमर्पित छोड देना जरूरी है । किसीसे धन देकर सेवा करवाना, किसीका धन लेकर सेवा करना, दोनों निषिद्ध है । इससे तो राजस– अंहकार– बढता है; फल नहीं होता है !

ब्रह्मज्ञान तो कृष्णसेवाका गौणफल हैः कृष्णसेवा करते ही अनायास ब्रह्मज्ञान हो जाता है :

जब अपने सेवानुकूल घरमें, अपने तन– धनसे, अपने प्रिय कृष्णकी सेवा यथायोग्य हो रही हो तब फलरूपा मानसी सेवाके पहले, अवान्तर– गौणफल होता है,– "**ततः संसार दुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्म बोधनम् ।**–" "सिद्धान्तमुक्तावली ।"– तनुवित्तजा सेवामें अहंता– ममता– जन्य संसारके दुःख दूर हो जाते हैं, ब्रह्मज्ञान हो जाता है ! यह तो गौणफल है– पुष्टि –भक्ति मार्गीय सेवाका ! ज्ञानमार्गमें तो मुख्यफल माना गया है,– ब्रह्मज्ञान !– वह तो सेवामें बिना चाहा, बिना प्रयत्न ही, अपने आप मिल जाता है ! अक्षरब्रह्मका ज्ञान होनेसे सब अक्षरात्मक स्फुरायमान होता है ! सेवा करनेमें तो भगवत्स्वरूप ज्ञान– भगवल्लीलाज्ञान भी सुलभ हो जाता है । और उसका अनुभव– विज्ञान– भी सुलभ हो जाता है ।

भक्तका जीवनध्येय– भगवान् ! :

भगवान्, सेवा करनेवालेको भगवज्ज्ञान जैसा होता है, होना चाहिये, वह अभी बताते हैं,– "**मय्यासक्तमनाः पार्थ ।**" (१)–भगवान् यह बात पार्थको कहते हैं । "पाति सर्वानिति यः परमेश्वरः। स एव अर्थः प्रयोजनं यस्येति पार्थः ।"– जो सर्वकी रक्षा करते है, वह परमेश्वर है– "प" ! वह परमेश्वर ही जिसके जीवन का "अर्थ"– प्रयोजन– है,– वह "**पार्थ**" है ! भगवानके लिये ही जीनेवाला, भगवानके लिये ही सबकुछ करनेवाला, है– पार्थ! भक्त पृथाका बेटा पार्थ भी भक्त है । जीवन– ध्येय जिसका दृढ है,– स्पष्ट है, वह "पार्थ" ही जीवनको भगवद्गामी बना देता है ।– दृढता माहात्म्यज्ञानसे आती है ।– "**समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि**"– "संपूर्ण– सामर्थ्य– स्वरूप– गुण– कार्य– आदि– प्रकारसे, जैसे भी तू मेरेको जानेगा," कृष्णने कहा ! सब प्रकारसे भगवान् ही जानने योग्य है । परंतु वह ज्ञान

संशयग्रस्त न होना चाहिये । "**असंशयं**"– संशयरहित, जो संशयरहित होता है, वही दृढ होता है । माहात्म्यज्ञानसे– संशय चले जाते हैं, दृढता बढती चलती है । वह कहनेका यह उपोद्घात है । सब अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार भगवानकी कल्पना करते हैं ।– भगवान् प्रमाण चतुष्टयसे ही जानने चाहिये।

आसक्ति और आश्रय एकमें होनेसे दृढता होती है :

"**मय्यासक्तमनाः**"– तू मेरेमें आसक्तिवाला है, "**मदाश्रयः**–" मेरा ही आश्रयवाला है । आसक्ति और आश्रय एकमें होनेसे अनन्यता आ जाती है । अर्जुनके लिये आसक्ति– आश्रयका अधिष्ठान एक ही है,– कृष्ण ! आसक्ति– कृष्णमें ! आश्रय– कृष्णका! कोई नौकरी करता हो तो, आश्रय– शेठका और आसक्ति–परिवारमें ! तो शेठसे पैसा लेगा,– परिवार को देगा! एकमें ही आश्रय और आसक्ति हो तो संबंधमें– सुदृढता– सन्निष्ठा– अनन्यता होती है । इस प्रकार, "**योगं युञ्जन्**"– आत्मसंयमसे– चित्तको एकाग्र करता हुआ, "**श्रृणु**"– सुनना ही पर्याप्त नहीं है,– श्रवण कर ! "**शक्तितात्पर्यनिर्धारः श्रवणम्।**" – शब्द और वाक्यकी शक्ति (अर्थ) और तात्पर्य (आशय) का निर्णय ही श्रवण है, केवल आवाज– शब्दादि– सुन लेना श्रवण नहीं है । शब्दादि– सुनके सन्देहरहित स्पष्ट समझना वह श्रवण है ।

विज्ञानसहितज्ञानका प्रदान : श्रीगीतामें :

"ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेहभूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।।"– (२)

यह ज्ञान– विज्ञान सहित– मैं तूझको संपूर्णरूपसे प्राप्त करता हूँ । "**वह प्रापणे**"– धातुपाठ है । यहाँ "**वक्ष्यामि**"– कहनेके अर्थमें हो सकता है, परंतु "**अशंसयं**"– संशय– रहित, संपूर्ण रूपसे– "**अशेषतः**" कहा है, इसलिये यह कृपापूर्वक प्रदान है। मानों मूर्तिमंत दान है; जिससे कहीं पर संशय न हो, अपूर्णता न हो । नहीं तो वक्ता– श्रोताके कुछ दोष हो तो यथार्थ श्रवण– कीर्तन नहीं होते हैं । यहाँ भगवान्– वक्ता तो निर्दोष है, परंतु अर्जुन धर्म संशयग्रस्त होनेसे यथार्थ ग्रहण न भी कर सकें ! इसलिये तो कृपापूर्वक ज्ञान– विज्ञान सहित– प्राप्त कराते हैं।

श्रीभागवतमें भी विज्ञान– सहित ज्ञानका प्रदान है :

भगवानने ब्रह्माजीको भी पहले ऐसे ज्ञान– विज्ञान ग्रहण कराये हैं ।

"ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम् ।
सरहस्यं तदंगं च गृहाण गदितं मया ।।"–

–श्रीभागवत (२–९–३०)

भगवानने अपना परम गुह्यज्ञान जो विज्ञानसहित है, वह सरहस्य, सांग, ब्रह्माजीको कहा,– ग्रहण भी कराया ! "**गृहाण**"– "**ग्रहण कर**", "**गदितं**"– "कहा हुआ" । वहाँ भी वक्तव्यका ग्रहण कराया है । वक्ता तो निर्दोष है– भगवान् । ब्रह्माजी– श्रोता– रजोगुणवाला है, इससे श्रवणदोष– संभव है, इसलिये कृपापूर्वक ग्रहण कराया– सोंप दिया !

ज्ञान– विज्ञान– का स्वरूप– श्रीभागवतमें :

ज्ञान– विज्ञान भी भगवानने भीष्मप्रसंगसे उद्धवजीको बताये हैं,–

“नवैकादश पञ्चत्रीन् भावान् भूतेषु येन वै ।
ईक्षताथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम् ॥”–

–श्रीभागवत (११–१९–१४)

एतदेवं हि विज्ञानं :

नव– प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहंकार, पंच तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध); एकादश– इन्द्रियाँ– (पाँच ज्ञानेन्द्रिय– श्रोत्र, त्वक्, घ्राण, दृक्, जिह्वा; पाँच कर्मेन्द्रिय– वाणी, हाथ, पैर, जननेन्द्रिय, पायु, मन); पंच– महाभूत– (आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी); तीन गुण– (सत्त्व, रजः, तमः); मिलके यह है– २८ तत्त्व ! ब्रह्माजीसे लेकर तृण पर्यंतमें हैं । इनमें एक ही परमतत्व– “**सत्**” ओतप्रोत है। उसका जिससे दर्शन हो, यही भगवानका निश्चित “**ज्ञान**” है । अकेला– “**सत्**” देखनेमें आवे यह ज्ञान सात्त्विक भी कहा जाता है ।– यही “**विज्ञान**” भी है । सर्वमें “**अस्ति– भाति– प्रियं** ”– है– ब्रह्मरूप है । “**नाम– रूप**”– है जगद्रूप ! प्रत्येक पदार्थ २८ तत्त्वोंसे बना हुआ है । यह सब त्रिगुणात्मक है । उनके उत्पत्ति– स्थिति– लय– जिस मूलकारण ब्रह्मसे होते हैं, उसके दर्शन– “**विज्ञान**” है । यह “**तत्त्वज्ञान**” है । मनन करनेसे विरक्ति होती है । कर्मसे प्राप्त ब्रह्मलोक पर्यंतके सुख नश्वर हैं । यह समझसे श्रद्धा ब्रह्ममें होती है । अमृतरूप कथासेवन, परिचर्या, आत्मनिवेदनसे भक्ति होती है । पुनः कौनसा पुरुषार्थ अवशिष्ट रहता है?! श्रीगीताजीमें यहाँ “**माहात्म्यका ज्ञान**” कराते हैं, तज्जन्य भक्तिसे तन्महिमायुक्त भगवानका अनुभव “**विज्ञान**” है! यह **ज्ञान –विज्ञानसे**– जिसको जानके यहाँ अन्य कुछ भी ज्ञातव्य अवशिष्ट रहता नहीं वह है– भगवान् ! वेदोंमें जैसे– एक– विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी– प्रतिज्ञा है,– वैसी ही बात गीता– वेददोहन होनेसे कही है । “**यस्मिन् विदिते सर्वं विज्ञातं भवति।**”– ”श्रुति है । जो ज्ञान जीवनमें उतर आये, व्यवहारमें अनुभव दे, वह विज्ञान है ।

लाखोंमेंसे कोई एकाध ही सिद्ध–पुरुष भगवानको यथार्थ जानता होगा :

“मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥”– (३)

हजारों मनुष्योंमेंसे कोईक एक ही भगवत्प्राप्तिके लिये (भगवज्ज्ञान– ब्रह्मज्ञानके लीये) प्रयत्न करता है । यत्न करनेवाले सिद्धपुरुषोमेंसे भी कोई एकाद व्यास– शुकादि जैसे ही मुझे तत्त्वतः जानता है । “**ज्ञानमस्ति समस्तस्य– अतो हि ज्ञानिनः सर्वे पशुपक्षिमृगादयः ॥**”– सबको ज्ञान तो होता है,– अपने सामान्य प्रयोजनके लिये ! पशु– पक्षि– मृग– आदिको भी आहार– निद्रा– भय– मैथुनका सामान्यज्ञान तो दिखाई देता है! केवल मनुष्योंमें ही ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है । परंतु यह ज्ञान कल्याणमें उपयोगी कितना होता है ?! कलियुगमें

कल्याणका ज्ञान कितनेको होता है ?! कमाई- कीर्ति- कुटुंब- कामना- क्लेशादिमें कल्याण तो दबता- कुचडता- रहा है । सच्चे अर्थमें ज्ञान- भक्तिसे- भगवानके लिये प्रयत्न- परायण कितने हैं ?!- हजारों मनुष्योंमेंसे कोई एकाध ! ऐसेमेंसे भी तत्त्वज्ञान वा आत्मज्ञानमें पचते हुए लोग दिखाइ देते हैं । ऐसेमेंसे ब्रह्मज्ञान वा भगवज्ज्ञानके वा फलरूपा भक्तिके लिये तो कौन प्रयत्नमें लगा रहता है ?! ऐसे प्रयत्नोंमें लगातार लगे रहनेवालोमेंसे कोई एकाध ही भगवानको तत्त्वत्तः जानता होगा। कृपाके बिना तो कृष्णको कौन कैसे जान सके ?! "**यमेवैष वणुते स तेन लभ्यः ।**"- श्रुति है । भगवान् जिसका वरण करे, पसंद करे, चाहे, कृपा करे, उसके ही लिये भगवान् लभ्य है। बाकी तो सबके लिये,- सब साधनोंसे भी, अलभ्य है!

भगवानने स्वमहिमा- ज्ञान देते हुए, अपनी प्रकृति- दो प्रकारकी बताई :

१ **अपरा- प्रकृति** - १. भूमि, २. जल, ३. अग्नि, ४. वायु, ५. आकाश, ६. मन, ७. बुद्धि, ८. अहंकार । भगवान् स्वयं इन रूपोमें लीलार्थ प्रगट होते हैं ।- आत्मसृष्टि है । सबका अभिन्ननिमित्तोपादान- कारण भगवान् ही है । सदंश- लीला है ।

२. **परा- प्रकृति** - जीवभूता । जिससे यह जगत् धारण किया जाता है । जीव न हो तो जीवन न हो। केवल जडसे प्रवृत्ति कुछ भी नहीं होती है । भगवान् जीवरूप भी होकर खेलते हैं । चिदंशलीला है । उभयमें आन्दांश तो तिरोहित है । सबकी उत्त्पत्ति ये दो प्रकृतिसे हैं । प्रभुकी प्रकृष्ट उत्कृष्ट कृति है- प्रकृति ! यह सच्चिदंश रूप जड- चेतन- मय जगत् रूप भी भगवान् ही है । स्वेच्छासे उसमें आनंद प्रकट- नहीं है ! यह भी तो है- भगवानकी लीला ! यहाँ- अपरा और परा प्रकृति कही है , इससे पर तो प्रभु ही है ! और भी तीन- तीन रूप बताये हैं,-

अ. ७- अपरा- प्रकृति- परा-प्रकृति- भगवान् !

अ. १३- क्षेत्र- क्षेत्री- क्षेत्रज्ञ ।- (भगवान् !)

अ-१५- क्षरपुरुष- अक्षरपुरुष- उत्तमपुरुष (परमात्मा)!

समस्त जगतके उंत्पत्ति- स्थिति--लय रूप भी प्रभु ही है।- प्रभुसे अधिक कोई भी नहीं है । सूत्रमें मणिगण प्रोत हुए हो, ऐसे भगवान् ही यह सबके आधार है । जलमें रस; सूर्य चंद्रकी- प्रभा, वेदमें प्रणव, आकाशमें शब्द, मानवमें पौरुष, पृथ्वीमें पुण्य- गंध, अग्निमें तेजः, सर्वप्राणीयोंमें जीवन, तपस्वीमें- तपः, सर्वभूतके- बीज; बुद्धिमानोंकी बुद्धि, तेजस्विमें- तेजः, बलवानोंमें बल (काम- राग- रहित), प्राणियोंमें धर्मा- विरुद्ध- काम, त्रिगुण पदार्थमात्र प्रभुसे प्रकट होते हैं । "**नत्वहं तेषु, ते मयि**"- मैं उसमें (वश) नहीं; वे प्रकृतिमें है, मेरेमें नहीं! त्रिगुणमय- प्राकृत- पदार्थसे मोहित यह सब जगत्, उस त्रिगुणसे पर, अव्यय मुझको नहीं जानता है । विश्व है, व्यवस्था है, सब वैश्विकक्रम व्यवस्थित चलता है, तो सर्जक-

है, तो सर्जक– व्यवस्थापक– नियामक– प्रेरक– पोषक– रक्षक भी है ! वह है– भगवान् !

भगवानकी माया : तैरनेका उपाय :

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव यं प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥"– (१४)

लीलाके लिये ही प्रकट की गई मेरी दुरत्यया शक्ति है– माया ! विश्वको देखकर, विश्वसर्जक– विश्वेशको भूलना माया है । "**मया सह आगन्तव्यम्**"– ऐसी आज्ञा भगवानने स्वशक्तिको वैकुंठमेंसे अवतारार्थ पधारते समय की । यह आज्ञा विषयवाली हुई– "**माया ।**"– प्रभुकी सेवा करती रहती है– भगवानकी वशमें होती है । भगवानके सदंशकी शक्ति क्रियारूपा है, चिदंशकी शक्ति जीवोंको मोह करानेवाली– व्यामोहिकामाया है । आनंन्द रूपकी शक्ति– जगत्कारण– रूपा है । भगवानके अंश रूप जीवोंमेंसे भगवादिच्छासे आनंदांश तथा ब्रह्मधर्म (ऐश्वर्य– वीर्य– यशः– श्री– ज्ञान– वैराग्य) तिरोहित हो जानेके कारण, अविद्या– संबंधसे लौकिक– काममय जीव हो गया । देव– दानव– मानव– सब पशु– पक्षी– आदि भी अंतमें तो अणुमात्र जीव है । व्यामोहिका– मायासे मोहित जीवको देहादिसंबंध होता है । अब, प्रभुके अनुभवके स्थान पर अनेक वस्तुओंका अनुभव करता है । उसमें "मैं– मेरा"– एसी कल्पित बुद्धि– भ्रम– संसार– से बंध जाता है । अनर्थ भोगता है । भगवानकी कृपासे, भगवानकी शरणागति सुदृढ– अनन्य– होने पर, जब निःसंदेह प्रतीति होती है– कि– "**मैं**

प्रभुका हूँ, प्रभुका अंश होनेसे दास हूँ, प्रभु मेरे स्वामी हैं ।"– तब यह माया मोह नहीं कराती है । निद्रामेंसे जगने पर जैसे स्वप्न चला जाय, ऐसे माया– मोह दूर हो जाय, अहंता– ममता निकल जाय, आसक्ति न रहे, प्रभुका सानुभव हो, तब जीव कृतार्थ होता है । यही माया– प्रकृति अजा– निद्रा नामसे भी प्रसिद्ध है । "**मम माया**"– मेरी माया– कहनेसे मायाको भगवानका सामर्थ्य मिला है, इसलिये और कोई भी साधनादिसे माया दूर नहीं होती है । "**मामेव ये प्रपद्यन्ते**"– "**मेरी ही**" शरणमें ये आते हैं, वे ही मायाको तैर जाते हैं । भगवान् कृष्णके सिवाय अन्य कोई भी देवी– देवता– ज्ञान– कर्म– वैराग्य– शास्त्रोक्त भक्ति– मंत्र– तंत्र– यंत्र– जप– पाठ– दान–योग– यागादिसे माया तैरना शक्य नहीं ही है । केवल कृष्णकी शरणसे ही कृत्तार्थता होती है ।– माया तैर जाते हैं ।– और कोई भी उपाय है ही नहीं । त्रिगुणात्मिका मायाको तैरने वा जितनेवाला त्रिगुणोंसे पर– निर्गुण होता है ।– भगवन्निष्ठ ही होता है । ज्ञानीओंको भी माया बलसे मोह करा देती है !– "**ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा । बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥**" (मार्कण्डेय पुराण) शरणागतिसे माया तैर जाते हैं । समर्पण– पूर्वक सेवासे असमर्पित– वस्तुत्यागसे, सरलतासे मायाको जिती जाती है। स्वानुभवसे उद्धवजी कहते हैं–

"त्वयोपभुक्त– स्रग्गन्धवासोडलंकारचर्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि ॥"–

–श्रीभागवत (११–६–४६)

भगवानके उपभुक्त (प्रसादी) माला, चन्दन, वस्त्र, अलंकारसे चर्चित, प्रसादी– समर्पित– लेनेसे ही देहनिर्वाह चलानेकी तीव्र कामनावालें, उच्छिष्ट भोजिदास मायाको जीत लेते हैं। सुदृढ– अनन्य– शरणागतिसे मायाको तैर जाते हैं, परंतु तैरनेमें प्रयास तो शरणागतको करना पडता है ! उच्छिष्ट भोजी दास मायाको जित लेते हैं, परंतु अच्छिष्ट भोगसे जितनेका प्रयास तो करना पडता है !

"विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया ।
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः ॥"–

–श्रीभगवत (२–५–१३)

जिस मायासे मोहित दुर्बुद्धिवाले लोग "मेरा– में"– ऐसा कहते रहते हैं, वह माया तो प्रभुकी नजरोंके सामने खडी भी नहीं रहती है, जीवके व्यामोह– कार्यसे विलज्जित है। जहाँ भगवान् विराजते हैं, वहाँ माया खडी भी नहीं रह सकती है ! प्रभु पुष्टिसे प्रकट हो जाय, विराजे, वहाँ माया नहीं रह सकती है। इसमें जीवको तो कुछ करना ही नहीं रहता है। **"यमेवैष वृणुते स तेन लभ्यः"**– श्रुति है। जिसका वरण करे उसको प्रभु मिलें, माया जाय ! जीव पुष्टिसे तो कृतार्थ हो जाय ! प्रभु मिले– माया टले, सेवासे शुभ हो जाय !!

मायासे जिनके ज्ञानका अपहरण हो गया है ऐसे दुष्कर्मरत विचारहीन, मूढ, नराधम, आसुर भावाश्रित लोग मेरी शरणमें आते नहीं हैं,– मुझे भजते नहीं है। आसुर संपद्वाले भगवानको

नहीं भजते हैं।

भगवानको भजनेवाले– चार प्रकारके भक्त :

चार प्रकारके पुण्यशाली लोग मेरेको (भगवानको) भजते हैं।

१. आर्त, २. जिज्ञासु, ३. अर्थार्थी, ४. ज्ञानी। क्रमशः– गजेन्द्र, शौनक, ध्रुव, शुकदेवजी।

"चतुर्विद्या भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥"– (१६)

पुर्वावतारके पुण्योदयसे– प्रभुकृपासे– ही ये लोग भजते हैं।

१. **आर्तभक्त**– संसारादि– क्लेशयुक्त, संतापनिवृत्तिके लिये धर्मरूपसे भगवानको भजता है। अपने दुःखसे दुःखी और अन्यके दुःखसे दुःखी– यह दो तरहके भी आर्तभक्त होते हैं।

२. **जिज्ञासु–भक्त**– भगवत्स्वरूप ज्ञानेच्छावाला, कामना– पूर्तिके लिये कामरूपसे भगवानको भजता है।– दुःखकारण जिज्ञासा भी है।

३. **अर्थार्थिभक्त**– अर्थके प्रयोजनवाला भगवत्सेवोपयागि– साधन– संपतिके लिये– अर्थरूपसे भगवानको भजता है। अन्यदुःखादि– निवारणार्थ भी द्रव्य चाहनेवाला।

४. **ज्ञानिभक्त**– शास्त्रार्थ ज्ञानवाला, मोक्षरूपसे भगवानको भजता है। सर्वदुःखनिवृत्तिके उपाय जाननेवाला।

इस प्रकार, चारों भक्त,– चारों पुरुषार्थरूपमें भगवानको भजते हैं। जिनको आर्ति, जिज्ञासा, अर्थ, ज्ञान– आदिसे भी

भगवत्संबंध हुआ है,– वे पुण्यशाली लोग हैं । पुण्यशाली भजते हैं, इसमें तो आर्त्युपाधि वा पुण्योपाधिसे प्रवाह– मर्यादा– भक्ति होती है । जहाँ सुकृतित्व भी नहीं है, मात्र मुख्य– भजन करते हैं; वे तो पुष्टिभक्त ही होते हैं– श्रीगोपीजन जैसे । वे तो आर्त्यादि (कारण) उपाधिसे भी नहीं, केवल निरुपधिक (कारण– रहित) अलौकिक– स्नेहसे भजते हैं । श्लोकमें "च" से वे नहीं आते हैं ।

केवल ज्ञानी नहीं, परंतु ज्ञानिभक्त भगवानकी आत्मा है!:

"तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्विशिष्यते ।" – (१७) **"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।"** – (१८) – प्रभृतिमें ज्ञानीकी प्रसंशा प्रभुने की हुई लगती है, परंतु यहाँ केवल ज्ञानीकी प्रसंशा नहीं है, **"भजन्ते मां"** – से,– मुझको (कृष्णको) भजनेवालोंकी प्रसंशा होनेसे "ज्ञानिभक्त" ही वहाँ कहा गया है । ज्ञानिभक्त प्रभुको अतिप्रिय है, ज्ञानिभक्त ही प्रभुकी आत्मा है, भगवानमें ही स्थित है ।

ज्ञानीको भी अंतमें शरणागति ही करनी पडती है :

"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।।" – (१९)

ज्ञानवाला है ही कौन ?! मानते हैं सब– ज्ञानी ! प्रभुकृपा हो तब अंतिम जन्ममें ज्ञान होता है,– अनेक (जन्म) भवमें भटकनेके बाद !– अनेक जन्मके अंतमें, जब अंतिमजन्म होता है तब ! **"यह सब (जगत्) वासुदेव है" – मिथ्या नहीं है,**

सत्य है– ऐसा अखंडाद्वैत– ज्ञानवाला होकर, मेरी शरणमें आता है, मुझे भजता है । ऐसा महात्मा सुदुर्लभ है । आत्मज्ञान तो कभी सिद्ध हो भी जाता है, भगवज्ज्ञान नहीं होता है । ऐसे ज्ञानसे भी भक्ति सर्वोत्तम है ।

विविध कामनावश अज्ञानी लोगोंको विविध देवता रूपसे भगवान् ही फल देते हैं :

"कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ।।
योयो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।।
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हि तान् ।।–
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।।" –
(२०, २१, २२, २३, २४)

अपनी अपनी तुच्छ प्रकृतिसे पराधीन बने हुए, वे वे कामनाओं (भोगकी ईच्छाओं)से जिन लोगोका ज्ञान नष्ट हो गया है ऐसे लोग, (उन देवोंके) वे वे नियमोंको धारण करके, अन्य– देवताओंकी शरणागति करते हैं,– अन्य देवोंको भजते हैं । जो जो ऐसे सकाम– भक्त जिन जिन देवताओंके विग्रहोंको श्रद्धासे पूजना चाहता है, मैं (श्रीकृष्ण) उस उस भक्तकी उस उस श्रद्धाको उसी ही देवताके प्रति (देवतारूपसे) स्थिर करता

हूँ । वह (सकाम) भक्त उस श्रद्धासे युक्त होकर उस देवताकी पूजा करता है और उस देतवाकी पाससे मैंने(कृष्णने) ही– विहित किये हुए, (शात्रोक्त), उसी ही इच्छित भोगोंको निश्चित प्राप्त करता है । परंतु वह अल्प बुद्धिवालोंका फल अंतवाला (नाशवंत, स्वल्प) होता है; देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, मेरे भक्त मेरेको भी प्राप्त करते हैं । स्वल्प समझसे कामनावश लोग कामना– पूरक देवताओंको पूजते हैं । सब देवता भी भगवदंश है– भगवद्विभूति है– इस रूपमें भगवान् ही इतने परिमित गुण धर्मोंसे वह वह देवतारूपसे श्रद्धाको पुष्ट करते हैं । भगवानने दिये हुए विहित स्वल्प फल ही देवताएँ अपने पूजकको देती है । भगवादिच्छानुसार ही देवताएँ फल देती है, स्वतंत्ररूपसे कोई कुछ कर नहीं सकती हैं । देवतापूजक अंतमें देवताको प्राप्त होते हैं, भगवद्भक्त भगवानको ही प्राप्त होते हैं । सब देवता तो प्राकृत ही होते हैं, भगवान् तो अप्राकृत –पूर्णानंन्द है ।– देवतापूजकोंको तो एकाध आनंदबिन्दु मिलता होगा, कृष्णभक्तको तो आनंदसिन्धु सुलभ हो जात है ! भक्तोंके बिना भगवानको तो कौन जानता है ?!– कौन प्राप्त भी करता है ?!

प्रकटपूर्ण भगवान् कृष्ण नराकार है– निराकार कहाँ है?: उभयरूप है– सर्वसमर्थ भगवान् ! :

"अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥" – (२४)

दूधमें फैल कर रहा हुआ (व्यापक) नवनीत इन्द्रियगोचर

तो नहीं ही होता है । होता तो है– दूधमें, परंतु व्यक्त नहीं है,– अव्यक्त है ! अत्यंत सूक्ष्मरूपसे भी वही होता तो है ही ! मक्खनके कण– विरलावयव– दूधमें हैं, मक्खन या आकार दिखता नहीं है । दूधको जमाके दहीको बिलोने पर मक्खन वही दूधमेंसे बहार प्रकट होता है । दूधमें मिला था– व्यापक था– निराकार था– अज्ञलोगोंने कहा ! दूधमेंसे योग्य प्रक्रियाके बाद रूप जो था वह प्रकट कर दिया– साकार था ही, है ही, रहा ही ! नया रूप नहीं होता है,– जो है वह मूलरूप ही है, वह प्रकट हुआ है । भगवान् दर्शन– प्रकट देते है,– निर्दोष साकार है । दर्शन नहीं देते हैं– तो भी है– साकार व्यापक ही है ।– लोकदृष्टिमें, वह साकार– निराकार है, भगवान् तो हैं– उभय रूप है ! व्यापक भी साकार, प्रकट भी साकार ! व्यापक लगे निराकार, प्रकट साकार ! अप्राकृत आकार है, विकार नहीं है । आनंद मात्रकरपादमुखोदरादि है– भगवान् । श्रुति भगवानमें प्राकृत देहेन्द्रिय– गुणोंका निषेध करती है । और अप्राकृत देहेन्द्रिय– गुणोंका विधान भी करती है । विरुद्धधर्मोंका आश्रय है– भगवान् ! भगवानमें विरोधि-धर्म भी अविरोधसे रहते हैं।! ब्रह्मांडको रचनेवाला, जगतमें सबको सर्जनेवाला, सर्वसमर्थ भगवान् क्या अपना रूप जगतमें नहीं प्रकट कर सकता है ?! वह असमर्थ नहीं है ।

अप्राकृत– पूर्णानंद– निर्दोष– पूर्णगुणविग्रह– 'आत्मतंत्र– भगवान् स्वलीलाके लिये स्वेच्छासे प्रकट हो जाते हैं । माया–मोहित बुद्धिवाले लोग उसको विविध क्लेश करानेका यत्न

करते हैं। भगवानके सामर्थ्यको न जानकर उसको मायाशबल, विवर्तरूप,– कल्पनामात्र– भी मान लेते हैं। “**व्यक्तिमापन्नं मां अबुद्धयः अव्यक्तं मन्यन्ते ।**”– स्वेच्छासे प्रकट हुए, दर्शन देते हुए, भक्तकार्य करते हुए, अर्जुनको यही गीता सुनाते हुए, भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात है, फिर भी उनके ही शब्दोंसे उनको निराकार बना देना तो सस्ते ज्ञानका दुःसाहस ही है। “**अव्ययं**”– अविकृत– अप्राकृत– रूप मेरा (कृष्णका) है। जो है उसका स्वीकार ही बुद्धिमत्ताका लक्षण होता है। कर्तुं– अकर्तुं– अन्यथा– कर्तु– समर्थः (करनेकी, न करनेकी अन्यथा करनेकी शक्तिवाला) –सर्वसमर्थ है– भगवान् ! भागवत– श्रोता राजा परीक्षितकी रक्षा करते हुए भगवान्, अश्वत्थात्माके अनिवर्त्य ब्रह्मास्त्रसे जल गये हुए शरीरको यथावत् करदेनेमें– “**कर्तु समर्थः ।**” गंगातट पर श्रीभागवत श्रवणके बाद तक्षकदंशाग्निमें शापवश जल गये हुए वह शरीरको यथावत् कर देनेमें वा रखनेमें– कुछ “**असमर्थः**”, फिर भी ब्राह्मणशाप– सर्पदंशसे होती अवगतिको रोककर भागवती– गति राजाको देनेमें– “**अन्यथा कर्तु समर्थः**”– है। यादवकुल– नाशका शाप दिलानेमें– “**कर्तु समर्थः**” शाप दूर करनेमें समर्थ होते हुए भी स्वीकारते हैं– “**अकर्तु समर्थः**”। इस शापवशमेंसे भी उद्धवजी, वज्रनामको बचानेमें– “**अन्यथा कर्तु समर्थः**” है– भगवान् !

“**नाऽहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।**”– (२५)– योगके लिये है– प्रभुका सामर्थ्य– योगमाया ! लीलार्थ जैसे

आवश्यक हो ऐसे भगवान् यही अपने सामर्थ्यसे प्रकट होते हैं– अप्रकट भी रहते हैं। अवतार– दशामें स्वेच्छासे सबको दर्शन देते हैं। सर्वदा सर्वत्र होने पर भी सबको दर्शन नहीं, कराते हैं। कराते हैं– भक्तको ही। मूढलोग प्रभुको अज– अव्यय नहीं जानते हैः। भूत– भविष्य– वर्तमान प्राणीओंको भगवान् ही जानते हैं, और कोई नहीं। भगवान् सर्वज्ञ है, ऐसा यहाँ प्रतिपादन हुआ है। भगवान् सर्वदा, सर्वसमर्थ,– सर्वत्र होते हैं।

इच्छा– द्वेष (राग) से उत्पन्न द्वन्द्व मोहसे सब प्राणी जन्मतः संमोहित (व्याकुल) होते हैं। मोहमें भगवद्विचार तो हो ही सके कहाँ से ?! जिनके पाप (प्रतिबंध– अन्यथाज्ञान) नष्ट हो चुके हैं, द्वंद्व मोहसे मुक्त है, वे लोग दृढव्रतसे मेरेको (भगवानको) भजते हैं। मेरा आश्रयकरके जो लोग जरा– मरणादिसे छूटनेके लिये यत्न करते हैं, वे तद्ब्रह्मको, पूर्ण अध्यात्मको तथा कर्म (प्रभुं– प्राप्तिके उपाय) को संपूर्णतया जानते हैं। जो लोग अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ सहित मुझको जानते हैं, वे लोग अंतकालमें भी मेरेमें (कृष्णमें) युक्त– एकाग्र– चित्त होकरके मुझे (कृष्णको) ही जानते हैं।

अध्याय – ८ : अक्षरब्रह्मयोग : श्लोक – २८ :

सोचनेकी भिन्न भिन्न कक्षाएं :

पेटके लिये (पैसोंके लिये) जो सोचता है, वह पशु है ! पेट और परिस्थितिके लिये जो सोचता है– वह सामान्य पुरुष है!

पेट– परिस्थिति और प्रगतिके लिये सोचता है,– वह मध्यम पुरुष है ! पुण्य और परलोकके लिये सोचनेवाला भी मध्यम पुरुष है। परमगति (मोक्ष) के लिये सोचता है,– वह उत्तम पुरुष है ! परब्रह्म– परमात्मा– प्रभुके लिये जो सोचता है, वह सर्वोत्तम पुरुष है ! सोचना– यह तो देहधारी– मात्रकी स्वाभाविकता है। सोचनेका स्वाभाविक होते हुए भी विषय तो भिन्न होते हैं। प्रभुदत्त अधिकारानुसार रूचि वैचित्र्यसे सोचनेका विषय– स्तर भी बदल जाता है। स्वश्रेयःके विषयमें पूछनेवाला अर्जुन, अभी प्रसंगवशात् पूर्वाध्यायमें ब्रह्म– अध्यात्मादि सूनके, सुनी हुई बातको सोचकर, ब्रह्मादिके लिये भगवानसे पूछता है–

अर्जुनके सात प्रश्न :

"किं तद्– ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ।।– (१)
अधियज्ञः कथं कोSव देहेSस्मिन् मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोSसि नियतात्मभिः ।।"– (२)

अर्जुन कृष्णको कहता है,– **"पुरुषोत्तम !"** कैसे भी संबोधन तो सामान्यरूपमें कर दिया होगा ! **"तस्मात् क्षरमतीतोSहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोSस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।"** (१५–१८)– क्षरसे अतीत, अक्षरसे उत्तम, लोक– वेदमें प्रसिद्ध **"पुरुषोत्तम"** तो स्वयं समझावे तब ही कोई कुछ समझ सकें ! अर्जुनने पुरुषोत्तमसे सात प्रश्न पूछे! छः ऐश्वयादि धर्म और स्वयं धर्मी– भगवान् !

१. तद्– ब्रह्म क्या है ?
२. अध्यात्म क्या है ?
३. कर्म क्या है ?
४. अधिभूत क्या है ?
५. अधिदैव कौन है ?
६. अधियज्ञ क्या है ? शरीरमें कैसे है ?
७. देहमेंसे जीवके प्रयाण (मरण)के समय वशीभूत अंतःकरणवालोंसे कैसे जानने योग्य हो ? **"ज्ञयोSसि"** से अर्जुनको निःसंदेह अंतमें तो जानने योग्य कृष्ण ही लगते हैं ! इसलिये, यहाँ स्मरण– विषय नहीं पूछता है, **"कथं"** – से स्मरण– विधि पूछता है !

भगवान् प्रत्युत्तरमें स्पष्टतासे बताते हैं :

"अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोSध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।।– (३)
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोSहमेवात्र देहे देहभृतांवर ।।– (४)
अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्तवा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ।।"– (५)

अक्षरब्रह्म– तद्ब्रह्म है। वह परम है, जिसमें पर– श्रेष्ठ– पुरुषोत्तम विराजते हैं। स्वभावको अध्यात्म कहते हैं। भूतोंका शरीर प्रकट करनेवाला विसर्ग कर्म है। क्षरण– स्वभाववाला

भौतिकपदार्थ अधिभूत है । पुरुष– आत्मा– अधिदेव है । मैं (कृष्ण) ही देहमें अधियज्ञ हूँ । अन्तकालमें मेरा (कृष्णका) स्मरण करके देह छोडनेवाला कृष्ण– स्वरूपको प्राप्त होता है।

"तद्ब्रह्म"–विचार : प्रत्यक्ष–परोक्ष–अपरोक्ष– ब्रह्म विचार:

अर्जुनका प्रश्न है,– "किं तद्ब्रह्म ।"– वह (तत्)– ब्रह्म क्या है ? अगर, "**ब्रह्म क्या है ?**"– ऐसा पूछता तो कुछ अलग बात थी ! परंतु "**तद्– ब्रह्म**"– के लिये पूछता है । "**तत्**"– सर्वनाम, संस्कृतमें, परोक्ष वा पूर्वविमर्शमें प्रयुक्त होता है । पूर्वाध्यायके अन्तमें,– "**ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नं**"– (७–२९) में– "**तद्ब्रह्म**" कहा है, उसका यहाँ पूर्वविर्मश होने पर भी "**तद्ब्रह्म**" वहाँ भी होनेसे, अवश्य ही अब "**तद्ब्रह्म**" का "**तत्**"– परोक्षवाचक है । कृष्ण तो स्वयं ब्रह्म है ही, तो वे अपने लिये "**तद्– ब्रह्म**" ऐसा परोक्षवाचक क्यों बोले ?। इसलिये अर्जुन यहाँ परोक्षब्रह्मके लिये पूछता है,– "**किं तद् ब्रह्म ?**"– परोक्षब्रह्म क्या है ? अर्जुनने पहले ब्रह्मको परोक्ष देखा ! पुनः ब्रह्मको प्रत्यक्ष भी देखा ! पुनः ब्रह्म अपरोक्ष भी हो गया ! अर्जुनने यहाँ कहा– "**तद्ब्रह्म**"– वह परोक्षब्रह्म है। पुनः, "**परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।**"– (१०–१२) में, "**परं ब्रह्म, परं धाम, परम पवित्र– आप हो !**"– श्री कृष्णको कहता है । यहाँ, प्रत्यक्ष ब्रह्म है ! और पुनः इसी तरह गीतामें अपरोक्ष– ब्रह्म है। ऐसे, ब्रह्म तो परोक्ष, अपरोक्ष और प्रत्यक्ष भी है !! गीतामेंसे यह स्पष्ट होता है । श्रीभागवतमें भी ऐसे दर्शन हैं ।

प्रत्यक्ष– ब्रह्म– विचार : प्रत्यक्षानुभूति :

प्रत्यक्ष होता है,– "**सत्संयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम् ।**"– "पूर्वमीमांसा"– (२–१–४) में कहा गया है,– सत्– विषय– (वस्तु) और पुरुषके इन्द्रियके संयोगसे जो बुद्धि (समझ) उत्पन्न होती है, वह प्रत्यक्ष है । इन्द्रिय– मनः संयोगसे जिसका ग्रहण करती है, इससे बुद्धिको (समझपूर्वक) जो अनुभव होता है, वह प्रत्यक्ष है । यह यथार्थज्ञानका एक साधन होता है– प्रमाण ! इसके लिये इन्द्रिय– मनः और बुद्धि भी राजस– तामस नहीं, सात्त्विक ही चाहिये । ऐसे भी प्रत्यक्षको प्रमाण तो तब ही माना जाय कि जब वह प्रत्यक्ष अलौकिकार्थ– प्रतिपादक– "**शब्द**"– (वेद– गीता– ब्रह्मसूत्र– भागवत) प्रमाणसे अविरोधी हो । सन्मानस– प्रत्यक्ष भी स्वीकार्य है ।

सुना है,– संत तुलसीदासजी (वा समर्थ रामदासजी) "रामायण" –की कथा कर रहे थे । हनुमानजी मनुष्यवेषमें सुन रहे थे । अशोक– वाटिकामें विरहातुर सीताजीके पास हनुमानजी आये, उन्होंनें वहाँ सफेद पुष्प देखे,– ऐसा वर्णन हुआ । बादमें विनम्रतासे हनुमानजीने अेकांतमें निवेदन किया,– "वहाँ तो पुष्प लाल थे, मैंने तो अपनी आंखोसे– प्रत्यक्ष– देखा है !" संतने सत्य समझाया,– "सीता मैयाजीका दुःख देखकर आप क्रुद्ध हो गये थे, नेत्र क्रोधसे लाल हो गये थे, इसलिये लाल आंखोसे आपने सफेद पुष्पको लाल देखे थे तो सफेद ही !" हनुमानजी चूप होकर संमत हो गये ! किसीको पीलीया हो गया हो, वह सर्वत्र पीला ही देखे, पीला है तो नहीं; तो वह "प्रत्यक्ष" प्रमाण

नहीं है, नेत्रदोषसे !

सत्त्वगुणसे ज्ञान होता है । इसलिये, सात्त्विक– इन्द्रियोंसे सात्त्विक मनसे– सात्त्विक बुद्धिसे, जो वेदादि– "शब्द"–से अविरोधी, समझका निर्णय होता है, वह यथार्थ– ज्ञानका एक साधन होता है, इसको कहते हैं,– **प्रत्यक्ष– प्रमाण ! भक्तमानस– प्रत्यक्ष, योगधर्मज– प्रत्यक्ष, दिव्यदृष्टि– ग्राह्यप्रत्यक्ष, भगवत्सामर्थ्य– प्रयुक्त– प्रत्यक्षादि भी स्वीकार्य प्रत्यक्ष– प्रमाण है** । सामान्यतः, निर्दोष-इन्द्रिय– मनोबुद्धिजन्य– ज्ञानको प्रत्यक्षज्ञान कह सकते हैं! सामने जो पर्वत– नदी– वृक्ष– मकानादि है, वे प्रत्यक्ष– ज्ञानके विषय हो सकते हैं । प्रायः वहां दृष्य– दृष्टा– दृष्टिकी त्रिपुटी हो सकती है । "प्रति + अक्ष = प्रत्यक्ष" है । इन्द्रियोंके प्रति पदार्थसे जो ज्ञान उत्पन्न हुआ वह प्रत्यक्ष है । "**रूप– नाम– विभेद**" से जो भगवान् क्रीडा कर रहे हैं, वे प्रत्यक्षज्ञानके विषय होते हैं । सर्व– व्यवहार– प्रमाणातीत– ब्रह्म,– "**स ईक्षां चक्रे**"– श्रुतिसे, ईक्षा (विचार– इच्छा) करता है,– "लोक सृष्टि द्वारा मैं व्यवहार्य होऊँ ।"– अतः ब्रह्मने जो कुछ भी किया वह सभी स्वयं ही कहा– वेदमें ! इसलिये, अव्यवहार्य ब्रह्म व्यवहार्य हो गया,– स्वेच्छासे ! प्रमाणबलका अविषय ब्रह्म प्रमाण– प्रतिपाद्य हो गया– स्वेच्छासे ! स्वलीलाके लिये स्वेच्छासे ही सर्व– व्यवहार– प्रमाणातीत ब्रह्म, हो गया सर्व– व्यवहार– प्रमाणोंका विषय ! "**इक्षतेर्नाशब्दम्**" ।– ब्र. सू. (१–१–४) में सूत्रकार महर्षि व्यासजीका यथार्थहार्द श्रीमद् वल्लभाचार्यजी अपने "**अणुभाष्य**" में स्कुट करते हैं । सर्वसमर्थ– सर्वज्ञ– ब्रह्म स्वेच्छासे ही, अपनी लीलाके लिये, भक्तेच्छानुसार, स्वरूप प्रकट करनेवाला,– "**अस्ति– भाति– प्रियं**"– ब्रह्म भी, सर्वव्यवहार– प्रमाण– गोचर हो जाता है । तब तो दर्शन होते हैं,– यही परब्रह्म– परमात्मा– भगवानके "**दर्शनीयतिलक**" स्वरूपके ! हाथोंसे श्यामसुंदर स्वरूपको पकडा– छुआ– जा सकता है ! कानोंसे सूनी जाती है– इनकी सुमधुर बातें,– अद्‌भुत मधुर– मधुर वेणुनाद ! त्रिभुवनसुंदर, मूर्तिमंत वेदांतसिद्धांत, नाचता– कूदता– गाता– बजाता– खाता– पीता– सोता– बैठता– घूमता– फिरता– झूलता– झुमता– भक्ताभिलाषानुसार चरित करता– ललित स्वरूपसे– प्रकट– फलित हो जाता है ! सर्वसमर्थ– सर्वज्ञ– स्वतंत्र ब्रह्मको अशक्य क्या है ? अर्जुनने जो देखा, वही कहा,– "**परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।**"– (१०–१२), स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने भी कहा,– "**तस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥**" (क्षरसे अतीत, अक्षरसे उत्तम, मैं लोक– वेदमें प्रसिद्ध हूं– पुरुषोत्तम !)– (१५–१८) – यह हैं– प्रत्यक्षब्रह्म ! जिसकी (भगवदिच्छासे) सबको **प्रत्यक्ष– अनुभूति** होती ही है । ब्रह्मकी अनुभूति होने पर ब्रह्मांश जीवकी (आत्माकी) अनुभूति अवशिष्ट नहीं रहती है ।

परोक्ष–ब्रह्म– विचार : परोक्षानुभूति :

परोक्ष होता है,– "**शब्दानुमानादि–भिर्यद्‌बुद्धिजन्म तत् परोक्षम्** ।"– (विषय (वस्तु) और इन्द्रियके संयोगके बिना

भी) वेदादिशब्द तथा अनुमानादिसे जो बुद्धि (समझ) उत्पन्न होती है, वह परोक्ष है । जिस विषयका– ग्रहण इन्द्रिय नहीं कर सकती है, जो सूक्ष्म है, जो इन्द्रिय– गम्य नहीं है, उसका भी ज्ञान तो हो जाता है । वह परोक्ष है। पृथ्वीके गुरुत्वाकर्षणादि (सिद्धांत)– है, यह इन्द्रियोंका विषय न होते हुए भी अर्थापत्तिववा अनुमानादिसे ज्ञेय हो वह ज्ञात तो होता है । पृथ्वीका गुरुत्वाकर्षण इन्द्रियगम्य नहीं है, फिर भी सात्त्विक मन– सात्त्विक बुद्धिके अनुमानादिसे, अर्थापत्तिसे, निश्चित समझ होती है, यह है– परोक्ष-ज्ञान ! इसमें ज्ञान– ज्ञाता– ज्ञेयकी त्रिपुटी होती है । राग– द्वेष, विद्युत्– प्रभृतिका ज्ञान परोक्ष होता है । वस्तु होते हुए भी इन्द्रियगोचर होती नहीं है,– अनुमान गम्य होती है– यह परोक्षज्ञान है । यह अनुमान वा अर्थापत्ति भी वेदके "शब्द"से अविरोधी हो तो प्रमाण होता है । नहीं तो नहीं । पूर्वोक्त भक्त– मानस– प्रत्यक्ष, योगाधर्मज– प्रत्यक्ष, दिव्य– दृष्टि– ग्राह्य– प्रत्यक्ष, भगवत्सामर्थ्य प्रयुक्त– प्रत्यक्षादि भी सामान्य समाजके लिये परोक्ष ही होता है ! स्वर्गादि शास्त्रैकगम्य ही होते हैं ।

अमेरिकामें वर्षों पूर्वमें एक सुंदर प्रदर्शन चलता था । स्कूलके बच्चोंने विद्युत– साधन– यंत्र बनाकर लोंगोको बतानेके लिये एक कार्यक्रम रखा था । कार्यक्रम काफी जिज्ञासा– प्रेरक था । विद्यार्थी सबको विद्युत– साधन समझाते थे । इतनेमें एक बुढा ग्रामीण आया । उसने सब देखा,– छात्रको पूछा,– "यह विद्युत क्या है ?!" विद्यार्थी स्पष्ट नहीं कर सका ! शिक्षकको बुलाये! समाधान नहीं हुआ । प्राध्यापकगण भी बता न सकें । सन्नाटा छा गया ! अब किसे पूछा जाय ?! भीड तो भारी हो गई ! प्रेक्षक सब परेशान हो रहे थे । तब वह वृद्ध ग्रामीणने कहा,– "चिंता न करें । मेरा नाम है– आल्वा डी एडिसन ! मैं वैज्ञानिक हूँ । विद्युतके उपकरणोंके पेटन्ट मैंने सेंकडो लिये हैं। परंतु आजतक मुझे पता नहीं है कि विद्युत् क्या है ?" चकित हो गये सब !

लोग कार्यको देखकर कर्ता वा कारणका अनुमान लगाते हैं। कर्ता– कारण प्रत्यक्ष नहीं होते हैं,– अस्तित्वमें होते तो हैं ही! कार्यको देखके कर्ता– कारणका अनुमानसे हि (अर्थापत्तिसे)– ज्ञान हुआ– यह परोक्ष– ज्ञान है । मकान बना है, तो बनानेवाला जरूर होता है, यह लौकिक– व्यवहारानुभव होता है । इस अनुभवसे अनुमान कर सकते हैं कि विश्व बना है, तो बनाने–वाला अवश्य होना ही चाहिये । कार्य उपलब्ध है, तो कर्ता होना ही चाहिये । रसोई तैयार है, तो जरूर बनानेवाला तो होना ही चाहिये । ब्रह्मका जगत्कर्तृत्व लोकप्रसिद्ध नहीं है, किन्तु श्रुतिसिद्ध है । विश्वके बनानेवालेको किसीने भले देखा न हो, परंतु अनुमानसे समझ तो सकते हैं । उसे न देखने पर भी, प्रत्यक्ष न होने पर भी, बुद्धिसे उसका अनुमान–जन्य– ज्ञान तो होता है, यह है,– परोक्षज्ञान ! यह अनुमानादि भी अगर वेद– "**शब्द**" – प्रमाणको सानुकूल हो तो प्रमाण है, यथार्थज्ञानका साधन है, नहीं तो नहीं ! केवल युक्ति– कल्पना– अनुमानादिसे ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता है, वह तो वेदादि– प्रमाणोंसे ही होता है ।

सुस्पष्ट कहते हैं भगवान्– श्रीगीताजीमें, –“**वेदैश्च सर्वैरह– मेव वेद्यः ।**” (१५–१५)– “सब वेदोंसे मैं ही वेद्य हूँ ”। “**भक्त्या मामभिजानाति–।**”– (१८–५५)– भक्तिसे मेरा ज्ञान होता है। “**भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।।**”– (११–५०)

अनन्यभक्तिसे मैं इसप्रकारका शक्य हूँ,– जाननेके लिये, देखनेके लिये, प्रवेश करनेके लिये । श्रीभगवानने तो सपरिकर वेदोंके– “शब्द”–को प्रमाणरूप कहे हैं,– अपना (भगवानका) ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ! और भक्तिको तो स्वतंत्ररूपसे साधन कहा है– यथार्थ भगवज्ज्ञानका । संकलनसे स्पष्ट होता है,– वेदादिसे भगवान् “**वेद्य**” है, इससे भगवज् ज्ञानका शक्यत्व–योग्यत्व है । भक्तिमें “जानाति”से ज्ञान होता है । वेदादि जानके भी भक्ति होनेसे ही भगवज्ज्ञान होता है । अनन्यभक्तिसे भी जानना “शक्य” कहनेसे, वेदादादि–निरपेक्ष भी, भगवज्ज्ञान होता है । यह भक्तिस्वातंत्र्य है, स्वतंत्रभक्ति है– पुष्टिभक्ति है ।– कृपैकलभ्य है ।– अनुमानादिको प्रमाण इस विषयमें नहीं माने हैं ।

“**बुद्धेः परस्तु सः ।**”– गीता (३–४२) में, भगवानको बुद्धिसे पर कहे हैं । बुद्धिके अनुमानोंकी कोई परंपरा भी भगवान् तक नहीं पहूंचती है । ये तो यह सबसे पर– ऊपर है । कोई अनुमान प्रभु तक पहोंच नहीं सकता है । लौकिक– व्यवहार या सामान्य परिज्ञानमें अनुमानादिका उपयोग होता है । भगवज्ज्ञानमें स्वल्प भी नहीं! युक्तिसिद्धा तो अब्रह्मविद्या होती है । श्रुति स्पष्ट करती है,– “**नैषा तर्केण मतिरापनेया।**” भगवद्बुद्धि तर्क (अनुमान)से सिद्ध नहीं होती है । “**अलौकि–कास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।**”– ”महाभारतमें कहा है– अलौकिक–पदार्थोंको तर्क (अनुमानादि)से न लगावे । “**तर्कोऽप्रतिष्ठ...**”– तर्क अस्थिर है ।– “**तर्काप्रतिष्ठाना दप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यवि– मोक्षप्रसंगः ।**”– ब्र. सू. (२–१–११)– वेदोक्त–अर्थोंमें शुष्कत्तर्कसे विरोध योग्य नहीं है,– तर्क अस्थिर होनेसे ! तर्क है– अपनी उत्प्रेक्षित युक्ति ! किसी एकने बताई हुई युक्ति दूसरा न भी माने ! स्वतंत्र– ऋषियोंके मति– मत–भेदसे, वस्तुकी द्विरूपतासे भी, तर्कोंसे निर्णय शक्य नहीं है । इसलिये तर्ककी प्रतिष्ठा– स्थिरता– नहीं है । सामान्य लौकिक व्यवहार, धर्मबोध होते हैं– तर्कसे भी, परंतु शास्त्रसंमत तर्कसे! ब्रह्मवादियोंके तर्क निर्दोष होते हैं, इससे अन्यके तर्क निर्दोष नहीं ठहरते हैं,– मूलनियम न होनेसे तथा मतभेद भी होनेसे !

श्रीवामनजी बलिराजाके अंतिम अश्वमेघ– यज्ञमें पधारें । दूरसे उनके अत्यंत तेजःको देखकर सूर्य– अग्नि– सनत्कुमार होनेके अनेक तर्क लगायें, तर्क लगाते ही रहें,– भगवानको नहीं समझ सकें– अपने तर्कोंसे । “**इत्थं स्वशिष्येषु भृगुष्वनेकधा वितर्क्यमानो भगवान् स वामनः ।**”– श्रीभागवत (८–१८–२३)

केवल अपने अनुमानजन्य परोक्षज्ञानसे, प्रत्यक्ष होते हुए भी, भगवान् समझमें नहीं आते है; परंतु भगवान् समझमें आते हैं– वेदादि– शास्त्रके “**शब्द**”– जनित परोक्षज्ञानसे !”– भक्तिसे–

कृपासे ! वेदादि– शास्त्रका परोक्षज्ञानका विषय है– ब्रह्म !– श्रीकृष्ण ! “**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ।**”– (१५–१४), वेदादि– प्रतिपाद्य है– परोक्ष– ब्रह्म ! प्रसिद्ध दर्शनशास्त्रमें भी, “**दर्शन**”– शब्द यद्यपि साक्षात्कारमें रूढ है, तथापि तज्जन्यज्ञान तो परोक्ष ही है ! दर्शन– शास्त्रमेंसे कोई भी दर्शन ब्रह्मदर्शन वा कृष्णदर्शन कराता नहीं है ! भगवानके कोई एकाध स्वल्पांशका, अंधहस्तिन्यायसे, अपनी उत्प्रेक्षासे, जन–दुःख–निवारणार्थ, प्रतिपादन करते हैं – दर्शनशास्त्र ! वेदांत– दर्शन– ब्रह्मसूत्र– भी श्रुतिमें होती हुई शंकाओंका समाधान देते हुए, तात्पर्य बताते हुए, ब्रह्मप्रतिपादन करते हैं, स्वतंत्रया नहीं ! ब्रह्मसूत्र श्रुतिव्याख्यान करते नहीं हैं । ऐसे, यह है,– वेदप्रतिपाद्य– परोक्ष– ब्रह्म ! जिसकी परोक्ष– अनुभूति वेदादि– शास्त्रसे होती है, तदंश आत्माकी भी !

अपरोक्ष–ब्रह्म– विचार : अपरोक्षानुभूति :

अपरोक्ष होता है,– “**लोकसिद्धप्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां विलक्षणं सच्चिदानन्दलक्षमणम लौकिकं ब्रह्म।**” – लोकमें सिद्ध प्रत्यक्ष और परोक्षसे भिन्न, सच्चिदानंदरूप– असाधारण धर्मवाला, (अलौकिक)– अपरोक्ष है– ब्रह्म ! ब्रह्म– अपरोक्ष; साक्षात्कार– अनुभूति; ब्रह्म– साक्षात्कार है,– अपरोक्षा–नुभूति! सर्वदा स्वयं– प्रकाश आत्मा– अपरोक्ष, अनुभव– अनुभूति ! आत्मानुभव होता है– अपरोक्षानुभूति !

“**ऐतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञानुसात्मनः । अनव्य–व्यतिरेकाभ्यां यः स्यात्सर्वत्र सर्वदा ॥**”– श्रीभागवत (२–९–३४) । आत्मा– परमात्मा– ब्रह्मके तत्त्वको जाननेकी इच्छावालोंके लिये, इतना ही जानना जरूरी (योग्य) है,– जो अन्वय और व्यतिरेकसे सर्वत्र और सर्वदा है । कार्यमें कारणरूपसे, सद्रूपसे, अनुवृत्ति वह– अन्वय है । कारणावस्थामें उससे व्यावृत्ति वह व्यतिरेक है । ब्रह्म तो सर्वत्र है,– सर्वदा है,– सब रूपमें है । फिर भी अनुभव तो उसका सबको ब्रह्मरूपसे नहीं होता है,– प्रतीति ब्रह्मरूपसे नहीं होती है ! प्रतीति होती है,– विविध (जागतिक) रूपसे– विविध (जागतिक) नामसे ! माया–मोहित होती है,– जीवकी बुद्धि! मोहित बुद्धि पदार्थोंका यथार्थ ग्रहण नहीं करती है । भगवान् सर्वरूपसे विराजते हैं । स्वरूपसे यह जगत् ब्रह्मरूप है, सत्य है, परंतु प्रतीतिसे ही मायारूप है । पदार्थ (रूप बने तो है ही, यह) भगवान् ! वह तो अन्यथा नहीं ही होता है, प्रतीति ही मायासे अन्यथा होती है ! पदार्थरूपसे विराजमान प्रभुका स्वरूप जीवको पहेचानने नहीं देती है– माया ! सबकुछ है– भगवान्! अनुभव होता है– वस्तुरूपसे !– भगवद्रूपसे नहीं । इसलिये, यहां लोकसिद्ध– प्रत्यक्ष नहीं है,– भगवान् ! अपने अनुमानजन्य– परोक्षज्ञानसे भी समझमें नहीं आते हैं– भगवान् । इसलिये, यहाँ लोकसिद्ध– परोक्ष नहीं है– भगवान् ! लोकसिद्ध प्रत्यक्षपरोक्षसे विलक्षण है– भगवान् !

भगवानमें सर्वसामर्थ्य और सर्वधर्म विराजमान है । विरुद्ध–

धर्म भी भगवानमें अविरोधसे आश्रय लेकर रहते हैं । सृष्टि करनेकी स्वेच्छासे सर्वरूप हुए हैं– भगवान् । जिस वस्तुमें जितने गुणधर्म जरूरी हैं, इतने ही प्रकट रखके, अन्यगुणधर्म तिरोहित करके, भगवान् ही वस्तुरूपसे क्रीडा करते विराजते हैं। भगवान् सच्चिदानन्दरूप है । जगद्रूप होनेकी अपनी इच्छासे अपने सदंशसे जड– पदार्थोंके रूपमें प्रकट हो जाते हैं । इनमें चित् और आनंद होते हुए भी अनुभव नहीं देते हैं,– तिरोहित रहते हैं । जीवमें सत् और चित् प्रकट होते हैं, आनन्द तिरोहित होता है । अन्तर्यामी, जो प्रत्येक जीवके साथ प्रत्येक शरीरमें (हृदयमें) विराजमान है वह– सच्चिदानन्द है । इसप्रकारसे, भिन्न भिन्न गुणधर्मोंके साथ भगवान् ही सर्वत्र है । यह भगवान् सत्य है । इसलिये वस्तु और उसके गुणधर्म, भगवानसे अभिन्न (अनन्य) होनेसे सत्य ही है । "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।**"– श्रुति कहती है,– यह सब सचमुच ब्रह्म है । यह सब (जगत्) है, वह ब्रह्म है ! फिर भी सब वस्तुको भगवानके रूपमें अपनी बुद्धि पहचानती नहीं है । परंतु वस्तुरूपसे पहचानती है । वह वस्तुरूपसे प्रतीति मायासे होती है । वस्तुरूपसे प्रतीति मात्र मिथ्या है । वस्तु तो सत्य है । ब्रह्म सत्य है, ब्रह्म ही स्वयं वस्तुरूप बना है, इसलिये वस्तु और उसके गुणधर्म भी सत्य है । इस प्रकार, वस्तुरूप जगत् सत्य है, वस्तुरूपसे प्रतीति मात्र मिथ्या है । ब्रह्मसत्तासे विषयरूप जगत् सत्य है । मायाजन्य विषयतारूप जगत् मिथ्या है । माया और विषयता निःस्वभाव नहीं है । ब्रह्मभाव न हो तब तक ही वह बुद्धिको मोह कराती है । माया– मोहितबुद्धि पदार्थोंको अन्यथा मानती है, पदार्थ अन्यथा होते नहीं है । सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म ही विश्वरूपमे भी क्रीडा करता है ।

इसप्रकार, लोकसिद्ध प्रत्यक्ष–परोक्षसे विलक्षण,– सच्चिदानन्दलक्षण है– ब्रह्म ! सर्वत्र– सर्वदा– सर्वरूप होते हुए भी इन्द्रिय– अनुमानका विषय नहीं होता है, परंतु स्वेच्छासे विषय होता ही है– यह है– अपरोक्ष ! यह लौकिक नहीं है, अलौकिक है– अप्राकृत है । इसलिये लौकिकरूप– नाममें संभवित दोष, निदोर्ष भगवानके अलौकिक रूपनाम– क्रियादिमें नहीं होते हैं सर्वव्यवहार– **प्रमाणातीत** ब्रह्म, स्वेच्छासे स्वलीलाके लिये, हो जाता है,– सर्वव्यवहार– **प्रमाणोंका** विषय! जगद्रूपसे, अवतार रूपसे, मूलरूपसे, प्रत्यक्ष होता है– सद्ब्रह्म! नामरूपसे वेदादिशास्त्र स्वरूपसे, मूल (ज्ञान) रूपसे, परोक्ष भी होता है चिद्ब्रह्म ! नित्य– लीलास्थरूपसे अपरोक्ष होता है– आनंदब्रह्म सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म– स्वेच्छासे प्रत्यक्ष, परोक्ष, अपरोक्ष अनभूति देता हुआ लीला करता है !

श्रीभागवतमें भी परोक्ष–अपरोक्ष–प्रत्यक्ष–ब्रह्म–विचार :

श्रीमद्– भागवतमें भी यह स्पष्ट दर्शन कराते हैं, आचार्योंके आचार्य– भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास–,

"वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।।" – (१–२–११)–

"**तस्य भावः तत्त्वम् ।**"– तत्– उसकी सत्ता (अस्तित्त्व),–

तत्त्व है ! **कार्य-कारण, रूप-नाम, ब्रह्म-जीव,**- भिन्न है, ऐसा **द्विधा- ज्ञान द्वैत** है । इस समझको दूर करनेवाला, **एकत्त्वका ज्ञान- अद्वैत** है । उसको जानता है वह- तत्त्ववेत्ता है । जिसके अभिप्रायमें, वेदके साथ अक्षरमात्रका भी विरोध न हो, ऐसी तरह से वेदके अर्थको जाननेवाला "**तत्त्वविद्**" है। वह जिसको अद्वय- वस्तु, "**तत्त्व**" करते हैं वह, श्रुतिमें- "**ब्रह्म**", गीतादि-स्मृतिमें- "**परमात्मा**" और भागवतादिपुराणमें "**भगवान्**"- कहा जाता है । शब्द भिन्न होने पर भी अर्थ तो एक ही है । एक और अद्वितीय ब्रह्म ही सबसे पहले था । सर्वसमर्थ- सर्वव्यापक- सर्वधर्मविशिष्ट वह ब्रह्म अपनेमें ही सबकुछ रखके विराजता था । उसको ही- स्वलीलार्थ- इच्छा हुई,- अनेक रूप होनेकी- बहुभवनकी ! उसने अपनेमेंसे अंशात्मक अनेक आत्माओंको प्रकट कर दिये । आत्माओंके प्राकट्यसे वह हुआ- परम-आत्मा- स्वरूप- "**परमात्मा**" ! आत्माओंमेंसे आनंदांश तथा ब्रह्मधर्म- ऐश्वयादि- भगवदिच्छासे तिरोहित हो गये । अविद्याका संबंध हुआ, लौकिककामनाओंवाले जीव हो गये। प्राणधारणके लिये प्रयत्न- परायण है- जीव ! भगवदर्थ-प्रयत्न तो प्रायः वह नहीं करता है ! परिणाममें अनेक अनर्थोंसे दुःखी हो जाता है । उनको दुःखमेंसे छुडानेके लिये, अपने ऐश्वर्यादि- गुण प्रकट करके, आनंदात्मक प्रभु प्रकट हो जाते हैं । यह है- भगवान् ! भगवान् सबको स्वेच्छासे प्रकट दर्शन देते हैं। भगवान्- प्रत्यक्ष होते हैं ! त्रिलोकमें आविष्ट होकर सबका धारण- पोषण- करनेवाला

परमात्मा- अपरोक्ष है । और अपनेमें ही सबकुछ रखकर,- सर्वव्यापक- सर्वसमर्थ- रहता हुआ ब्रह्म- परोक्ष है ! ब्रह्म- परमात्मा- भगवान् शब्द अलग है, तत्त्व तो एक ही है । वही अपने आपही स्वेच्छासे परोक्ष- अपरोक्ष- प्रत्यक्ष भी हो जाता है। सर्वसमर्थ- सर्वज्ञ- स्वतंत्र भगवान् क्या नहीं कर सकते हैं ?!

भगवान् श्रीकृष्णका सर्वोत्तमत्व :

श्रीभागवतमें स्पष्ट है,- "**एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।**"- (१-३-२८)- सब अवतार तो आदिनारायणमेंसे प्रकट होते हैं, वे पुरुषरूप भगवान् आदिनारायणके अंश- अंशांश- कला- आवेशादि हैं । कृष्ण तो स्वयं भगवान् है । जिसके अंशरूप पुरुष- आदिनारायण है । गीताजीमें स्वयं भगवान् कहते हैं,- वारंवार विविध प्रकारसे अपनी मुरव्यता ! यहाँ भगवानमें आत्माश्रय वा आत्मश्लाघा- रूप दोष नहीं है, भगवान् तो यथार्थ वास्तविकताका ही निरूपण करते हैं । गोपालतापनीयोपनिषत्में- "**कृषिभूवाचकः शब्दोणश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण ईत्यभिधीयते।।**"- कृष्- सतावाचक है और ण (सुख) आनंदवाचक है। उन दोनोंका ऐक्य परब्रह्म "**कृष्ण- कृष्ण**"- "**सदानन्द**"- कहा जाता है । श्रीगोपीजनवल्लभ- गोपवेषपुरुषका वर्णन भी स्वाभाविक दिखाई देता है- वेदमें ! शांकरमतके वरिम विद्वान् मधुसूदन सरस्वतीजी- स्वहृदय खोलते हैं.-

"वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ।।"–

वंशीविभूषित करवाले कृष्णसे अधिक किसी भी तत्त्वको मैं जानता नहीं हूँ ! निराकार– निर्गुणरूपसे प्रसिद्ध कोई भी तत्त्व कृष्णसे अधिक– उत्तम– नहीं है । मायाशबल ब्रह्म सगुण होके प्रसिद्ध ईश्वर हो, वह कृष्ण नहीं है, निर्गुण– निराकार (अक्षर)– से भी अधिक है– परब्रह्म भगवान् कृष्ण !

श्रीकृष्णावतार कथाप्रसंगमें ब्रह्मज्ञानी भगवान् श्रीशुकदेवजी कहते हैं, अपरोक्ष–परोक्ष– प्रत्यक्ष– ब्रह्म– गाथा :

"**तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं–।**"– (१०–३–९)– इसमें,– "तं" पद, लोकवेद– प्रसिद्ध पुरुषोत्तम– "**अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरूषोत्तमः ।**" (१५–१८)– गीताजीमें, विहितका निर्देश करते हैं । यह, स्वेच्छासे लोकप्रसिद्ध और वेद वेद्य– है– परोक्ष– ब्रह्म ! लोकमें प्रसिद्ध लक्षणोसे अनुमानतः तथा शास्त्रमें शब्दशः ज्ञात है । एसे लोकवेद प्रसिद्ध ब्रह्म कराता है– परोक्षानुभूति ! "**अद्भूत**"– पद अपरोक्षानुभूतिको उचित रूपसे सूचित करता है । असाधनको साधन बनाता है, वह है– अद्भुत! यह होता है– लोकसिद्ध प्रत्यक्ष– परोक्षसे विलक्षण, सच्चिदानन्दलक्षण अलौकिक तत्त्व– परमात्मा ।– आत्मोंकी भी आत्मा ! स्वयं प्रकाश ! सर्वसमर्थ– सर्वज्ञ– सर्वरूप !

सर्वत्र– सर्वदा होते हुए, लोकत्रयमें अविष्ट– धारक– पोषक होते हुए भी, सबको प्रकट अनुभव नहीं देने पर है– अद्भुत– अपरोक्ष ! आज स्वयं प्रकट होकर स्वयं अनुभव देता है– यह है कृपैकलभ्य (पुष्टि) अपरोक्षानुभूति ! कहाता है, कराता है– अपरोक्षानुभूति ! "**बालकं**"– शब्द प्रत्यक्षानुभूतिका सूचक है। विषयेन्द्रिय संयोगसे जो बुद्धिजन्म होता है वह– प्रत्यक्ष है । यहाँ भगवान् बालक रूपसे दर्शन देते हैं । भगवान् सर्वव्यवहार– प्रमाणोंसे पर होते हुए भी, स्वेच्छासे, सर्वप्रमाण– व्यवहारके विषय भी हो जाते हैं । प्रत्यक्ष– परोक्ष– अपरोक्ष भी कराते हैं– प्रत्यक्षानुभूति !– परोक्षानुभूति !– अपरोक्षानुभूति ! है ही– भगवान् कृष्ण !

जीवदर्शनोपाय :

भगवदंश– रूप– आत्मा (जीवकला)के दर्शन तो योगसे, भगवदर्शनवाली दृष्टिसे वा दिव्यदृष्टिसे होते हैं । इस प्रकार, प्रत्यक्ष– परोक्ष– अपरोक्ष– अनुभूति होती है,– परमात्माकी! तथा आत्माकी ।

अक्षर– ब्रह्म– स्वरूपः

भगवानने अर्जुनको प्रत्युत्तरमें स्पष्ट बताया– "**अक्षरं ब्रह्म परमं**"– "**अक्षरं यत् तद्– ब्रह्म तत् परमम्**"– यह अर्थ लेनेसे, अक्षर– जो क्षर नहीं है वह अक्षर । जो अक्षर है वह "**तद्–ब्रह्म**" है । वही है– **परम** ! जिसमें– "**परा श्रेष्ठः पुरुषोत्तमः मीयते– निवसति यस्मिन्**"– पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण विराजते हैं, यह "**परम**"– अक्षरब्रह्म है अथवा यहाँ

देहलीदीपन्यायसे "**ब्रह्म**" शब्द वाक्यके बीचमें हैं, उसका संबंध दोनों ओर लेनेसे, "**अक्षरं ब्रह्म**" तथा "**ब्रह्मपरमं**" पद प्राप्त होते हैं ! इसप्रकार यहाँ, अक्षरब्रह्म- परब्रह्मका धाम तथा परब्रह्म- अक्षरब्रह्ममें निवास करनेवाला !- यह अर्थ प्राप्त होता है । अक्षरब्रह्मके -ब्रह्म- बृहत- व्यापक- अव्यक्त- कूटस्थ- अज- गणिता-नन्द- परब्रह्मका आसन- पुच्छ- चरण- धाम (व्यापि वैकुंठादि)- ज्योतिः आदि नामसे पहचानते हैं । क्षेत्रज्ञ, समष्टि- व्यष्टि- मूल, ज्ञानीओंके लिये वह- तेजोमय है । वह आध्यात्मिक- रूप है, इषत्तिरोहितानन्द जैसा है । पुरुषोत्तमसे अभिन्न होने पर भी पृथक् भी कहा जाता है। धामरूप होनेसे पृथक्त्व प्रसिद्ध है। सात्वततन्त्रमें है - "**विष्णोऽस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषा-रव्यान्यथो विदुः ! प्रथमं महतः स्रष्टुः । द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम्। तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते ।।**" भगवानके तीन स्वरूप है । "पुरुष" उनको कहते हैं । १. महत्तत्त्वका सर्जक- अक्षरब्रह्म, २. ब्रह्मांडमें रहा हुआ- समष्टिरूप ३. सर्वभूतस्थ- व्यष्टि- जीवरूप । परब्रह्मको ब्रह्म- तत्त्व- परमात्मा- आनंदमय-पूर्णानन्द- सदानन्द- पुरूषो-त्तम- सिर्फ योगेश्वर ही नहीं परंतु योगेश्वरेश्वर- आदि नामसे जानते हैं । यह आधिदैविकरूप है। आधिभौतिकरूप जगत् है। अर्जुन्का प्रश्न- "**किं तद्-ब्रह्म**" - का भगवानने उत्तर स्पष्ट बता दिया । अक्षरब्रह्मका परोक्षरूपसे निरूपण करनेके लिये कहा था,- "**तद्- ब्रह्म**" । "**बृहत्वाद् ब्रह्म ।**" देश- काल- वस्तुसे अपरिच्छिन्न है- ब्रह्म! सजातीय- विजातीय- स्वरूपगत- भेदसे रहित है- ब्रह्म!

आम- बबुल- आदि वृक्षके सजातीयभेद है। पेड- पृथ्थर आदि विजातीयभेद है । मूल- शाखा- फलादि वृक्षके स्वगत भेद है । ऐसे त्रिविध-भेद रहित है- ब्रह्म ! सर्वव्यापक है- ब्रह्म! काल- कर्म- स्वभाव उसके- रूपान्तर है ।

अध्यात्म- स्वरूप :

अब, "**किमध्यात्मम्**" - "अध्यात्म क्या है ?" - यह द्वितीय प्रश्नका उत्तर देते हैं,- "**स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।**" स्वभाव- को अध्यात्म कहते हैं ।- "**अधि आत्मानंआत्मनि इत्य-ध्यात्मम्। आत्मनि अधिगम्यमानं षोडशकलं सूक्ष्मं सेन्द्रिय मनोरूप स्वभावः ।**" - आत्मामें- देहमें- अंतःकरणमें- स्थित यह अध्यात्म है । अंतःकरणमें समझमें आता हुआ सोलह कला- (पंच ज्ञानेन्द्रिय- पंच कर्मेन्द्रिय- पंच सूक्ष्मभूत तथा मनः) युक्त सूक्ष्म सेन्द्रिय मनोरूप स्वभाव है । यह स्वभाव है- अध्यात्म ! अथवा, पुरुषोत्तमके चरणरूप,- अचल- स्थिर- भगवद्गृहात्मक - अक्षर, भक्तहृदयमें स्थिर विराजमान होता है। ऐसे भक्तके रूपमें भी भगवान् ही लीला करते हैं । "**स्वभावः स्वस्य भगवतो दास्यादिसेवासिद्धयर्थं जीवरूपेण भवनम्।**" -भगवानका स्वकीय दास्यादिसेवासिद्धयर्थ जीवरूपसे प्रकट होना वह स्वभाव है ।- "**अध्यात्मम् आत्मानमविकृतं सेवायोग्यं देहमधिकृत्य तदनुभवे वर्तमानो जीवभावः ।**" अपनेको अविकृतरूपसे सेवायोग्य शरीर धारण करके उसके अनुभवमें अहा हुआ जीवभाव- अध्यात्म है ।

कर्म–स्वरूप :

अर्जुनका तीसरा प्रश्न है,– "**किं कर्म**"– कर्म क्या है ?, जवाबमें प्रभुने बताया,– "**भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म–संज्ञितः ॥**"–(३)– "भूतोंका शरीर प्रकट करनेवाला विसर्ग कर्म–नामसे कहा गया है । "**भूतानां पंचानां भावो भौतिकं शरीरं तस्य उद्भवकरो (भावेन वासनया उद्भवकरो) विसर्गः ।**– पंचमहाभूतका जो भौतिकशरीर (भाव) है, उसको जन्म देनेवाला विसर्ग है,– विशिष्ट–सर्ग(सर्जन) है । वह विसर्गको कर्म कहा गया है । "**अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठति । आदित्याज्जायते वृष्टिवृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥**" तथा "**पंचम्यामाहुतावापः पुरुष वचसो भवन्ति।**"– श्रुतिसे, अग्निमें डाली हुई आहुति सूर्यमें पहूँचती हैं । सूर्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है । अन्नसे प्रजा होती है । तथा वेदान्तप्रसिद्ध पंचाग्निविद्यानुसार, पांचवीं आहुतिमें श्रद्धारूप जल (ज्ञानरहित–निष्काम–यज्ञकर्ताका शरीर छूटने पर देवोंने किये होमके अनुसार अंतमें पांचवीं आहुतिमें ज्ञानयोग्य देहप्राप्ति होनेसे)पुरूष प्रकृतिवाला बालक होता है । यहाँ, यज्ञ–रूप–कर्मसे शरीरोत्पति स्पष्ट है, अतः विसर्गको कर्म कहा गया है। अथवा, "**भूतानां जीवानां भावस्य भगवद्रसरुपस्योद्भवकरः–प्रकटकारको यो विसर्गो भगवद्र्थद्रव्यादिविनियोगेन सेवा–रूपः स कर्मसंज्ञितः क्रियारूपः कर्मशब्दवाच्यः ।**"– जीवोंका भगवद्रसरूप (भाव)को जगानेवाला विसर्ग है । जो भगवानके

लिये द्रव्यादिके विनियोगसे सेवारूप है, क्रियात्मक है, वह कर्म–नामसे कहा गया है । "**कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा।**"– मुख्यकर्म भी (एक ही) है – उस देव (देवकीपुत्र–कृष्ण) की सेवा ! विसर्ग का अर्थ त्याग भी है, तो स्वार्थ के लिये (मोक्षार्थ) त्याग करनेसे तो भगवद्र्थत्याग (कृष्णसेवा) ही सर्वथा उत्तम है, यह यथार्थ विसर्ग है । **विसर्गः पौरुष स्मृतः ।**"– श्रीभागवत (२–१०–३)। विसर्ग पुरूषार्थ है । सामान्यतः धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष– चार पुरुषार्थ माने गये हैं । परंतु भक्ति पांचवा पुरूषार्थ है । भगवान् तो स्वयं परम पुरुषार्थ है । विसर्ग, एसा भक्ति पुरूषार्थ है, जो प्रभुप्राप्ति करावे । यही कर्म है–सेवा–रूप है । सेवासे संतुष्ट भगवान् सुलभ हो जाते हैं । विसर्ग सेवारूप कर्म (क्रिया) भी है ।

भगवत्सेवा ही जीवको सब दोषोंका विसर्ग–अपसर्जन–त्याग– कराकर, जीवको भगवद्धर्मसे शुद्ध– भगवदीय– बना देगी । यही विसर्ग है ।

अधिभूत– स्वरूप :

चोथा प्रश्न है,– "**अधिभूतं च किं प्रोक्तम् ।**" अधिभूत किसको कहा है ? प्रभुने कहा,– "**अधिभूतं क्षरो भावः ।**"– "**क्षरोभावः भूताधिकृतः क्षरणस्वभावो भौतिकः पदार्थः युष्मदादिविराडंतः ।**"– भूतमात्रका अधिकृत क्षरण–नष्ट होने का– स्वभाववाला भौतिक–पदार्थ, अपनेसे लेकर विराट्पुरूष तकके पदार्थ अधिभूत है । अथवा, "**क्षरो भावो विनश्वरोदेहो**

भगवद्विप्रयोगतापाधिक्येन नाशभावयुक्तः । अधिभूतं जीवमात्रमधिकृत्य भवतीति अधिभूतं दास्यार्थ–माविर्भावितस्वांशे विप्रयोगतापार्थं प्रकटीक्रियते इति तथोच्यते।"– क्षरभाव है, भगवानके विप्रयोगके संतापकी अधिकतासे नाशभावयुक्त–विनश्चर– देह ! जीवमात्रको अधिकारी करके जो होता है वह अधिभूत है । दास्यके लिये प्रकट किये हुअे अपने अंशरूप जीवमें विप्रयोगसे होनेवाले संतापके लिये प्रकट करनेमें आता है,– वह अधिभूत है ।

अधिदैव– स्वरूप :

पांचवा प्रश्न है,– "**अधिदैवं किमुच्यते ?**– अधिदैव किसको कहते है ? भगवानने उत्तरमें बताया,– "**पुरुषश्चाधिदैवतम् ।**"– "**पुरुषो जीवोऽत्रात्मा सर्वत्रास्त्यधिदैवतं (सर्वेषामधिंदैवतं)– सर्वसाधारणं– शब्दादिभोक्तृ– चेति सूर्याद्या अधिदेवताश्चकारेण संगृह्यन्ते ।**"– पुरूष–जीव है, यहाँ आत्मा सर्वत्र है, सबका वह अधिदैवत है, सर्वसामान्य शब्दादि के भोक्ता है । "**च**"कारसे सूर्यादि सब इन्द्रियके अधिदेवताओंका संग्रह है । अथवा, "**पुरुषो मम जीवहृदि पुरुषत्वेन रसात्मको भावः स अधिदैवः । तं क्रिडात्मक भावमधिकृत्य भवतीति सर्वमूलरूपः ।**" पुरूष है– मेरा कृपापात्र जीवके हृदयमें पुरूषत्वसे रसात्मकभाव ! वह अधिदैव है । वह क्रिडात्मक भावको अधिकृत करके जो होता है– सर्वका मूलरूप– वह है– अधिदैवत ! वह भोक्तृत्वावस्था पुरूषोत्तम–ज्ञानियोंको सर्वत्र एकरूपतासे देखनी चाहिये ।

अधियज्ञ– स्वरूप :

छठ्ठा प्रश्न पूछा है ,– "**अधियज्ञः कथं कोSत्र देहेSस्मिन्?**"– इस शरीरमें अधियज्ञ कैसे है ?– कौन है ?"– प्रभुने प्रत्युत्तरमें बताया,– "**अधियज्ञोSहमें वात्र देहे !**"– मैं ही यहाँ देहमें अधियज्ञ हूँ ।– "**स चाSहं यज्ञाधिष्ठाताSवयवी यज्ञैश्वराध्यः परमात्मारूपः । – अत्र देहे समस्तभूतशरीरे तदंतर्यामितया स्थितः ।**"– यज्ञाधिष्ठाता– अवयवी– यज्ञसे आराध्य परमात्मरूप मैं ही हूँ । यहाँ समस्त प्राणीमात्रके शरीरमें उसके अंतर्यामी रूपसे रहा हुआ– अधियज्ञः है ! श्रीमद्भागवतमें तो बताया है,– "**योSध्यात्मिकोSयं पुरुषः सोSसावेवाधिदैविकः । यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः।**" (२–१०–८) विश्वात्मक भगवान् तीन स्वरूपसे सर्वत्र व्यापक है । उसका परिचय तीन प्रकारसे है । इन्द्रिय– प्राण और अंतःकरण– तीनों देहके आधारसे रहते हैं । वह अध्यात्म है। उसका अभिमानी आध्यात्मिक है । उसको प्रेरणा देनेवाला–देवता– अधिदैव है । उसका अभिमानी अधिदैविक है । यह दोनों एक ही होते हुए भी, इनमें भेद करानेवाला आधिभौतिक देह है। यह तीनों प्रभुके स्वरूप हैं । तीनोंको एक दूसरेकी आवश्यकता कार्य करनेके लिये होती है । अकेले कुछ नहीं कर सकते हैं । शरीरमेंसे जीव लिंगदेहके साथ बहार निकल जाय, बादमें देह कुछ भी कर नहीं सकता है । ऐसे ही, जीव भी कुछ कर सकता नहीं है । उन तीनोंको देहे–जीव अंतर्यामी भी जनते नहीं है । यह तीनोंको जाननेवाला आत्मा भगवानका

एक स्वरूप है। यह सबका आश्रय है। अथवा अत्र जगति **देहे देहनिमित्तं सेवौपयिको–पचयार्थ अधियज्ञः यज्ञादिकर्मात्मकस्तत्प्रवर्तकश्चेति।**"– यहाँ जगतमें देहमें देहनिमित्त सेवापयोगिपदार्थके संग्रहनेके लिये यज्ञादिकर्मरूप और यज्ञकर्मरूप और यज्ञप्रवर्तक है– अधियज्ञ!

अंतकालमें ज्ञेय– स्वरूप :

सातवा प्रश्न है – "**प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।**" "देहमेंसे जीवके प्रयाणके समय वशीभूत अंतःकरणवालोंसे कैसे जानने योग्य हो?" प्रभुने कहा,"– "**अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्तवा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।**"– (५) "– अंतकालमें मेरा ही स्मरण करके शरीर छोडनेवाला मेरे भावको प्राप्त होता है, यह निःसंदेह है। "**माम्**"–से लीला पुरूषोत्तम– गीतावक्ता कहते हैं। "एव" कार अन्ययोगव्यवच्छेदक है, मंत्र– यंत्र–तंत्र–यज्ञ– योगादिसे अस्पृष्ट, कृष्णको स्मरते हुए मरनेवाले भगवद्भाव (धाम)को प्राप्त होते हैं। "**जन्मलाभः परः पुंसामंते नारायणस्मृति।**"– भागवत (२–१–६)–मानवका जन्मलाभ है– अंतमें नारायणस्मृति! धन– स्वजन– सत्त– सफलता–सुख– शांति– आदिसे जन्मलाभ नहीं होता है। जन्मलाभ है–अंतमें (मरते समयमें) नारायणकी स्मृति। अथवा, "**मद्भावं सेवौपयिकस्वरूपं**"– अंतमें देहावसानमें अथवा अंतिमजन्ममें मेरेको (कृष्णको) स्मरते हुअे भजनमें अयोग्य– शरीरको छोडके सेवोपयोगि– शरीरको प्राप्त करता है।

अंतकालमें अनन्यतासे प्रकट– पुरूषोत्तमका ही (मामेव) स्मरण करता हुआ जो शरीर छोडता है, वह मेरे (भाव) स्वरूपको प्राप्त होता है। इसमें संशय नहीं है।

अंतकालमें जिस जिस पदार्थ–भावका स्मरण करता हुआ जीव शरीर छोडता है, उस–उसकोही वह प्राप्त हो जाता है, क्योंकि एसे ही भावसे वह भावित होता है। जो जिसका चिंतन किया करता है, वैसा ही वह हो जाता है, – वही भावसे भावित होनेके कारण, कीट– भ्रमर– न्यायसे। कीटको भ्रमर पकडके ले जाता है, रोज दंश देता है, कीट भयसे तो भ्रमर का ही चिंतन– विचारमें व्यस्त रहनेसे भ्रमर हो जाता है। इस प्रकार, प्रभुके चिंतन करनेवाले प्रभुमय हो जाते हैं। दोषके चिंतनसे दोषमय, गुणके चिंतनसे गुणमय! चिंतनसे चित्त तदाकार हो जाता है। विचारानुरूप ही आचार हो जाते हैं। चक्रवर्ती भरत ऋषभदेवके पुत्र थे। प्रभुमें आसक्त थे। दया करते हुए हरिणमें आसक्त हो गये। हरिणके चिंतनसे दूसरे जन्ममें हरिण हो गये। हरिभक्ति कभी भी व्यर्थ नहीं होती है, इसलिये, तीसरे जन्म में पुनः प्रभुचिंतनसे प्रभुप्राप्त हो गये।

श्रीगीता– श्रीभागवतमें अनुस्मरणका आदेश :

अर्जुन! सर्वकालमें, हरहालतमें, किसीभी परिस्थितिमें, तू मेरा अनुस्मरण कर! श्रवण– कीर्तन– दर्शन– अनुभवादिके बाद, किया हुआ वा होता हुआ, तदनुरूप स्मरण है, – अनुस्मरण! स्मरण प्रयत्नसे करना पडे तो श्रवण– कीर्तन–

दर्शन– अनुभवादि कुछ भी जो किये हैं वे सब सच्चे होते हुअे भी कच्चे हैं। सच्चे श्रवणादि हो तो स्मरण तो स्वाभाविक हो जाता है , होता रहता है । अनुस्मरण तो निराश– निष्क्रिय नहीं बनाता है । भगवानका अनुस्मरण तो भगवान्‌के लिये सक्रिय बना देता है । वेदविभाग, महाभारतमें गीतागुफन,– ब्रह्मसूत्र– प्रणयनके बाद भी खिन्न थे– महर्षि व्यास ! भगवदीय नारदने निराश–निष्क्रिय– जैसें व्यास को निर्देश कर दिया । –“**अथो महाभाग भवानमोघदृक् शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः । उरुक्रमस्याखिलबंधमुक्तये समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम् ।।**” –श्रीभागवत् (१–५–१३)

यथार्थ– मानवकल्याण– कार्यः भगवानके अनुस्मरणसे जवनकी उन्नति :

शुद्ध –वैष्णव माँबापके संतान हैं– व्यास ! भगवान्‌की ज्ञानकलाके पूर्णावतार हैं– व्यास ! विश्‍वकल्याणके लिये परोपकार– परायण है– व्यास ! उन्होंने कोई स्कूल– कॉलेज– अस्पताल– सदाव्रत– ट्रस्ट– संस्था– बनाकर परोपकार नहीं किया । वह तो सब समाजसेवक या सत्तवालें कर लेंगे । विश्‍वकल्याणके लिये व्यासने तो दिव्यमार्गदर्शन दिया–, सबको सन्मार्ग बताया, – ग्रंथका पंथ दिया ! तनकी नहीं, मनकी जरूरत– शांतिके लिये धर्मोपदेशकोंको उचित राह बता दिया! श्रीभागवत– श्रीरामायण– श्रीगीता आदि कथाक्रमसे चंदा इकठ्ठा करके समाजसेवाके लौकिक– कार्यके साधन बनानेके लिये नहीं है । फलरूप है ये तो ! स्वान्तः सुखाय– है ये तो ! प्रभुपारितोषाय है ये तो ! जनगणकी शारीरिक आवश्यकताके लिये प्रयत्न तो मानवीय– कार्य है , आवश्यक है, करने चाहिये; परंतु समाजसेवक या सत्तधारी करें । धर्मोपदेशक तो उससे उँचे कार्यके लिये, मनको उन्नत बनानेके लिये भी कार्य करें; यह संकेत व्यासजीने स्वजीवन– कार्यसे ही कर दिया है । इन सबसे– “**महाभाग**” है– व्यासजी ! “**अमोघदृष्टि**”– सफलज्ञान है– व्यासका । “**शुचिश्रवा**” पवित्रयशःवाले हैं व्यासजी ! लोक पवित्रयशःसेही विश्‍वास रखते हैं । “**सत्यरतः**”– सत्यपरायण है व्यासजी ! “**घृतव्रतः**”– शास्त्रोक्त, भगवानको प्रसन्न करनेवाले व्रत, अखंड धारण करनेवाले हैं व्यासजी ! एसे समर्थको नारदने बताया, सबकुछ होते हुए भी खिन्नता बनी रही है– व्यासके मनमें! खिन्नताको दूर करनेके लिये– “सर्वबंधनमुक्तिके लिये समाधिसे भगवानकी लीलाओंका अनुस्मरण करो।” अनुस्मरण ही मनको– बुद्धिको– संस्कार संपन्न रखता है । प्रत्येक कार्य इससे संस्कृत ही भगवानका हो जाता है , भगवान् प्रसन्न होते हैं । “अनुस्मरण करो और युद्ध करो”– कृष्णने कहा है ।–

अनुस्मरणसे मन–बुद्धि भगवानमें समर्पित– स्थिर – तत्संबंधी तन्मय हो जाते हैं । अंतमें निःसंशय प्रभु ही प्राप्त होते हैं । प्रभुने अर्जुनको बचन दि दिया, – “**मामेवैष्यस्यसंशयम्** ।” मन–बुद्धि निःसंशय प्रभुमें समर्पित करनेसे संकल्प और निर्णय भगवतसंबंधी हो जाते हैं ।

चित्तवृत्तिका जीवनमें प्रभावः

चित्तकी गति ही जीवकी गति हो जाती है । चित्त प्रभुमें जाय तो गति प्रभुमें हो जाय । चित्त अन्यत्र (विषयमें वा अक्षरब्रह्ममें) (वा रागकेषादिमें) न जाय तो प्रभुमें जाय । “**चेतसा नान्यगामिना**”– इसलिये कहा । योगदर्शन– “**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**”– कहता है । चित्तवृत्तिका निरोध योग है । सेवामें भी, – “**चेत्तस्तत्प्रवणं सेवा।**”– “सिद्धन्तमुक्तावली”में महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण आज्ञाकरते हैं । भगवानमें झुकता हुआ चित्त सेवा है । चंचल चित्त जीवनको चंचल बना देता है–, प्रत्येक कार्यमें चंचलता छा जाती है । स्थिरचित्त जीवनको स्थिरता देता है,– प्रत्येक कार्यमें स्थिरता आ जाती है ।

अंतमें अनुस्मरणसे सद्गति :

मरते समय भक्तिसे वा योगबलसे युक्त पुरुष, अचल मनसे, दोनों भ्रोंहके बीचमें प्राणोंका स्थापन करके सर्वज्ञ, अनादि, सर्वनियामक, सर्वफलप्रद, सर्वधारक, पोषक, अभिनवरूपवाले, स्वयंप्रकाश, सूर्य (मध्यस्थ) जैसे तेजस्वी, “**तमसः**”– अज्ञानसे “**परस्तात्**”– अत्यंत दूर; “**तमसः**”– “**तमः**”– रूप द्रव्यसे आगे (“**तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्**”) – (भगवानका) धाम है जिसका, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, ऐसे भगवान्का जो “**अनुस्मरण**” करता है, वह परम दिव्य (दशलीलाविशिष्ट) पुरुष (भगवान् कृष्ण)की निकटमें सामीप्य मोक्ष प्राप्त होता है ।

भगवद्धाम “ओंऽम्” का स्वरूपदर्शन :

वेदज्ञ जिसको “**अक्षर**' कहते है, वीतराग (द्वेष), प्रयत्नशील– यति (संन्यासी), जिसमें प्रवेश करते हैं, जिसको चाहते हुए ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, वह परमपदको में स्वल्पमें कह देता हूँ, “**ओऽम्**” । “**अव रक्षणे**” धातुपाठमें १९ अर्थ बताये हैं “**अव**”– धातुके । अविद्यामेंसे रक्षा करता है, “–ओऽम्”– कार भगवानके धामका वाचक है । “**ततोऽभूत् त्रिवृदोंकारो।... स्वधाम्नो ब्रह्मण साक्षाद् वाचकः परमात्मानः**” –श्रीभागवत (१२–६–३९–४१) “**अ, ऊ, म्,**” – त्रिवृदोंकार प्रकट हुआ–, जो साक्षात (पर) परमात्मा के (लीला, व्यापिवैकुंठ, अक्षरब्रह्म)का वाचक है । “**ऊँमित्येदक्षरमिदँ सर्व।**”– श्रुति है । **ओऽम्**– अक्षरब्रह्म है, यह सब जगद्रूप है। संयमपूर्वक उच्चारण करता हुआ, “**माम्**”– मुझको (अर्ध– मात्रात्मक कृष्णको) स्मरता हुआ, देह छोडता है, वह परमगति सायुज्य– मोक्षको प्राप्त होता है । ज्ञानी–योगीको अक्षरब्रह्ममें सायुज्य मिलता है । सत्त्वगुणसे ज्ञान होनेके कारण यह सगुण– मोक्ष है ।

भगवान् तो सुलभ है :

भक्तके लिये भगवानने अपनी सुलभता बताई ! दुर्लभता ही देखनेसे तो प्रयत्न भी न करें ! भगवान् तो सुलभ है, परंतु यह लाभ ले कौन ?!

“अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।।” –(१४)

लौकिक–वैदिक–फल, विषयभोग वा मोक्षभोग, पदार्थ वा परमपद (अक्षरब्रह्म), सुख–दुःख, राग–द्वेषादिमें पुरुषोत्तम कृष्ण को छोडकर कहीं पर भी, अन्यत्र चित्त जिसका जाता नहीं है, ऐसा अनन्यचितावाला पुरूष एकचित्तसे अंतपर्यंत सतत भगवान (कृष्ण)को ही स्मरता रहता है। उस नित्ययुक्त योगी (अनुरक्त)को में (पुरुषोत्तम) सुलभ हूँ। भगवान् तो सुलभ है, परंतु अनन्यता–वाला भक्त दुर्लभ है। इसलिये ही एकवचन है। भगवानको प्राप्त करके दुःखके मूलरूप जन्म पुनः मिलता नहीं है। सत्ता–संपत्ति– सुखकी स्पृहावाले तो सर्वत्र सुलभ है, सुलभ कहाँ है– अनन्य भक्त ?! अनन्य भक्त को भगवानतो सुलभ ही है।

ब्रह्मलोक तकके सब लोक पुनरावर्तन वाले हैं। जन्म–मरण, सर्जन– विसर्जन, आगमन– गमन, चक्र– क्रम चलता ही रहता है।

आनंदमय कृष्णको प्राप्त करनेके बाद पुनर्जन्म नहीं मिलता है। पुरुषोत्तम– स्वरूप– ज्ञानवाला (शुद्धाद्वैत– साकार ब्रह्मवादी) को पुरुषोत्तममें सायुज्य मिलता है, अक्षरमें नहीं। “**संसिद्धिं परमां गताः**”– परम संसिद्धि रूप निर्गुण– मोक्ष कहा है। भगवान् निर्गुण है। पुष्टिभक्तको तो आनंदमयी नित्यलीलामें प्रवेश मिलता है। “**मामुपेत्य**”– से स्वनिकटता कही है, निकटता लीला– प्रसंगमें ही मिलती है।

ब्रह्माजीके आयुःकी गणना :

कालचक्रमें सब लोक– जीवोंका आना–जाना चलता ही रहता है। मोक्ष वा भगवान् वा लीला–प्रवेश न मिले तब तक घूमते रहते हैं– सब ! काल सबका कलन कर देता है। गिने जाते हैं सबके आने–जानेके काल– चक्र– भ्रमण– वर्षोंको! मानवोकी आयुः सामान्यतः १०० सालोंकी कही गई है। ब्रह्माजीकी भी आयुष्य निश्चित ही होती है “**सहस्रयुग पर्यंतं**”– हजार चतुर्युग तक ही ब्रह्माका दिवस ! बादमें इतनी ही रात्रि! सत्ययुग– ४००० देववर्ष और त्रेतायुग – ३००० देववर्ष और द्वापरयुग– २००० देववर्ष और कलियुग – १००० देववर्ष – १०,००० देववर्षका एक चतुर्युग होता है। संधिकाल – दोनों तरफके युगोंके, (४०० + ४००) सत्ययुगके, (३००+३००) त्रेतायुगके, (२०० + २००) द्वापरयुगके, (१०० + १००) कलियुगके, कुल २००० देववर्ष। कुल १२००० देववर्षका चतुर्युग ! ३६० गुने मानुषवर्ष ! ऐसे ध्रुवप्रदेशमें एेस्किमो– लोकोके दिवस–रात हमारे ६–६ मासके होते हैं। विज्ञान– भूगोल सब इसमें संमत है। पृथ्वी पर ही ईतना नाँप अधिक हो सके, तो ब्रह्माडमें करोडो “**प्रकाशवर्ष**”के अंतर पर आये हुए लोकको दिवस–रात्रिकी कालमर्यादा इतनी अधिक होना असंभव तो कैसे हो सकती है ?! दिवस और रात्रि– अहोरात्र ! ऐसे ३६० मिलाकर वर्ष ! ऐसे १०० वर्ष ब्रह्माजीका आयुष्य !! उसको “**पर**” कहते है। आधेको कहते है – “**परार्ध**”!

जगतकी उत्पत्ति– स्थिति–लय लीला है– कृष्णकी :

ब्रह्माजीके दिवसमें प्रातः सृष्टिका निर्माण भगवदिच्छानुसार ही ब्रह्मा सेवा– बुद्धिसे भगवदत्त– सामर्थ्यसे करते हैं।

अव्यक्तअक्षरमेंसे सब व्यक्त होते है । जीव–देह– लोकादि सब व्यक्त– प्रकट होते हैं । रात्रिमें व्यक्तक्रमसे लय ! नाश नहीं है, मिथ्या नहीं है । सब अक्षरमेंसे आते हैं । अक्षरमें ही जाते हैं । अक्षर पुरुषोत्तमका धाम है । पुरूषोत्तमसे प्रकट होता है। सूक्ष्मरूपमें अंदर रहते हैं । अव्यक्त होते हैं । स्थूलरूपमें व्यक्त भी होते हैं । लीला है– सब भगवान् कृष्णकी ! "**अवशः**"– "**अकारो वासुदेवः स्यात्**"– अकार वासुदेव है,– कृष्णवश सब यह उत्पत्ति– स्थिति– लयकी विश्वलीला चलती रहती है । सबके नाशमें भी जो नाशको प्राप्त नहीं होता है – जो अक्षरब्रह्मसे भी (श्रेष्ठ) है, सबमें सर्वरूपमें रहा हुआ, अविनाशी परमात्मा ही है ।

अव्यक्त– अक्षर– भगवानका धामः

यह "**अव्यक्त**"– प्रकृति– जीव नहीं है, अक्षरब्रह्म है,–

"अव्यक्ताऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।" – (२१)

"**मम**"– मेरा (पुरुषोत्तम श्रीकृष्णका) "**परमं तद्धाम**"– श्रेष्ठ वह धाम (निवासस्थान, गृह) है, जिसको प्राप्त करके (ज्ञानी) वापस लौटता नहीं है । जिसको "**परमगति**" कहते हैं ।– जिस "**अव्यक्त**" को "**अक्षर**" – कहते हैं । प्रलयकालमें ब्रह्ममें रहकर भी ब्रह्मका आनंदानुभव सबको नहीं होता है !– भगवदिच्छासे– व्यवधानसे ! मुक्तोंको ही मुक्तिमें आनन्दानुभव होता है ! सबको नहीं ! नहीं तो मुक्ति और प्रलय एक ही हो जाय ! तब तो सब शास्त्र–साधन–फल – वैयर्थ्य हो जाय ! परंतु, ऐसा नहीं होता है । इसलिये सब व्यवस्थित–क्रम भगवदिच्छासे चलता रहता है ।– अक्षरब्रह्म भक्तोंको भगवद्धामरूपसे दर्शन देता है, ज्ञानीओंके लिये "**धाम**" – तेजोमय दिखता है ।

"इति संचिन्त्य भगवान् महाकारुणिको हरिः ।
दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम् ॥
सत्यं ज्ञानमन्तं यद् ब्रह्मज्योतिः सनातनम् ।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः ॥"–

–श्रीभागवत (१०–२८–१४,१५)

महाकारुणिक हरि श्रीकृष्णने,– "कालचक्रक्रममें घूमते लोग स्वगतिको नहीं जानते हैं– ऐसा सोच कर, गोपोंको तमःसे पर अपना लोक (स्वधाम) बताया ।– सत्य– ज्ञान– अनन्त (सच्चिदानन्द) ! यह ब्रह्म,– जो ब्रह्म,– अक्षरब्रह्म है । निर्गुण होने पर ही प्राप्त कर सकते हैं । "**तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारण–कारणम् । विष्णोर्धाम परं साक्षात् पुरुषस्य महात्मनः ।**" –श्रीभागवत (३–११–४१) सर्वके कारण (प्रकृति–पुरुष)के भी कारणको अक्षरब्रह्मको कहते हैं । साक्षात् पुरुषोत्तम सर्वव्यापक कृष्णका वह धाम है ।

अक्षरब्रह्मसे पर पुरुषोत्तम : अनन्यभक्तिसे लभ्य है :

स्वयं भगवान् – परब्रह्म – पुरूषोत्तम – श्रीकृष्ण तो अक्षरसे भी पर है,–

"पुरुषः स परः पार्थ भक्तया लभ्यस्त्वनन्नया ।

यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।।" (२२)

अक्षरब्रह्मसे श्रेष्ठ जो परम पुरुष है, जिसमें सब भूत रहते हैं, जिससे यह सर्व जगत् व्याप्त है, वह तो अनन्यभक्तिसे ही लभ्य है । और कोई भी याग, योग, ज्ञानादि – साधनोंसे नहीं। भक्ति भी फललोभसे की हुई, सर्वत्र भटकती हुई नहीं, अनन्य ही होनी जरूरी है । कृपासे ही ऐसी भक्ति मिलती है । जीवको ज्ञान तो सुलभ है – चिदंश होने से ! दुर्लभ है – भक्ति ! इसमें भी अनन्यभक्ति ! भक्ति– स्नेह है– प्रेम है – आनंद (भगवानका धर्म है । प्रभु प्रदान करें तब अनन्यभक्ति मिले । अन्य कोइ साधनोंसे नहीं । "**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा ... मद्भक्तिं लभते पराम्**" (१८–५८) – ब्रह्मभूत होता है – ब्रह्मज्ञानी । उसको भी भगवान्की परम भक्ति तो फलरुपमें कृपासे मिलती है, अन्यथा उसको भी फलोन्मुख – भक्ति मिलती नहीं है । "**यमवैष वृणुते स तेन लभ्यः ।**" – श्रुति है । भगवान् स्वप्रसाद (वरण)लभ्य है, अथवा वरणप्राप्त – प्रदान – भक्ति (अनन्य– परा– भक्ति)से ही लभ्य है । "**तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् । भक्तियोगविधामार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः ।**" –श्रीभागवत (१–८–२०) आत्मानात्मविवेकवाले आत्मग्राही हंस है, सर्वत्र – आत्मदर्शन – ग्रहण करनेवाले परमहंस है । गृहीत आत्माकी मननसे दृढता करनेवाले मुनि है, इससे निर्मल अंतःकरणवाल होते हैं । इन परमहंस, मुनि, निर्मलांतःकरण– वालोंको भी कृष्णभक्ति मिलती नहीं है । प्रदान करने के लिये स्वयं भगवान् पूर्णानन्द कृष्ण प्रकट हो कर लीला करते हैं ।

भगवानने योगिय़ोंका मोक्ष तथा पुनर्जन्मका मार्ग(काल) बताया। प्रकाशमय अग्नि–दिवस – शुक्लपक्ष – उत्तरायनके छः मासमें शरीर छोडके गये हुए ब्रह्मलोक ब्रह्म (मोक्ष)को प्राप्त होते हैं । अंधकारमय– धूम– रात्री– कृण्णपक्ष– यक्षिणायामके छः मासमें शरीर छोडके गये हुए चन्द्रलोकमें भोग करके– पुण्य पूरे हो जाने पर वापस भूतलमें लौटते हैं । जगतकी यह दोनों गतियाँ शुक्ल और कृष्ण – शाश्वत मानी गई है । कालचक्रकी चक्रवत्गति एकसे (शुक्लसे) मोक्ष और कृष्णसे पुनरावृत्ति होती है । यह जानकर कोई योगीको मोह नहीं रहता है । इसलिये सर्वकालमें योगयुक्त हो । वेद–यज्ञ–तप – दानादिमें जो पुण्यफल कहा है, उन सबको लांघ जाता है, जो यह (रहस्यको) जानता है वह योगी ! "**आद्यं**"– सनातन परम पदको वह प्राप्त होता है ।

अध्याय – ९ : राजविद्याराजगुह्यायोग : श्लोक – ३८ :

निजजनको गुह्य–गुह्यतर–मुह्यतम सर्वगुह्यतम भी कहा जाता है :

आनन्दमय भगवान् आनन्दकी अपेक्षा अन्यसे नहीं करते हैं वे तो आनन्द देते हैं । भक्तानुकूल बनकर, भक्त– प्रसन्नताके लिये, लीला करते हैं । वे तो भक्तकी इच्छा– विचार मर्यादामें भी न हो, ऐसा प्रदान स्वेच्छासे कर भी देते हैं । अर्जुनको बिना मांगे, बिना पूछे, गुह्यतम रहस्य कहनेको अपने आप

प्रवृत्त हो गयें ! “**इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।**” (१) “असूयारहित तुझको मैं यह गुह्यतम प्रकृष्टतासे प्राप्त करता हूँ । धर्मज्ञान– “**गुह्य**”, आत्मज्ञान– “**गुह्यतर**”, ब्रह्मज्ञान– “**गुह्यतमं**” कहा जाता है ।

चतुर्थाध्यायमें– “**भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।**” (३) मेरा भक्त है, सखा है, इसलिये यह उतम रहस्य (कर्मयोग–राजविद्या) कहा । भक्तको स्नेहसे हितावह कहा जाय, परंतु संबंध– स्नेहके प्रमाणमें कुछ मर्यादा भी आ जाय। मित्रको तो मनमें आवे ऐसी सब मर्यादारहित भी बातें कही जाय !

“**इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।**” – (१८–६३) मायामें भटकाते हुओे अंतर्यामीकी शरणमें जानेका कह कर कृष्णने कहा, “यह ज्ञान तुझको मैंने कहा, – जो गुह्यसे अधिक गुह्य है ।

“**सर्वगुह्यतमं भूयः शृणुमें परमं वचः**” (१८–६४) अर्जुन अपना अत्यंतप्रिय होनेसे कृष्णने सर्वधर्मत्यागपूर्वक अपनी ही अनन्य शरणागतिका उपदेश दिया, – सर्वगुह्यतम परम वचन पुनः सुन !– कहा ।

स्नेहल शिष्यको केवल सुनाते नहीं – देते है :

यहाँ, “**गुह्यतमं प्रवक्ष्यामि**” – कहकर, केवल कहते ही नहीं है, परंतु सुयोग्य – स्नेही – निर्दोष–श्रोताको प्राप्त भी करा देते हैं । “**वह प्रापणे**”– धातुपाठ है । यह तो वक्तकी गुरुकी– प्रभुकी– कृपा है, केवल कहते ही नहीं हैं, स्वतः कर भी देते हैं । “**इदं तु**” – कहकर, “**यह तो**” – से पूर्वमें जो कुछ कहा हो, इससे विलंक्षण सुनानेका निर्देश कर देते हैं । “ते” – तुझे – भक्त–मित्र – शिष्यको कहता हूँ, परंतु इसमें भी, “अनसूयवे” – असूया–रहितको ! गुणोंमें भी दोषारोषण असूया है । श्रोता वा शिष्य कभी कभी अज्ञानवश भी वक्ता वा गुरुमें अकारण ही दोषारोपण कर देते हैं । स्वहितकी बात खोज लेनेके बदले व्यर्थ ही टीका–टिप्पण करते रहते हैं । “कठिन है, गंभीर है, तत्त्वज्ञान भारी है, विलंब हो जाता है,– विस्तार बहुत करते है, विस्तार नहीं करते हैं, बहुत अच्छा कहते हैं, अच्छा नहीं कहते हैं, दृष्टान्त कम कहते है वा अधिक कहते हैं ।” ऐसी बातोंका कोई अर्थ ही नहीं होता है । अर्जुन सरल है, आर्त है, जिज्ञासु है, जीवनके महत्त्वके अवसर पर निर्णायक होनेके लिये सुनता है, यथार्थ ग्रहणतत्पर है; व्यवहारसे, समय होनेसे, पुण्यादिके लिये, यशःके लिये, गतानुगतिक होकर, नहीं सुनता है । इसलिये सरल–स्नेहल निर्दोष– जिज्ञासु, निर्णयतत्परको सुनानेमें – सिखानेमें – स्वान्तः उत्साहसे उमड आता है, उछल पडता है । गुह्यतम बात भी सुना देते हैं,– ग्रहण कराते हैं । गुरुजन ! भगवानने स्वमहिमा – अपना ज्ञानिभक्तलभ्यत्व (ज्ञानिभक्तिसे प्राप्त होना) पूर्वमें सूचित किया, अब अपना अनंत ऐश्वर्य– महिमा – स्वभक्तिका असाधारण माहात्म्य – महापतितपावनत्व बताते हैं ।

विज्ञानसहित ज्ञानसे सफलताः

“**ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।**”– (१)

विज्ञान–सहित ज्ञान, जिसको जाननेसे अशुभसे छूटकारा मिले। "**ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानं ... यज्ज्ञात्वा नेह भूयो न्यज्ज्ञातत्यमवशिष्यते ॥**" (७–२) विज्ञान – सहित ज्ञान ... जो जानके पुनः अधिक अन्य जानना बाकी नहीं रहता है।" – यह तो कह चुके थे। परंतु यहां "**तु**" से वैशिष्ट्य बताते हैं। पूर्वमें तो ज्ञातव्य पूरा मिल गया, यहां अशुभसे छुटकारा मिले- ऐसा कहा है। अशुभसे छूटने पर, शुभमें प्रवृत्ति दृढ होती है। दोषोंको छोडना, गुणोंको बढाना, दोनों आवश्यक हैं- जीवनकल्याणके लिये ! कपडेमेंसे मलिनता निकाली जाती है, तब धुलाई- ईस्त्री वगैरह संस्कारसे चमक विशेष आती है न?!

केवल ज्ञानकी अपेक्षा सबल होता है – विज्ञान–अनुभव सहितका ज्ञान ! अनुभवरहित ज्ञान तो अहंकार – आडंबर – अनर्थ करा भी देता है ! सानुभव –ज्ञान तो सरलता, संमुखता, सहिष्णुता, सुदृढता, सफलता देता हैं।

जीवनव्यवहारोपयोगी प्रत्यक्षज्ञान :

यह तो "**राजविद्या**" है, "**राजगुह्य**" है। "**राज्ञां विद्या राजविद्या**" – राजाओंकी विद्या राजविद्या है। अथवा, "**विद्यानां राजा राजविद्या**" – विद्याओंकी राजा – श्रेष्ठ– है। "**कर्मयोग**" को भी "**इमं राजर्षयो विदुः।**" (४–२) में, राजाओंको परंपरा ज्ञात बताया था ! क्षत्रियोंका भी प्रदान वेदोंमें दिखाई देता है। "**गुह्यानां गोप्यानां राजा राजगुह्यम् ।**" – गुप्तमें श्रेष्ठ है।

ब्रह्मविद्या सब ही विद्याओंमें श्रेष्ठ है, सत्पात्रको ही दी जाती है, – सबको नहीं। अति गुप्त है। यह पवित्र है। – "**महद्भयं वज्रमुद्यतम्**"। – महद्मय – उठाया हुआ वज्र– सिर पर खडा है। उससे रक्षा करनेवाला यह ज्ञान है। "**पवेः वज्रात् त्रायते इति पवित्रं पावनम् ।**" पवि वज्रसे बचानेवाला पवित्र है, पावनरूप है, पावनकारी है। "**उत्तम**" है,– अज्ञानके अंधकारको दूर करनेवाला, अंतःकरणको शुद्ध करनेवाला, यह ज्ञान है। "**प्रत्यक्षावगमं**" – साक्षात् फलात्मक, दृष्टफलरूप, सुस्पष्ट, यह ज्ञान है। "**धर्म्यं**" – धर्मसंमत है। "**कर्तुं सुसुखं**" – जीवनव्यवहारमें कठिन नहीं है, आचरणके लिये सुन्दर–सुखरूप, आसान है। "**अव्ययम्**" – अविनाशि है,– अविकृत है। तत्त्वज्ञानका उपयोग प्रयोजन तो अविद्याकी निवृत्ति तक ही सिमित है।

इस धर्ममें अश्रद्धावाले पुरुष मुझे (कृष्णको) प्राप्त किये बिना जन्म–मरण, अहंता–ममतारूप संसार–मार्गमें भटकते हैं। अनन्यचित्तसे तो भगवान् सुलभ है, परंतु अश्रद्धासे अन्यचित्तता होती है, भगवान् नहीं मिलते, भोग मिलता है, मटकना मिलता है,– "**जायस्वेति – म्रियस्वेति**" – जन्ममरणका चक्र–परिवर्तन होता रहता है।

विश्वरूपमें भगवान् ही खेलते हैं : जीवनमंगल – दृष्टिकोण :

भगवानने यह स्वमहिमा– ज्ञान–निरूपण किया, –

"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।।" (४)

"इदं सर्वं" – यह दृश्य–श्राव्य – सब जगत्, **"अव्यक्त-मूर्तिना मया"** ।– अव्यक्त – स्वरूपवाला मुझसे (अक्षर-ब्रह्मरूपसे, कालरूपसे, अंतर्यामी– रूपसे), **"ततं"** – व्याप्त है। जगतके जड–चेतन प्रत्येक रूपमें (तृणसे ब्रह्मा– पर्यंत), सर्व-वस्तु रूपमें, वह वह वस्तु रूपसे, मैं (भगवान् कृष्ण) ही हूँ । दशलीला– विशिष्ट भगवान् श्रीकृष्ण सर्वत्र सर्वदा क्रीडाकरते हुए बिराजमान है, वस्तु–व्यक्ति– मात्रमें बिराजते हैं । भगवान ही सबकुछ है, यह भान ही जीवनदृष्टिको बदल देता है । आत्मीयता– आदर– उल्लास सबके प्रति उमडते हैं । परंतु अव्यक्त होनेसे सब लोग (ऐसे) मुझको (भगवानको) जानते नहीं हैं । "स अेव हि **पुनः सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपः सर्वेश्वर सकलजगत्कारणकारणभूतः सर्वप्रत्यगात्मत्वात् सर्वगुणाभासोपलक्षित एक एव पर्यवशेषितः ।।"** – श्रीभागवत (६–९–३८) – "वह भगवान् ही सचमुख सब वस्तुओंमें वस्तुस्वरूपभूत (सर्वेश्वर) – सर्वनियामक– सकल जगतके कारणभूत (प्रकृति–पुरूष) के भी कारणरूप (अक्षरब्रह्मात्मक),– सर्वान्तर्यामिरूप– होनेसे सार्वगुण– प्रकाशसे अनुमित, एक मात्र वह (भगवान्) ही पर्यवशिष्ट है । मेरे (कृष्णके) स्वरूपमें ही सब कुछ है, – (भगवान्) सर्वाधार होने से ! अपनी लीला करनेकी स्वतंत्रेच्छासे भगवान् वह भिन्न भिन्नरूपोंको प्रकट करते हैं । भगवान् अपरिच्छिन्न होनेसे प्रकट हुई भी वस्तुमात्र

जड – चेतन, जगत् भगवानमें ही रहता है – स्थिति करता है । भगवानसे भिन्न नहीं – अनन्य होता है, – अभिन्न होता है । जगत् ब्रह्मसे अनन्यहोनेसे, ब्रह्मसत्यतामें सत्य है, मिथ्या नहीं है । वास्तविक है – सत्य है, प्रतीति जो वस्तुरूपसे होती है, वह प्रतीति ही मिथ्या है । वस्तु तो भगवद्रुप होनेसे सत्य है ।

"तदनन्यत्वमारम्मणशब्दादिभ्यः ।" ब्र. सू. (२–१–१४) में स्पष्ट है । **"वाचारम्मणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"** ।– श्रुति है । यहाँ घटादि –विकार वाङ्मात्रसे ही आरंभ किया जाता है, वस्तुतः नहीं,– ऐसा प्रतिभास होता है, अर्थ लगता है । ऐसा हो तो ब्रह्म किसका कारण हो ?! अतः श्रुतिवाक्यका अर्थ है, – "**आरंभणशब्दादिसे तदनन्यत्व** प्रतीत होता है, कार्य (जगत्) कारण (ब्रह्म)से अनन्य है, अलग–मिथ्या नहीं है । अलौकिक प्रमेयमें सूत्रानुसार ही श्रुत्यर्थ निर्णय करना उचित है । स्वतंत्र रीतिसे कुछ कल्पना नहीं करनी चाहिये। तर्क तो अप्रतिष्ठि है । **"नेषा तर्केण मतिरापनेपा ।"** – श्रुति तर्कसे निर्णयका निषेध करती है । इस सूत्रमें भी मिथ्यात्वका अर्थ नहीं है, अेकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी श्रुतिप्रतिज्ञा बाधित होनेसे, प्रकरणविरोध भी होता है । श्रुतिमें **"मृत्तिकैव सत्यं"**– अगर कहा होता तो मृत्तिका ही सत्य होती, तद्विकार घटादि नहीं ! तो ब्रह्म– सत्य– जगन्मिथ्या होता ! यहाँ तो **"मृत्तिकेत्येव–सत्यं"** – कहा है । **"इति"** – शब्द प्रकारवाची है । इसलिये मृत्तिका सत्य है, यही मृत्तिका घटादिरूपमें

अविकृत– परिणाम प्राप्त हुई है, घट मृत्तिकासे अनन्य है, भिन्न नहीं है, इसलिये घटकी मृत्तिकासे अनन्यता होनेसे, मृत्तिका और उसके घटादि–विकार भी सत्य है । जगत् कार्य; ब्रह्म–कारण है। कारणसे कार्य अनन्य होनेसे, कारण सत्य है, तो कार्य सत्य है। ब्रह्मकी सत्यतासे, अनन्यतासे, जगत् भी सत्य है । श्रुतिमें मिट्टी, ऊर्णनाभि, सुर्वणादि दृष्टान्त दिखाइ देते हैं, रज्जु–सर्प, शुक्तिका– रजत, प्रभृति नहीं ।

जड–चेतन– जगत् भगवानमें ही स्थिति करता है, – "**मत्स्थानि सर्वभूतानि ।**" सब भगवानकी वशमें हैं । उस जड–चेतनमें परिच्छिन्नतासे प्रभु रहते नहीं है । "मेरेमें सर्वभूत रहें हैं" – कहा, तो वे भिन्न होंगे !– यह संशय की निवृत्ति के लिये कहा,–

"न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ।" (५)

"**न च मत्स्थानि भूतानि**" – पुनः, प्रकट हुए सब जड–चेतन (पदार्थ–प्राणी)रूप जगत् भिन्नतया मेरेमें रहा हुआ नहीं है, मदात्मक – मेरे ही ऐसे ही रूप– है । यह मेरा ऐश्वर्य–कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं (करनेके लिये, न करनेके लिये, अन्यथा करनेके लिये) सामर्थ्यरूप – लीलात्मक योगको देख ! भगवानने अपनी – लीलाके लिये अभेदमें भी भेद , –अद्वैतमें भी द्वैत,– प्रकट किया है । यह लीलार्थ अैच्छिक– द्वैत है । वास्तवमें अद्वैत ही है । विरुद्धधर्माश्रय है– भगवान् । यहां, भगवानने

"पश्य" कहा है, व्याकरणमें "दृश" धातुका आदेश है – "पश्" वह विवर्त नहीं है । आदेश तो स्वीकार्य है । वैलक्षण है । ब्रह्म जगद्रूपमें स्वीकार्य है, लीलाके लिये स्वीकारा हुआ विलक्षण –रूप है । पदार्थ–प्राणीमात्रका धारण–पोषण करनेवाला – "**भूतभृत्**" – भगवान् ही है । सब भूतोंकी रक्षा तथा स्वभावमें भावित करनेवाला – "**भूतभावनः**" – भगवान् है । ऐसा होते हुअे भी "**ममात्मा**" – मेरा आत्मस्वरूप, भूतस्थ नहीं है । सबमें, सब रूपसे, क्रीडा करते हुअे भी, जैसे वह प्राणी लीलाके लिये प्रकट किये हुअे भी स्वाभिमानसे भिन्नरूपसे रहते हैं, वैसे मैं (भगवान्) नहीं रहता हूँ ।

जैसे सर्वत्र गतिशील महान् वायु नित्य आकाश–स्थित होता है, आकाशसे उसका स्पर्श नहीं है, "**नित्यं**" – हमेशां आकाशमें ही सर्वत्र गतियुक्त वायु होता है, ऐसे सर्वप्राणी सर्वत्र गतियुक्त भगवल्लीलानुसार मेरे (भगवानके) निकटमें होते हैं, वह देख! – जान । सर्वत्र सब कुछ भगवान् ही है, तो अब कलह–क्लेश–कटुता – कपट – कठोरता – कर्कशता – किसके साथ करें?! कृष्णभावनासे सबकी कठोरता स्नेहसे सहन करें।

ब्रह्माजी के दिवस–कल्पके अंतमें भगवदिच्छासे लीलानुसार ही सब प्राणी मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं– भगवानमें सबका लय होता है । पुनः कल्पके आरंभमें लीलेच्छासे भगवान् उस सबका सर्जन करते हैं । निरंकुश– जगत्कर्तृत्व मात्र भगवानका ही है, ब्रह्मभूत ब्रह्मज्ञोंका भी नहीं । प्रभु लीलाविचित्रताके लिये, अनेक रूप होते हुअे, उच्चनीचमकारसे, विशेष रूपसे, सर्जन

करते हैं । भगवान् अपनी असाधारण, लीलारूपा, आनन्दमयी प्रकृतिको आधार देकर लीलाभावका स्वीकार करके, अपनी लीलायोग्य चतुर्विध भूतग्राम (जरायुज, अंडज, उद्भिज्ज, स्वेदज)का सर्जन करते हैं । अपनी स्वतंत्रच्छासे, विहारवशतासे, सर्जन करते हैं । सब लीला है – भगवानकी ! सब कुछ है – भगवान् ! सब कुछ करते हैं – भगवान् ! होती है – भगवद्लीला ! भगवान्की आत्मसृष्टि है । “**आत्मकृतेः परिणामात् ।**” ब्र. सू. (१–४–२६) “**तदात्मानं स्वयमकुरुत।**” –श्रुति है । “**स ऐव सर्वं सृजति स ऐवावहन्ति च ।**” श्रीभागवत् (४–११–२५), ब्रह्म ही स्वयं कार्याकारसे अधिकृत परिणमता है । विश्वरूप हो जाता है । लीलाभावसे ! यह समजपूर्वक जीनेसे, लीलानुसंधानसे, जीवन लीलानुरूप – प्रसन्न – आनन्दपूर्ण – सफल हो जाता है । भगवान् तो स्वेच्छासे ही सब कुछ करते हैं – अपनी लीलाके लिये ! भगवानके कर्मबंधन नहीं होते हैं, तटस्थकी तरह भगवान् रहते हैं, आसक्त नहीं हो जाते हैं । आसक्त को ही वैषम्य – नैर्घृण्य (पक्षपात–क्रूरता – संभव है । “**वैषम्य नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हिदर्शयति**” **ब्र. सू.** (२–१–३४) जीवोंको सुख–दुःख देनेसे भगवानमें पक्षपात–क्रूरता नहीं आते हैं – आत्मसृष्टि होनेसे– तथा भगवान् तो कर्मसापेक्ष फल देते है । वृष्टि जैसा – भगवान् ! बीज जैसे कर्म ! भगवान् तो है – सर्वसमर्थ । बंधन नहीं होता है । श्री शुकदेवजी रासकथामें सुन्दर स्पष्टता करते हैं –

“यत्पादपंकजपरागनिषेवतृप्ता
योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः ।
स्वैरं चरन्ति मुनयोSपि न नह्यमाना –
तस्येच्छाSSत्तवपुषः कुत अेव बन्धः । (१०–३३–३५)

जिसके चरणकमलपरागकी नित्यसेवासे तृप्त (भक्ति) योग–प्रभावसे समस्त कर्मबंधनरहित हो गये हुए, मुनिगण भी स्वैर विहार करते हैं, कर्मबंधन प्राप्त नहीं होते हैं, तो फिर वह भगवान् जो (कर्मसे नहीं) स्वेच्छासे स्वरूप धारण – प्रकट करते हैं, उनको बंधन होता ही कहां से ?! सर्वतन्त्र – स्वतन्त्र है – भगवान् !

भगवान्की अध्यक्षतामें – कतृत्वमें– प्रकृति जड–चेतन जगतको जन्म देती है । भगवद्लीला– हेतुसे ही जगत् विपरिवर्तनको प्राप्त होता है । यह विपरिवर्तन भी परिवर्तित है – लीलानुरूप स्थिति ही है ।

“**जगद् विपरिवर्तते ।**”– (१०)– जगद्, “**वि**–विशेषण, “**परि**”– परितः, “**वर्तते,**”– है : जगद् ब्रह्मके विशेष आधि–भौतिकरूपमें हमेशा है । विवर्त नहीं ही है – लीलास्थिति है। वही लीलानुरूप– स्थितिका वर्णन वेद करते हैं । वह भी स्वतंत्रतया प्रभुका प्रतिपादन नहीं करते हैं । “**अगजगदोकसामखिलशक्तुयव बोधक ते क्वचिदजयात्मना च चरतोSनुचरेन्निगमः ।**” – (१०–८७–१४) – सब ही स्थावर – जंगमकी सर्व–इन्द्रियाँकी शक्तिको जाग्रत करनेवाले भी आप ही हो,

प्रकृति नहीं । जो स्थावर–जंगम आपके हैं, उनके तो आप ही उद्बोधक्र – (जागृत करनेवाले) हो । प्रकृतिके संबंधवालोंके बारमें तो कुछ विचार भी संभवित है । प्रकृति–पुरःसर ब्रह्म–प्रतिपादक–वेद और अन्य भी सब वेद आपका अनुचरण करे ही ! आपका ही प्रबोध सबवेद करते हैं । स्पष्ट हैं, – "**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः** –– " गीताजी (१५–१५) – सब वेदोंसे मैं ही वेद्य हूँ। आप कभी ही अजा (प्रकृति–निद्र–माया)से विचरण करते हो, सदा तो अपनेसे ही विचरण करते हो । "**च**"– कारसे सूचित होता है कि, – अजासे विचरणमें भी आपका विचरण तो स्वतः ही होता है । "**निगम**" – एकवचनसे कोई अेकाध वेदभाग ही अजा–संबंधपुरःसर आपका प्रबोध करता है, वह भी स्वरूपस्थितका (प्रकृतिका स्वीकार किये हुअे स्वरूपका) ही बोध होता है । "**अरूपमस्पर्शम्** –– " – रूपरहित, स्पर्शरहित – आदि श्रुतियाँ, आपको प्रकृतिका संबंध नहीं है – ऐसा प्रतिपादन करती है । ऐसे ही, अन्य श्रुतियाँ स्वरूपानन्द–बोधिका तथा सृष्टिप्रतिपादिका भी (प्रकृतिसंबंध–रहित) केवल ब्रह्मका ही निरूपण करनेवाली है । ब्रह्मका ही स्वेच्छासे स्वलीलार्थ ही विविध उच्चनीच रूपोंमें अविकृत–परिणाम है – जगत् । ब्रह्म ही जगद्रूप हुआ, जगद्रूपमें ब्रह्म ही रहा और अंतमें जगद् ब्रह्ममें लीन होने से ब्रह्म ही रहा ! ब्रह्म ही जगतका अभिन्ननिमित्तोपादान – कारण है । वह विवर्त–कारण नहीं है, वास्तव–कारण है । श्रुतियोंमें कहीं पर भी जगतका मिथ्यात्व कहा नहीं है । पुराणों में कहीं पर वैराग्य होनेके लिये ही मिथ्यात्व बताया है !

यथाधिकार ही अनुभव होता है :

वास्तवमें सबका समाधान देते हुअे महर्षि–व्यासने विशिष्ट बात बतायी,–

"इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो
यतो जगत्स्थाननिरोधसंभवाः
तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि वै
प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम् ।" –श्रीभागवत (१–५–२०)

उत्तमाधिकारीके लिये तो, "**इदं विश्वं भगवान् हि** – " यह विश्व भगवान् ही है । सर्वत्र भगवद्दृष्टिसे कृतार्थता उदात्तता होती है । यहां कार्यका भगवत्वेन निरूपण है । विश्व और भगवानमें भेद नहीं दिखता है, अद्वैत सिद्ध होता है । मध्यमाधिकारीके लिये, – "**इदं विश्वं भगवानिव** –" यह विश्व भगवान् जैसा है, भगवान् नहीं है । इसलिये सम्मान हो सके, आसक्ति नहीं । कनिष्ठाधिकारीके लिये, – "**इदं विश्वं भगवानितरः** – " – यह विश्व है, भगवान् तो इससे अलग है । दुनियाको ही देखनेवाला दुःखी होता है – भ्रष्ट होता है – बहिर्मुख होता है । भगवच्चरित – लीला– से यह निरूपण है।

भगवानका स्वरूप निरूपण बादमें है । "**यतो जगत्स्थान–निरोधसंभवाः** ।" – जिसमें जगतकी स्थिति है – ऐसे भगवान्

है। इसलिये, भगवान् ही जगद्रूप है, – ऐसा उत्तमाधिकारी समझता है। जिसमेंसे यह जगतकी उत्पति है – ऐसे भगवान् है; कार्यकारणके तादात्म्यसे कार्यरूपसे भेद और कारणरूपसे अभेद है,– ऐसा मध्यमाधिकारी समझता है। जिससे जगतका लाभ है, ऐसे भगवान् है। नाशप्रतियोगि जगत् है, ऐसा कनिष्ठाधिकारीको लगता है। "वह तो आप स्वयं जानते ही हो, तथापि प्रादेशमात्र आपको बतादिया।" "जैसी जिसकी बुद्धि है, तैसी कहत बनाय !"– सबके अधिकारानुसार सब ब्रह्म–जगत् – संबंधको समझते है। यह भिन्न भिन्न अधिकारसे समझमें भेद होता है; वास्तवमें – विश्वमें – शास्त्रसिद्धान्तमें-ब्रह्ममें–लीलामें– कोई भेद नहीं ही होता है।

प्रकट प्रभुकी अवज्ञा लोग अज्ञानसे करते हैः

ऐसी सरल – स्पष्ट– बात नहीं जाननेवाले, भगवान्–महिमा – और लीलाका – स्वरूप अन्यथा कहके अवज्ञा करनेवालोंके लिये कृष्ण स्पष्ट कह देते हैं,–

"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावभजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥" (११)

"**भूतमहेश्वरं**" – सर्वभूतोंके नियामकको, (सर्वज्ञको, अचिन्त्य महिमावालेको, योगेश्वरेश्वरको), "**मानुषीं**" – मनुष्याकार – (संबंध– वाली), "**तनुं**" – ("**आनन्दमात्र करपादमुखोदरादि**"– रूप देहदेहिविभाग– रहित), निर्दोष– पूर्णगुणविग्रहको, "**आश्रितं**" – (परमकारुणिकतासे सबको आश्रय प्रदान के लिये), धारण किये हुअे, "**मां**" – (विश्वात्मक) (मुझको) मेरे, "**परं भावं**" पुरूषोत्तम (अप्राकृत – अविकृत – श्रेष्ठ – साकार) स्वरूपको, "**अजानन्तः**" (अपने अज्ञानसे) न जानते हुअे, "**मूढाः**"– मूढलोग, "**अवजानन्ति**"– (अन्य मनुष्यादि – के समान मानकर) अवज्ञा– तिरस्कार करते हैं।

व्यर्थ (लौकिक) आशा करनेवाले, व्यर्थ (लौकिक और पारलौकिक) कर्म करनेवाले, व्यर्थ (लौकिक वा आभासरूप) ज्ञान (समज)वाले, विपरित, अव्यवस्थित,– चित्त (बुद्धि)वाले– वे लोक मोह (भ्रांति) करानेवाली (राजस–भोगरत) राक्षसी और आसुरी (अ–सुष्ठु – अशोभन वृत्ति प्रवृत्तिमें रत) प्रकृति (स्वभाव)को ही वश होकरके (मेरी – कृष्णकी – अवज्ञा करते हैं) भगवानकी अवज्ञा तो भयंकर अपराध है। "**ब्रह्महत्या–सहस्रस्य पापं शाम्ये–त्कथंचन । न पुनस्त्वय्यवज्ञाते कल्यकोटिशतैरपि ।**" – हजारो ब्रह्महत्याओं का पाप कोइ रीतिसे मीट भी जाय, परंतु आपकी (प्रभुकी) अवज्ञा (करने)का पाप करोडो कल्पोंसे भी मीटता नहीं है।

महामनालोग ही भगवानको भजते हैं :

"महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥" (१३)

प्राणीमात्रके आदि–मूल–कारणभूत–आनन्दमात्रकर– पादादिवाला– अविकृत – आनन्दमय – स्वरूपवाला अविनाशी मुझे जानकर दैवी–प्रकृति (दैवीसंपद्)वाले – (दैवीजीव)

(लौकिक – वैदिक – फलाकांक्षारहित) अनन्य मनसे भजते हैं – सेवा करते हैं । "**भज सेवायां**"– धातुपाठ है अतः भजनका अर्थ सेवा है । भगवानको सबके मूलकारण – आनन्दमय जान कर भजनेवाला ज्ञानिभक्त है । "**ज्ञानी चेद् भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः परः**" – अगर ज्ञानी कृष्णको भजे तो इससे अधिक उत्तम कुछ नहीं है । यहाँ "**चेत्**"– से "**अगर**"– कहकर, इसकी दुर्लभता बता दी है । "**अयमेव महामोहो हीदमेव प्रतारणम् । यत्कृष्णं न भजेत् प्राज्ञः शास्त्राभ्यास– परः कृती । तेषां कर्मवशानां हि भव एव फलिष्यति ।।**" (१६) शास्त्रार्थप्रकरण निबंधमें श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं । यह ही महामोह है, यह ही वंचना है, कि शास्त्राभ्यास-परायण, निपुण, प्राज्ञ कृष्णको न भजे, कृष्णकी सेवा न करें । उन कर्मवशलोगोंको तो निश्चितरूपसे संसार ही फलरूपमें मिलेगा, अपनी अहंताममतामें पचते रहेंगे । उद्धार तो और रीतिसे फिर नहीं होता है ।

दृढव्रतवाले और भगवान् (भगवानकी प्रसन्नता)के लिये प्रयत्न–परायण, नित्ययुक्त, महात्मा (महान भगवान् जिनकी आत्मा है वे) लोग सतत कीर्तन करते हुए और नमस्कार करते हुए, भक्तिसे (सेवासे) मेरी (भगवानकी) उपासना करते हैं ।

शीघ्र प्रभुप्रसन्नताके चारव्रत :

"दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केनचित्

सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः ।"

–श्रीभागवत (४–३१–१९)

१. सर्व भूत (जड–चेतन– प्राणीमात्र) के प्रति दयासे, २. जो कुछ भगवदिच्छासे मिल जाय इतनेमें संतोष होनेसे, ३. सर्वेन्द्रियाँकी शांति (विषयोंमें लालसा–प्रवृत्ति रहितता)से, अविद्यानाशक भगवान् जनार्दन (कृष्ण) शीघ्र ही संतुष्ट होते हैं । ४. एकादशी तथा नृसिंह–वामन – राम–कृष्ण– जयन्ती व्रतोंसे भगवान् तुरन्त प्रसन्न होते हैं । यह चार व्रत दृढतासे करने जरूरी हैं – भगवद्भक्ति करनेवालोंके लिये ! प्रभु-प्रसन्नताके लिये सतत प्रयत्न किया करने चाहिये । भगवत्कार्यसे युक्त (सावधान) रहना चाहिये । भगवानके स्वरूप–गुण)लीला के श्रवणके बाद कीर्तन सतत करना जरूरी है । और शरण – समर्पणभावसे नमस्कार करते रहें। ऐसे बाह्याभ्यन्तर– सेवासे प्रभुकी "**उप**" – निकटमें "**आसन**" – स्थान– निवास, प्राप्त होता है ।

जीव भगवानको नमस्कारसे अधिक कर भी क्या सकता है ?! :

"किमासनं ते गरुडासनाय किं भूषणं कौस्तूभभूषणाय ।
लक्ष्मीकलत्राय किमस्ति देयं वागीश किंते वचनीयमस्ति।"

वेदात्मक – कालात्मक – गरुडजी भगवानका वाहन है, – आसन है । उडते समय गरुडजीके पंखमेंसे सामवेदके

स्तोत्र– गान होते हैं । इससे अधिक आसन क्या हो सकता है?! सर्वमुक्त जीवोंके स्थान–रूप, आत्मज्योति, समुद्र–मथनप्राप्त, कौस्तूभमणि भगवानका आभूषण नहीं है, भगवान् स्वयं कौस्तूभके भूषण है ! भगवान् मणि आदि आभूषणसे शोभित नहीं होते हैं, आभूषण भगवानकी स्वरूपसुन्दरतासे शोभित होते हैं । इस भगवानको कौनसे आभूषणसे भूषित कर सकते हैं ?! लक्ष्मीजी तो ब्रह्मानन्दरूपा है, निरपेक्ष भगवानको समुद्रमथनमें से प्रकट होकर व्याही हैं । समस्त विश्वकी धनादिसंपत्ति लक्ष्मीजीके करोडवें अंशकी तुलनामें नहीं ठहर सकती है । लक्ष्मीजीकी एकाध कृपानजरकी कामना ब्रह्मादिदेव किया करते हैं, मिलती नहीं है ! वह लक्ष्मीजीकी स्वल्पेच्छा भी भगवान् नहीं रखते हैं । फिर भी लक्ष्मीजीने भगवानको अपने हृदयमें बसायें, तो भगवानने लक्ष्मीजीको वक्षःस्थलमें बास दिया ! लक्ष्मी की कामनासे चरणसेवा दी ! चंचल लक्ष्मीजी कभी भी भगवानको छोडकर अन्यत्र जती नहीं है ! ऐसे भगवानको क्या दे सकता है कोई ?! सर्वज्ञ भगवान् स्वयं वाणीके पति हैं । ऐसे वागीशको स्वल्पज्ञ, वाणीके स्वल्प स्वरूपको जननेवाला, कौनसी स्तुतिसे प्रसन्न कर सकता है ?! कुछ न कर सकते पर मात्र दीनतासे नमस्कार ही कर सकते हैं । यह तो भक्तिमार्ग की बात हैं ।

भक्ति न कर सके ये लोग ज्ञानयज्ञसे भगवानको भजते हैं :

कई लोग ज्ञानयज्ञसे भी भगवानका भजन करते हुए, उपासना करते हैं । “**ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये –**” (१५) में, “**अपि**”– भी है। इससे ज्ञात होता है, ज्ञानयज्ञसे भगवद्‌भजन भक्तिसे तो उत्तम नहीं ही है । परंतु भगवानने भक्तिमें जिनका स्वीकार नहीं किया है – “**अन्ये**”–वे अन्य लोग ज्ञानयज्ञसे – भगवानको भजते हैं। भगवान् जिसको भक्ति दे वे भक्त हो जाय; ज्ञान दे वे ज्ञानी हो जाय । जीव अपने आप क्या हो सकता है ?! “**ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना**” – “खंडनखंडखाद्य”– में श्रीहर्ष कहते हैं – ईश्वरके अनुग्रहसे मानवोंको अद्वैतवासना होती है – ज्ञानमार्गमें आते हैं । वे भी दो–तीन !!– “**द्वित्राणामेव जायते।**” “विवेकचुडामणि”में श्रीशंकराचार्यजी कहते हैं, – “**दुर्लभं त्रयमवैतद्‌देवानुग्रहकारकम् । मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ।**” – दुर्लभ है – ये तीन । देवके अनुग्रह कारक हैं – १. “**मनुष्यत्वं**” – मनुष्य शरीर तो मिल जाय, परंतु पशुवृत्ति (आहार–निद्रा–भय – मैथुनकी लालसा) मिट जाय, मानववृत्ति हो जाय । २. “**मुमुक्षुत्वं**” – अपने अपने जीवन प्रश्नोमेंसे मुक्ति पानेके प्रयत्न तो लोग यथासंभव करते ही हैं । परंतु जन्म–मरणमेंसे, अहंता–ममतामेंसे मुक्ति पाना वह मुमुक्षुत्व है । ३. “**महापुरुषसंश्रयः**” – अपने माने हुए जीवनप्रश्न सुलझानेके लिये सब प्रयत्न करते हैं, साधन–धन–जनका आश्रय लेते हैं, महापुरुष – संश्रय तो कृतार्थ करता है। सब कृपालभ्य ही है । भगवान् कृपा करे तो ही कोई ज्ञानप्राप्ति कर सकता है, ज्ञानी भी बन सकता है । नहीं तो नहीं ।

ज्ञानसे भजनके प्रकार :

ज्ञानयज्ञसे भजनेके विविध प्रकार बताये हैं, – “**ऐकत्वेन**” – “**सोऽहं**” आदि– प्रकारसे, अभेदभावसे – अक्षरब्रह्माराधन करते हैं। “**पृथक्त्वेन**” – भेदभावनासे– योगसे शरणगमनादि प्रकारसे । “**बहुधा**” – भिन्नाभिन्नदेवताबुद्धिसे – शिव-शक्तिसूर्यगणेशादि – प्रकारसे, सर्वत्र तत्तत्रूपसे । “**विश्वतो-मुखम्**” विश्वप्रकारसे । “**सर्वतः पाणिपादान्त**”– रूपसे, विराड्– रूपसे, सर्वात्मकरूपसे ।

परमात्मा सर्वात्मा भी हैं। वह बताते हैं, “**क्रतु**” – सोम-रस – सहितके श्रौत–याग, “**यज्ञ**” – सोमरहितयाग, “**स्वधा**”– पितृश्राद्धादि, “**औषध**” – रोगनिवर्तक भैषज्य, मन्त्र, होमद्रव्य, आहवन्नीयादि अग्नि, होमादि वह सब कुछ भगवान् हैं ।

सबका मूल हैं – भगवान् :

लोग तो “त्वमेव माता च पिता....” **स्नेहसे, स्वार्थसे,** विधिसे, अकारण भी, कहता होगा ! उसमें दायित्व क्या है ?! यहाँ तो स्वयं भगवान्– “मैं पिता हूँ,– माता हूँ”– कहकर गंभीर दायित्व सबका लेते है– “जगतः।” योग्यायोग्य, आस्तिकनास्तिक, उत्तमहीन सबकी वत्सलतासे हितेप्रवृत्ति प्रभु ही करते हैं ।

“**पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।**” (१७)

भगवदात्मक जगतका “**पिता**”– उत्पादक भगवान् ही है । “**माता**”– योनि; “**धाता**”,– कर्मफलदाता, “**पितामह**” – ब्रह्मा, “**वेद्यं**”– जानने योग्य पवित्रवस्तु, “**ओंकार**”– अक्षरात्मक, भगवद् धामादि, “**ऋक्–यजुः–साम**” वेदत्रयी, मोक्षादिरूप– “**गतिः**” “**भर्ता**”– पोषक, “**प्रभु**”:– समर्थ स्वामी, “**साक्षी**”– द्रष्टा, “**निवासः**”– स्थान, “**शरणं**”– अभयदाता, “**सुहृद्**”– अप्रार्थितहितकर्ता, “**प्रभवः**”– जगत्सृष्टा, “**प्रलयः**”– लयस्थानं, “**स्थानं**”– सकलाधार, “**निधानं**”– रक्षक, “**अव्ययबीजं**”– अविनाशिबीज– मूलकारण भी मैं(कृष्ण) ही हूँ । मैं तपाता हूँ, बरसता हूँ, आकर्षता हूँ, उत्सर्जन (त्याग) करता हूँ । अमृत (जीवन) – मृत्यु – परिदृश्य – मान – स्थूल – सत्, असत्– अदृश्य सूक्ष्मभी मैं ही हूँ ।

सकाम–कर्मफल : भोग – भ्रमणः

वेदत्रयीसे यज्ञादिकर्म करनेवाले, यज्ञमें सोमरस– पान करनेवाले, पाप निवृत्त लोग, – यज्ञसे यजन मेरा करके, अज्ञानवश स्वर्गलोक मांगते हैं । विशाल स्वर्गलोकमें विपुल सुख– भोग करके, क्षीणपुण्य होकर, पुनः मृत्युलोकमें आते हैं । लौकिक–पारलौकिक – कामनवाले लोग जन्म– मरणात्मक प्रवाहको प्राप्त होते हैं ।

अनन्यभक्तोंका योगक्षेमवहनः प्रभु करते हैं :

आगे कहें हुए सबको भगवानके अंशभाव समझके, उन सबको छोडके, अनन्यतासे जो भगवानको ही भजते हैं, भगवान् ही उनका सबकुछ स्वतः कर लेते हैं, उत्तम–भक्त हैं । बताते हैं उनको ।

“**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।**

तेषां नित्याभियुक्तान योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।" (२२)

अनन्य भगवद्भक्त तो भगवानके अनुग्रहसे ही कृतार्थ हो जाते हैं । भगवानने स्वलीलार्थ स्वेच्छासे तीन मार्ग – तीन प्रकारकी जीव सृष्टि – प्रकट की । स्वेच्छासे मनसे भगवानने जो प्रवाह सृष्टि (जीव) प्रकट की – वह अपनी मनमानी रीतिसे जीनेवाले हैं । जन्म–मरण ही उसके फल होते हैं – कर्मानुसार सुख–दुःख जीवनमें हरीच्छा भोगते हैं । स्वेच्छासे भगवानने वाणीसे जो मर्यादा (जीव) सृष्टि प्रकट की, वह भगवद्वाणी–रूप वेदशास्त्रकी मर्यादामें, संयमपूर्वक, जीनेवाली, यथाधिकार साधनानुरूप मोक्षावधि फल प्राप्त करती हैं । प्रभुने स्वेच्छासे अपने ही स्वरूपसे जो पुष्टि(जीव)सृष्टि प्रकट की वह भगवत्स्वरूपको ही सुख हो ऐसे ही, सेवापरायण रह कर, प्रभुरत जीने–वाली है । स्वप्राप्तिके लिये मार्ग तो, मर्यादा और पुष्टि – ही प्रकट किये हैं । दैवीजीवोंका ही अंगीकार इनमें होता है । मर्यादामार्गमें अंगीकृत जीवोंको शास्त्र–साधनक्रमसे ही भगव–त्प्राप्ति होती है । आसुरावेशियोंको भी मुक्ति देते भगवत्स्वरूपको मुचुकुन्दने देखा, भगवान उसको जन्मान्तरमें मोक्षवचन दिया ! पुष्टिमार्गमें अंगीकृत जीवोंको केवल कृपासे ही कृतार्थ कर देते हैं – कृष्ण ! शास्त्र–साधनकी कोई जरूरत उनको नहीं रहती है । व्रजभक्तोंका अंगीकार स्वेच्छासे ही पुष्टिमें किया, इच्छा स्वतंत्र है, अन्य कोई उसका नियामक नहीं है । शास्त्रसाधनक्रम – मर्यादामार्गके लिये है, तदनुसार ही प्रवृत्ति और फल होता हैं ।

भक्तका छोड दिया हुआ मोक्ष – अन्यलोग परम फल मानके ले लेते हैं :

पुष्टिभक्तिमार्गमें तो, स्वयं भगवान् ही कहते हैं, – सुस्पष्ट,–

"तस्मान् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ।।
यत्कर्मभिर्नतपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ।।
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेञ्सा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथंचिद् यदि वाञ्छति ।
न किंचित् साधवो धीरा भक्ता ह्योकान्तिनो मम ।
वाच्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ।। –

– श्रीभागवत (११–२०–३१, ३२,३३,३४)

प्रभु भक्तके हृदयमें प्रकट हो जाते हैं । हृदयमेंसे लौकिक–वैदिक कामनाएँ नष्ट हो जाती है । हृदयग्रंथियाँ खुल जाती है, संशय छूट जाते हैं, कर्मबंधन टूट जाते हैं । इसलिये, भगवान् जिसकी आत्मा है, ऐसे भगवदभक्तियुक्त संयोगी–वियोगीको न ज्ञान और न वैराग्य प्रायः कल्याणरूप होते हैं । मर्यादामार्गीय भक्तको शायद होते भी होंगे । पुष्टिमार्गीय – भक्त को तो ज्ञान–वैराग्य कुछ कामके ही नहीं है । जो कर्मसे, जो तपःसे, जो ज्ञानसे, जो वैराग्यसे, जो योग–दान–धर्मादि अन्य भी कल्याणोंसे उनके उनके सर्वोत्तम जो भी फल प्राप्त हो सकते हैं, वह सब ही मेरे भक्त मेरे भक्तियोगसे सरलता से

प्राप्त कर लेते हैं । स्वर्ग–मोक्ष–मेरा धाम (वैकुंठ), अगर कोई भी रीतिसे मेरा भक्त चाहता है तो प्राप्त हो जाता है । मेरेको ही प्राप्त–प्रसन्न करनेवाले साधु, लोकप्रवाहमें लालसावश बह न जानेवाले–सुनिश्चित– स्वध्येयमें दृढतासे दटकर रहनेवाले- धीर, मुझको, अन्य फलाकांक्षारहित, मेरे लिये ही भजनेवाले- भक्त, एकमात्र भगवानको ही अंतिम लक्ष्य बनाके प्रकट ही चाहनेवाले–एकांतिक, निजजन तो मेरे दिये हुए कैवल्य– मोक्षको चाहते भी नहीं हैं, लेनेकी बात तो दूर रही ! ज्ञानमार्गमें जो अंतिमफल माना गया वह,– कैवल्य– केवलताका भाव- स्वरूपस्थिति– आत्मानुभूति– अपरोक्षानुभूति– स्वस्वरूपानुभूति है । जिसके लिये ज्ञानी जीवनभर तडपता रहता है । बहुत कमको कदाचित् यथार्थ स्वस्वरूपानुभूति होती होगी । वह जीवन्मुक्तावस्था अथवा अमुनर्भव – मोक्ष – मुक्तजीवत्व – भी स्वयं भगवान् सामने चल कर, जीव के बिना साधन प्रयत्न किये भी, देंने को आ जावें, तो, "**मया दत्तं न वाञ्छन्ति**" – मेरे दिये हुए भी भक्त लेते नहीं हैं, चाहते भी नहीं । कैवल्य- अपुनर्भवमें स्वस्वरूपानुभूति होगी, सामान्य है वह– भक्तिमें तो ! ललचानेको भगवान् ले आते हैं । भक्त लुभाता नहीं है । लेता भी नहीं । चाहता भी नहीं है ! वह – भक्तोंका पडा रहा हुआ बेकार–त्यक्त–माल जिनको चाहिये वे लोग उठाके ले जाते होंगे !!– पुष्टिभक्तको तो भगवत्स्वरूपानुभूति मिलती है, तो स्वस्वरूपानुभूति को कौन लेगा ?!

भगवद्–भक्ति तो कल्पतरू–स्वभाववाली है । कोइ साधनोंसे सिद्ध नहीं होती है । "**भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगं**"– श्रीभागवत (५–६–१८), भजनेवालोंको मोक्षदाता भगवान् मुकुन्द कदाचित् मोक्ष दे देते हैं, कभी भी भक्ति नहीं देते हैं । यहाँ तो मुक्तिसाधनसिद्धोंको भी भगवान् देते हैं तब ही भक्ति मिलती है, नहीं तो नहीं ! मर्यादाभक्ति वा पुष्टिभक्ति दोनोंमें भी भगवत्कृपासे ही भक्तिलाभ होता है । पुष्टिमें शास्त्रीय–साधन नहीं होते हैं, मर्यादामें होते हैं।

अनन्योंका भजन, भगवानका योगक्षेम–वहन :

भगवान् ऐसे भक्तोंकी अनन्यता बताते हैं, – "**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां**"– जो भक्त अनन्य है, वह तो अन्यभावना, अन्य साधन, अन्यदेव, अन्यफल, अन्यमार्गादिके संबंधसे रहित होते हैं, ये तो कृपालभ्य भक्तिवाले हैं । ये तो अनन्यतासे "मां"– मेरा पुरुषोत्तम श्रीकृष्णका ही निरंतर चिंतन करते रहते हैं । उन अभियुक्तों – सर्वतः संबद्धो–का योगक्षेमका वहन स्वयं मैं (कृष्ण) करता हूँ । इस लोकमें सेवोपयोगार्थ धन–धान्य –वस्त्रादिलाभ प्राप्त कराना है – योग । प्राप्तको सम्हालके रखना, यह लोक–परलोकमें अत्यंत श्रेयः – मोक्ष–लाभ – है – क्षेम ! भक्तोंका योगक्षेम भगवान् वहन करते हैं । देतें नहीं हैं, स्वयं सामने चलकर, स्वयं वहन करके, प्राप्त कराते हैं । "**वह प्रापणे**" – धातुपाठ है । अथवा, अनन्यभक्त तो लौकिक–पारलौकिक कुछ भी चाहते नहीं है । कृष्णसेवाके लिये ही अपना जन्म है, – ऐसा स्पष्ट ज्ञान उनको होता है ।

"पर्युपासते" – सर्वात्मभावसे सेवा करते हैं । प्रभुको सर्वस्व सबकुछ अपना मानके हृदयमें होते हुए सब भावोंसे भगवानको भजते हैं। माता– पिता– बन्धु– सखा– द्रव्य– विद्या– सबकुछ भगवान् ही है – मेरे तो ! अपनी आत्मा प्रेष्ठ है – प्रभु ! उनको तो सेवोपयोगी धनादि– लाभ अथवा स्वसंयोग प्रभु देते हैं, – यह है – योग ! क्षेम है – मिले हुए का रक्षण अथवा भक्तिको उत्कट बनावे ऐसा भावका प्रदान ! वह सबकुछ भी स्वयं भगवान् करते हैं ।

सुना है, – "**महाभारत**"के टीकाकार अर्जुनमिश्रने "**वहामि**" के स्थान पर "**ददामि**" कर दिया ! भगवान् वहन करे वह बात उससे सहन नहीं हुई ! उसके घरमें दाना–पानी कुछ नहीं था! वे तो बहार गये । इस दरम्यानमें कोई साँवरा–बालक उसके घर आया ! साथमें दाना–पानी सब लाया ! शरीर पर चोट थी । पत्नीने टोकरी ली, चोटका कारण पूछा ! बालकने बताया पंडितजीने मारा ! बालक तो गया ! पण्डितजी घर आयें। पत्नीने पूछा, – "बच्चाको क्यों पीटा था ?!" – प्रसंग सुनकर पंडितजी क्षुब्ध हो गये ! समझमें बात आ गई ! "**ददामि**" तो भगवानसे सहन नहीं हुआ ! भगवान् "**वहन**" ही करते हैं, – भक्तोंके योगक्षेमका ! अर्जुनजीने "**वहाम्यहम्**" यथावत् कर दिया ।

अन्यदेवताका भजन अविधिपूर्वक कृष्ण भजन ही है :

जो लोग अन्यदेवताओंको भजते हैं, श्रद्धायुक्त हैं, ये भी सब

मेरेको (कृष्णको ही भजते हैं, क्योंकि सब देवता मेरे–अंश हैं – अंग हैं – विभूतिरूप हैं । परंतु ऐसे मेरे स्वरूपका ज्ञान न होनेसे अविधिपूर्वक भजते हैं । अतः उनको उनके भजनके अनुरूप सामान्यफल होता है, कृष्णकृपा नहीं मिलती हैं । विधिपूर्वक क्रिया करनेसे यथार्थ फल होता है, विधिरहित करनेसे नहीं । दाल–चावल पकाने हो तो पात्रमें पानी रखकर उसमें दाने रखकर आंच पर रखे जाते हैं । यह विधि हैं । परंतु पानीके बिना रखे तो ?! अविधिपूर्वक क्या होता ?! मसाला कुछ मनमाना कर सकते हैं, विधिमें नहीं । ऐसे ही विधिपूर्वक कृष्णभजन कृतार्थ करता है । वृक्षके मूलमें सिंचन करनेसे शाखाएं तृप्त होती हैं, शाखा पर सिंचनसे मूल–वृक्ष – तृप्त नहीं होता है । ऐसे, मूलरूप कृष्णसेवासे तदंगभूत देवता तृप्त हो जाते हैं, अंगभूत देवताओंको भजने से मूलरूप कृष्ण तृप्त नहीं होते हैं।

सर्व–यज्ञोंका भोक्ता मैं (कृष्ण) ही हूँ । यज्ञाधिष्ठाता सब देवता मेरी ही अंश है – अंग है । उनके रूपमें मैं ही फलभोग करता हूँ । फलदाता प्रभु भी मैं ही हूँ। परंतु ये लोगका पतन होता हैं, पुनर्जन्म होता हैं ! श्रीभागवतमें – "**क्रतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनीः । यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत्संपादय नः प्रभो।**" – (१०–७२–३) युधिष्ठिरजीने राजसूय–यज्ञसे भगवानकी विभूतिका पूजन करनेकी आज्ञा माँगी है । देवताको पुजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितृपूजक पितृओंको, भूतोंको पूजनवाले भूतोंको प्राप्त होते हैं, मेरा यजन करनेवाले मेरेको

प्राप्त होते हैं। कर्मात्मक – कृष्णपूजनसे भी मुक्त्यात्मक फल होता हैं ! यह विशिष्टता हैं ! तो फिर भक्त्यात्मक – सेवनकी तो बात ही क्या हो ?! भक्तिकी विशेषता कुछ बताते हैं, –

भगवान् संपत्तिसे नहीं, स्नेहसे संतुष्ट होते हैं :

“पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥” (२६)

यज्ञमें तो देश–काल– कर्म – मंत्र–कर्ता – द्रव्य– छः शुद्ध होने पर भी स्वयं तो भगवान् पधारते नहीं हैं । यज्ञ भी विधिपूर्वक ही करना पडता हैं । ज्ञानमें भी वैराग्य तो चाहिये! भक्तिमें तो जो कुछ भी हो, भगवान् स्नेहसे अनायास स्वीकार कर लेते हैं ! विधि–निषेध– यज्ञ–योग – ज्ञान–वैराग्यादिसे बहुत कुछ उपर है, – प्रेम – भक्ति – सेवा !

“पत्रं” – तुलसीजी– नागरवल्ली– भाजी– आदिके; **“पुष्पं”** – गुलाब, मोगरा– लोंग–आदि; **“फलं”** – आम, शकरकंद, – आदि; **“तोयं”** – यमुनाजल – गंगाजल – गुलाबजल – आदि; चारों विकृतिके बिना, कुछ बनायें बिना, नैसर्गिक रूपमें (योग्य शुद्धिपूर्वक) प्रभुको विनियोग करा सकते हैं । ब्राह्मण भगवानका मुख है, इसके द्वारा तो अन्य भी आरोगे !

पुष्टिभक्तिमार्गमें – ८४–२५२ वैष्णवोंकी वार्तामें – यह प्रसिद्ध है । माधवदासीकी बथुआकी भाजी, जमनादासजीका एक लाख रूपयेका एक गुलाबका पुष्प, कुंभनदासीने मानसिक रीतिसे आरोगाई हुई आम, कोइ शेठका हजाररूपयेका एक खरबुचा

(शकरकंद), श्रीगुंसाइजी और गदाधरदासजीने आरोगाया हुआ – जल, प्रभु प्रेमसे स्वीकारके प्रसन्न हुए हैं । मर्यादा भक्तिमें विदुरजीकी–भाजी, गजेन्द्रका–कमल, विदुरपत्नीके–केले, ब्रह्माजीका– कमंडलुजल– केवटका– जल, प्रसिद्ध है । वस्तु लानसे, प्रभुको अंगीकार करावे तब तक, अखंड– प्रेमपूर्ण–हृदयसे, प्रयत्न–परायण रहे, ऐसे सन्निष्ठ भक्तकी कोई भी वस्तु, प्रेमपरवश पुरूषोत्तम, प्रसन्नतासे, भक्तेच्छानुसार, अंगीकार करते हैं । **“अश्नामि”** – (आरोगता हूँ)– सानुकूल–क्रियाका उपलक्षक है । श्लोकमें गिनाये हुए चारमें तो सर्व वस्तुका समावेश हो जाता है । अन्न–वस्त्र भी– फलरूप; दूध– ईख– आदि– जलरूप, ताम्बूलादि–पत्ररूप, सुवर्ण–रत्नादि– पुष्परूप।– श्रीभागवत (१०–८१–३) में है,– **“अण्वप्युपहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत् । भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते।”** स्नेहसे स्वल्प देने पर भी प्रभु प्रसन्न होते हैं । भाव बिना तो विपुल वैभव भी तुच्छ लगे – भगवानको! स्नेह स्वान्तःकरणका धर्म है । स्नेहसे देनेमें तो स्वान्तःका समर्पण होता है । सुदामाजीके प्रेमसभर तंदुलसे भी प्रभु तो प्रसन्न हो गये थे !

स्नेहसे समर्पितका स्वीकार करते हैं,–भगवान् ! तो जीवनभरमें किये हुए, किये जा रहे, किये जानेवाले सब कर्म भी स्नेहसे सेवाबुद्धिसे श्रीहरिको समर्पित कर दें, तो कर्मफलभोग न रहें ! सामान्य वा अयोग्य–कर्म तो प्रभुको समर्पित न कर सकें । सर्वोत्तम वस्तुका समर्पण सेवकको उचित है । प्रभु प्रसन्न हो ऐसे उत्तमकर्म करें, अन्यथा न करें । लौकिक–वैदिक– नित्य–

नैमित्तिक – जो कुछ भी करें, प्रभुयोग्य ही करें, समर्पित करें।

“कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात् ।
करोति यद्यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत् ।” – श्रीभागवत (११–२–३६)

काया–वाणी – मन– इन्द्रिय – बुद्धि – आत्मा – स्वभावादिसे जो कुछ भी करें, वह नारायणको समर्पण करें।

“एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः । त एवात्म–विनाशाय कलपन्ते कल्पिताः परे ।।” – श्रीभागवत (१–५–३४) – मनुष्यकी सब क्रियाएं संसार– हेतुरूप है, वही प्रभुके लिये समर्पित करनेसे नष्ट हो जाती है, – सेवा हो जाती है।

जो कुछ भी करें – उत्तम करें – प्रभुप्रसन्नताके लिये करें – समर्पित करें ः

“यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।” – (२७)

जो करें, जो भोजन करें, जो होम करें, जो दान दें, जो तप करें, वह मुझे अर्पण कर। विवाह, पुत्रप्राप्ति, व्यापार, स्नान, दंतधावन, उत्सर्गादि, कुछ भी करें, वह भगवत्सेवानुकूलताकी बुद्धिसे, सेवामें बाध न हो – भगवत्सुख हो – यह बुद्धिसे करें। यह करनेसे पूरा जीवन–व्यवहार – सेवामय हो जाता है। प्रभुमय हो जाता है। इस प्रकार शुभाशुभ – कर्मफलोंसे – कर्मबंधनोंसे तू मुक्त होकर मुझे प्राप्त हो जायगा। मैंने

लीलाके लिये प्राणीमात्र प्रकट किये हैं – सब ! सब जड – चेतन भगवानकी लीलामें उपयोगी है, इनमेंसे किसके दोष देखें? – रोष करें ? द्वेष–क्लेशादि किसके साथ करें ? भगवान् – सबके साथ “सम” है। अज्ञानवश जो अन्यथा कर्म करें, कर्तृत्वाभिमान करें, उनको स्वदोषसे बन्धनादिक होते हैं। भगवानको तो न कोई द्वेष्य है, न कोई प्रिय; आत्मसृष्टि है न! जो लोग स्नेहसे लीलारूप जानके भजते हैं, – सब कुछ करते हैं, – ये प्रभुमें – लीलामें – हैं, प्रभु उनसे संतुष्ट होकर उनमें हैं। वैषम्य – पक्षपात कुछ नहीं है। श्रीकृष्णने उद्धवजीसे कहा है – **“अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम। मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः ।।”** –श्रीभागवत (११–२९–१७) सब कल्याणके उपायोंमें यह ही मुझे संमत– योग्य– है – सर्व प्राणीयोंमें मेरा भाव (कृष्णभाव) करें, – मन–वाणी – काया–वृत्तियोंसे ! सब – भगवान् ! सब कुछ – भगवानकी लीला ! लीलादृष्टिसे जीवन लीलामय हो जाय! आनंद – उद्वेग – सबमें कृष्णलीला ही है।

भगवान् वेदोंसे स्वतन्त्र सामर्थ्य – पुष्टि– बताते हैं ः

“अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः
स्त्रियो वैश्या स्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।

भगवानने महापतित–पावकता प्रकट बताई । वेदोंसे भी यह स्वतंत्रबात कही !– सामान्यतः वेदादि– शास्त्र पापमेंसे छूटकारा पाने के लिये, शुद्धिके लिये, दंड वा प्रायश्चित्त बताते हैं । कर्मफलसे छूटना जीवके लिये तो शक्य नहीं है । फल भोगने पडते हैं । यहां भगवानने स्वप्रमेय–बलसे, प्रमाणबलकी अपेक्षा स्वतंत्र बात कही है । यही है – पुष्टि ! काल–कर्म–स्वभावसे मानव बच नहीं सकता है – स्वसामर्थ्यसे ! सर्वसमर्थ भगवानके सामर्थ्यके सामने काल–कर्म– स्वभाव कुछ भी नहीं कर सकते हैं ! ऐसा सामर्थ्य भगवानका असाधारण वीर्यरूपा पुष्टि है – कृपा है ! कृपा समर्थ बनाती है । जीवको कृपाबल मिलने पर वह काल–कर्म– स्वभावसे दबता नहीं है । प्रभु अपने कृपापात्र भक्तोंको लाचार– बेचारे – दबे हुए – निःसत्त्व – नहीं होने देते हैं । भक्त तो भगवानके सामर्थ्यसे जीता है, जिातता है ।

अगर अत्यंत दुराचारी हो तो भी अनन्यतासे श्रीकृष्णको भजता है, उसको सत्पुरूष ही मानना चाहिये । विषयादि – महापापाचरणशील व्यक्ति भी, अगर पापमेंसे छूटकारा अन्यत्र कहींसे भी नहीं होगा – ऐसा समझकर, अन्याश्रय – अन्यभजन छोडके, दोष छोडनेमें अशक्त – फिर भी छोडनेको तत्पर, अपने दोषमानसे – स्वदोषस्फुर्तिसे – संताप होनेसे होती हुई दीनतापूर्वक कृष्णको भजता है, वह साधु ही है ! ऐसा होता है तो बहुत कम ! दुर्लभता दिखानेको "चेत्" – शब्द कहा है । भगवद्‌भजनका योग्य निश्चय उसने कर लिया है । निर्णय और प्रयत्न निष्ठा जगा देते हैं, निराश– निष्क्रिय – निष्फल

नहीं होने देते हैं । निर्णय है – "मेरे उद्धारमें श्रीकृष्ण ही समर्थ हैं, उनके बिना मेरे महापातकको दूर करनेवाला अन्य कोई है ही नहीं !" प्राचीनकालका लूंटेरा वालीया– "सुदुराचारः" भक्त नारदजीके सत्संगसे महापाप निवृत्तिके लिये "रामा"नाम जपने लगा । औंधा जप किये । "मरा–मरा" हो गया ! यथार्थ दृढ निर्णय से, इसी ही जन्ममें वह अनपढ–हिंसक– पापरत लूंटेरा भगवत्कृपासे हो गया – आदिकवि – रामायणके दृष्टा – समाधिसिद्ध – महर्षि वाल्मीकिजी ! – "**साधुरेव स मन्तव्यः**" – साधु ही है । भगवच्चरण – शरणसे तुरन्त धर्मात्मा सेवायोग्य हो जाता है – शश्वत शान्तिको प्राप्त करता है ! हो गये जगप्रसिद्ध – महर्षि वाल्मीकिजी ! इसलिये, हे कौन्तेय ! मेरा भक्त दोषोंसे नष्ट नहीं होता है, दोष ही नष्ट हो जाते हैं । महादुराचारशील भी मेरा भक्त दोषोंसे नष्ट नहीं होता है, तू प्रतिज्ञा कर ! भक्तों में दोष न देख ! भक्त–संमानसे प्रभु प्रसन्न होते हैं ।

हे पार्थ ! मेरा (श्रीकृष्णका) निश्चितरूपसे अनन्य – सुदृढ आश्रय लेकर – जो पापयोनिवालें भी हो, स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र भी परमगतिको प्राप्त हो जते हैं । स्वतंत्र स्त्री, स्वतंत्र शूद्रको श्रुतिश्रवणाधिकार नहीं है । वीरवती स्त्रीको पति–पुत्र–द्वारा, सच्छूद्रको तत् स्वामीके द्वारा, अधिकार है । जहां श्रुति श्रवणाधिकार ही नहीं हो, तहां श्रुतिसिद्ध मोक्षकी तो बात हि क्या ?! भगवानने स्वप्रमेयबलसे अनधिकारी, उनलोगोंको भी गति–मोक्ष – अक्षरब्रह्मसायुज्य ही नहीं परमगति – परब्रह्मसेवा

– लीला–लाभ प्रदान कर दिये ! यही पुष्टि है ! नरकासुरकी कैदमेंसे १६००० राजकुमारीकाओंको छुडाके द्वारका लाये ! समाजके लिये भारी प्रश्न था, उनको योग्य स्थान–मान – देनेका ! कौन स्वीकार करे कैदमेंसे आई हुइ ईन कन्याओंका?! भगवानने स्वयं पत्नीरूपमें – विवाहसे – स्वीकार कर ली ! "**गति**" का अधिकार नहीं, उनको "**परमगति**" मिली ! श्रीकृष्णपत्नी – राजमहिषीजीको अब कौन स्थान–मान नहीं देगा ?! जिसको वेदमार्ग न मिले, वेदमार्गसे जिनको अक्षरब्रह्म न मिले, उनको अक्षरसे उत्तम स्वयं परब्रह्म मिल गये ! यही पुष्टि है ! सामान्यको असामान्य बना देती है – पुष्टि ! भोग–परायणको भगवत्–परायण बना देती है – पुष्टि ! शूद्रमेंसे समर्थ बनाती है – पुष्टि ! संसारीमेंसे संत बनाती है– पुष्टि! पापीको पीडे बिना, नीचको नीचा दिखाये बिना, उदारतासे उन्नत बनाती है – पुष्टि ! श्रीगीताजी तो अति–संक्षिप्त है, उसके सिद्धान्तों को लीलारूपमें, स्फुट–विस्तृत – स्पष्ट – यथार्थ, – बताता है – श्रीमद्‌भागवत !

अनधिकारीओंका भी उद्धार पुष्टिसे हो जाता ही है, तो पुनः, उत्तमाधिकारीओंकी तो बात ही क्या है ?! पुष्टि तो उनको भी कृतार्थ कर देती है। वेदाध्ययनसे ब्रह्मज्ञान–वाले ब्राह्मण, राजा होने पर भी ऋषि–राजर्षि, पुण्यशील लोग, भक्तजन जैसे उत्तमोंकी तो बात ही क्या है ?! ये तो साक्षाद्‌भजनोपयोगी हो जाय ! कृपा–भक्तिके बिना तो, समाज व्र शास्त्रमें उत्तम माने गये भी अधम ही है। इसलिये, इस अनित्य, असुखरूप

अहंताममतात्मक संसारको छोडकर मेरा भजन कर, सेवा कर! भजन प्रकार बताया, –

"मन्मनाभव मद्‌भक्तो मद्‌याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्तवैवमात्मानं मत्परायणः ।" (३४)

मेरेमें मनवाला हो जा, मेरेमें भक्तिवाला हो जा, मेरी सेवा स्नेहसे करनेवाला हो जा, मेरेको नमस्कार कर, इस प्रकार, चित्तको एकाग्र करके, मेरेमें परायण हो करके, तू मेरेको प्राप्त हो जायगा। ऐसे, मन, काया, वाणीसे भगवानका भजनको कहा है। श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं – "**शास्त्रमवगत्य मनोवाग्देहैः कृष्णः सेव्यः ।**" शास्त्र योग्य रीतिसे, स्वमार्गमर्यादामें रहनेके लिये, समझ कर, मन–वाणी – देहसे कृष्णसेवा करनी जरूरी है। कृष्णसेवा अपने ही तनधनसे, सेवानुकूल स्वगृहमें रहकर, करनेसे – संसारदुःखनिवृत्ति और ब्रह्मज्ञान तो गौणफल– रूपमें मिल जाते हैं। मन मग्न हो जाय, "**चेतस्तत्प्रवणं**" हो जाय, यह फलरूपा मानसीसेवा किसको कृतार्थ न करे ?! है – सब कृपैकलभ्य !

अध्याय – १० : विभूतियोग : श्लोक – ४२ :

भगवानकी महिमा :

अद्‌भूत है– भगवान् ! अद्‌भूत है– भगवानकी लीला ! विश्वरूप होते हुए भी विश्वसे विलक्षण भी है ! विलक्षण होते हुए भी रक्षण भी करते हैं ! रक्षण करते हुए भक्षण भी करते हैं ! "**अत्ता चराचरग्रहणात्**" ब्र. सू. (१–२–९)– ब्राह्मण–

क्षत्रिय उनके चावल ! मृत्यु– घी ! यही अत्ता (भक्षक) है– भगवान्! सत्ता (अस्तित्त्व) भी सर्वत्र उनकी ही है । सत्ता जिसकी, वही अत्ता ! यही तो अद्भुत– लीला है ! विश्वरूपमें भी व्यक्त हुए भगवान् ! विश्वमें विपुल विविधता– विरोधिता– विशिष्टता– भी अंशमात्रसे व्यक्त है– भगवानकी ! यह तो सब महिमा है– भगवानकी ! भगवान् तो उससे अधिक ऊपर है । वेद वदते हैं,– "**एतावानस्य महिमाSतो ज्यायांश्च पूरुषः।**" महिमा जाननेसे सुदृढ– सर्वाधिक स्नेह होता है, अपराध– अवज्ञासे अटकते भी हैं । भगवानने यह महिमा भक्ति– वृद्धि– दृढता के लिये अर्जुनको बताई । यह सर्वोत्तम– परिज्ञानसे सर्वत्र सर्वदा भगवदनुसंधान बना रहे, वस्तुमें राग– द्वेषादि न हो । भगवानकी विशालता– उपकारक्ता, सहृदयता– सरलता– सर्वसामर्थतादि– समझनेसे स्वान्तः स्वतः स्नेहसे समर्पित हो जाता है ! यह विश्वमें व्यक्त विभूति और उसका योग भगवानने अर्जुनको वात्सल्यसे व्यक्त किया !–

प्रीत हो वहाँ हित होता है :

"भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेSहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ।।"– (१)

प्रियत्त्वमें तो पुनः पुनः भी जो कुछ कहें– करें– सब प्रिय ही लगता है । आगे, सातवें अध्यायमें– "**मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय ।**"– (७) कहा है । "मुझसे अधिक उत्तम वा अलग कुछ भी नहीं है ।"– कह कर– "**रसोSहमप्सु**"– "जलमें मैं रस हूँ"– आदि वाक्योंसे कही हुई बात प्रकारान्तरसे भी पुनः कहते हैं । फिर भी उब नहीं जाते है, नावीन्यमें– आश्चर्यमें– आदरमें– आत्मीयतामें– डूब जाते हैं ! क्योंकि सुननेवाला कुतूहल वा जिज्ञासासे ही नहीं सुनता है;– "**प्रीयमाणाय**"– प्रीतियुक्त है, प्रेमसे सुनता है ! ऐसेको तो सुननेमें भी आनंद और सुनानेमें भी आनंद है ! "**भूयः एव**"– स्पष्ट कहा,– "पुनः ही" । "**शृणुमे परमं वचः**" ।– "मेरे परम वचन सुन ।" "**परो मीयते ज्ञायते प्राप्यते अनेन इति परमम्।**–" पर– श्रेष्ठ– परमात्मा– पुरुषोत्तम, जिससे जाना जाय, प्राप्त किया जाय, वह है,– परम ! अप्रयोजन प्रवृत्ति तो मूर्ख भी नहीं करता है । भगवानकी सुनानेकी प्रवृत्तिका प्रयोजन बताया,– "**हितकाम्यया ।**"– "हितके लिये मैं परमवचन् कह रहा हूँ, सुन!" प्रीत होती है वहाँ हित होता ही है । रीति कदाचन भीति करा भी दें, परंतु हित होता ही है । "**यत्तेSहं वक्ष्यामि**"– "मैं जो कुछ भी तुझे कहता हूँ, प्राप्त कराता हूँ ।"– प्रीतिमें अधिक स्पष्टता क्या करनी होती है ?! प्रीति स्पष्ट न हो तो स्पष्टता करनी पडती है ।

भक्त ही भगवानको जानता है : न देव, न ऋषि, न मुनिः

"न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षियः ।"– (२)

मेरे (भगवानके) प्रादुर्भाव– प्रभावको देवगण– महर्षिलोग नहीं जानते हैं । देव सत्त्वप्रधान होते हैं, सत्त्वसे ज्ञान होता है, यह तो सगुण– ज्ञान होता है,– कृपाके बिना तो भगवज्ज्ञान

नहीं होता है । "**भक्तया मामभिजानाति**"– (१८–५५)– श्रीगीतामें स्पष्ट कहा है । भक्तिसे पुरुषोत्तम– ज्ञान होता है । भक्ति कृपासे ही होती है। देवतालोग भक्त नहीं है, इसलिये तो श्रीशुकदेवजीने उनको श्रीभागवत नहीं सुनाया ! "**अभक्तांस्तांश्च विज्ञाय न ददौ स कथामृतम् ।**
श्रीमद्भागवतीवार्ता सुराणामपि दुर्लभा ।।" पद्म. पु. भा. मा. (१–१७). भक्ति विना तो ब्रह्मज्ञान– भगवज्ज्ञान होता नहीं है ! ये देवता फिर देव– जातिके हो या ईन्द्रियोंके अधिष्ठाता ! वे कोई भगवानको नहीं जानते हैं ! देवताके पास सत्ता– संपत्ति– सुंदरता–सामर्थ्य–स्वर्ग– सुधा सबकुछ है, परंतु भोग है, इर्ष्या है, भक्ति नहीं है ! शरणागति भी स्वार्थसे करते हैं !

ऋषि तो मन्त्रदृष्टा होते हैं । समाधिमें मंत्रदर्शन करते हैं, परंतु भगवद्दर्शन नहीं होते हैं ! भगवानकी ज्ञानकलाके पूर्णावतार महर्षि व्यासजीको भी भक्त नारदजीके सत्त्संगके पश्चाद् ही भक्तियोग– प्रणिहित– अमल– मनमें ही भगवत्त्कृपासे भगव–ल्लीलाके दर्शन हुए । "भक्तियोगेन मनसि सम्यक्– प्रणिहितेऽमले अपश्यत्पुरुषं पूर्ण मायां च तदुपाश्रयाम्।।"– श्रीभागवत (१–७–४) । देव हो वा महर्षि, ज्ञान हो सकता है,– शास्त्रोंका वा बहुत तो अपनी आत्माका ! परमात्माका ज्ञान तो भक्तिसे ही होता है । भक्ति देव– महर्षियोंको भी दुर्लभ है, कृपैक– लभ्य है । उद्धवजीने श्रीगोपीजनसे कहा है,– "**भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा । भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा ।।**"– मुनियोंको दुर्लभ सर्वोत्तम

कृष्णभक्ति आपने भाग्यसे (कृपासे) प्रवर्तित की ! पुष्टि–भक्ति मार्गकी गुरु– आचार्य– है– श्रीगोपीजन !– "गोपी प्रेमकी ध्वजा !"

सबका आदि– "अहम्" :

"**न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।**"– (२)

न देव लोग जानते हैं– प्रभुके प्रादुर्भाव– प्रभावको, न महर्षिलोग ! क्योंकि सबको "**आदि**" है,– "**अहम्**" ! "**अहमादिर्दि देवानां महर्षिणां च सर्वशः ।**"– (२) सबका "**आदि**" तो "**अहं**" ही होता है ! "**अहं**" पहले समझमें आता है, बादमें "**मम**" । भाव जुडता है उसमें, हो जाती है– "**अहंता–ममता**"– यही है,– "**संसार**" ! वर्णमालामें "**अ**" से "ह" में सब वर्ण समाविष्ट हो जाते हैं ! "अहं" में सब भी समाविष्ट हो जाते हैं ! "**न हन्यते इति अहम्**" ।– जिसका विनाश नहीं होता है, वह– अहम् !– "**न हीयते इति अहम् । न जहाति इति अहम् । न हिनस्ति इति अहम् ।**" न छूटता है– न छोडता है,– अहम् ! "**अहं ब्रह्मास्मि**" में भी पैठके बैठ गया है– अहम् ! "**सोऽहम्**"– में भी घूस गया है– अहम् !" अशांति, अकूलामन, अनर्थ, अहंकार, अवरोध, उद्वेग कराता है– "**अहम्**" । भगवान् भी गीतामें कहते हैं– बारबार– "**अहम्**"!– यह तो अद्भुतलीला है ! फिर भी जीवोंको तो छोडनेका है– "**अहम्**" ! उपाय है– मात्र भगवानके साथ ही जोडनेका है– "**अहम्**" ।– "**दासोऽहम्**" ! से– शांति, सुख,

संमुखता, स्नेह, सेवा, सर्वार्थ, स्वकीयता– तब होते हैं, विकसित होते हैं, जब कृष्णने दिया हुआ "**अहं**"– पुनः कृष्णको आत्मनिवेदनसे निवेदित कर दें ! नहीं तो ज्ञानी– अज्ञानी– सबको पीसता है– पीडता है– "**अहम्**" ।

कोई भगवानको नहीं जानता है, कोई ज्ञानी नहीं है :

भगवान् कहते हैं,– देव– महर्षि– सबका सर्वशः आदिमें ही हूँ । आदिमें जो होता है उसको बादमें होनेवाले– बादमें हुए हैं वे– कैसे जान सकते हैं ?! "**न तं विदाय य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।**"– श्रुति कहती है,– जिसने यह सब उत्पन्न किया उसको तुम जानते नहीं हो, क्योंकि तुमको अंतर (सृष्टिका व्यवधान) हुआ है । सृष्टि व्यवधान– जवनिका– टेरा– रूप है, इसलिये सृष्टिमें उत्पन्न हुआ कोई भी, अपने अधिकार वा साधनादिसे, भगवानको जान सकता नहीं है । "**ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम् ।**" –श्रीभागवत (११–१९–३) तथा "**तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्विशिष्यते ।**"– श्रीगीताजी (७–१७)– ज्ञानी मेरा प्रियतम है,– आदि में तो भक्तिमिश्र,– "मैं जानता हूँ– मैं ज्ञानी हूँ"– ऐसा जो मानते हैं उनकी बुद्धिके अनुसार ही कहा है ! परमार्थतः तो कोई भी जानता नहीं है– भगवानको ! "**यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।**"– श्रुति कहती है,– जिसने नहीं जाना (सोचा) है, उसने जाना (सोचा) हैं; जिसने जाना (सोचा) है, वह नहीं जानता है।" "**वेदस्तुति**" में कहते हैं–,

"क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं
यत उदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये ।
तर्हि न सन्न चासदुभयं न च कालजवः
किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा ।।"–

–श्रीभागवत (१०–८७–२४)

इस जगतमें, खेदकी बात है कि, सर्वप्राणीयोंसे पहले ही सिद्ध आपको, आपके पिछे जिसके जन्म और लय है ऐसा कौन (व्यक्ति) जान सकता है ?! कोई भी नहीं ! जिससे ऋषि– (ब्रह्माजी)– उत्पन्न हुए हैं । जिस (ब्रह्माजी) के पीछे उभय देवगण उत्पन्न हुए हैं । जब भगवान् सबको आकृष्ट करके शयन करते हैं, तब सत् (कार्य) और असत् (कारण)– उभय भी नहीं होते हैं । मनः कालवेग भी नहीं होता है । अथवा इस समय वहाँ कोई भी शास्त्र (वेद– पुराणादि) नहीं होते हैं । कृष्णकृपाके बिना– कृष्णभक्तिके बिना– कौन जाननेको समर्थ है– कृष्णको ?!– कोई भी नहीं ।

भगवज्ज्ञालाभका एक फल :

कृतार्थता होती है,– कृष्णको जाननेसे ! महत्ता है,– भगवानकी, जिसके ज्ञानमात्रसे अभय– मोक्षादि मिलते हैं ! जिसके ज्ञानसे अभय मिलें, मोक्ष मिले, तो यह स्वयं कृष्ण ही मिले तो?! स्वयं कृष्णसे क्या नहीं मिले ? और क्या मिलना बाकी रह जाय ?!

"यो मामजमानादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।

असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥" (३)

जो मेरेको अज– (जन्मादि–दोष–रहित), अनादि– (आदि–रहित, लीलादिसे नित्य), फिरभी, लोकमहेश्वर (लोकमें सर्वत्र– सर्वदा– नियंता, करने– न करने– अन्यथा करनेको समर्थ), (सर्वोद्धारार्थ प्रकट हुआ), जानता है, वह मनुष्योंमें असंमूढ (प्रमाद– रहित) सर्वपापों (भक्तिप्रतिबंध)से छूटता है,– जीवभावसे छूटकर भगवद्भाववाला होता है ।

भगवानका लीलानुरुप विविधभाव प्रदानः

विश्वलीलामें सबकुछ उपयोगी है :

१. **बुद्धि**– धर्म– ज्ञान– कुशलता, २. **ज्ञान**– स्वरूपात्मक, ३. **असंमोह**– मायाविलासादिमें मोह न होना, ४. **क्षमा**– दुष्टादि–कृतिमें सहिष्णुता, ५. **सत्य**– आपत्तिमें भी यथार्थ– भाषण, ६. **दम**– इन्द्रियसंयम, ७. **शम**– परमानंदप्राप्ति रूपा (मनः) शांति, ८. **सुख** – भगवद्भावानंदरूप ९. **दुःख**– आनंदतिरोधान, १०. **भव**– संसार, ११. **अभाव**– नाश, १२. **भय**– मृत्युकालादिका, १३. **अभय**– भगवच्चरणप्राप्तिसे कालादिभयका अभाव, १४. **अहिंसा**– दयारूपा, १५. **समता**– सर्वत्र भगवद्भाव, १६. **तुष्टि**– सदा भगवद्भावसे संतोष, १७. **तपः**– भगवदर्थ–क्लेश सहन, १८. **दान**– भगवदुपदेशादिका, १९. **यशः**– भगवानके सेवकरूपसे कीर्ति, २०. **अयशः**– दुष्टादिलक्षणा अपकीर्ति; यह सब पृथक्भाव प्रभुसे ही प्रकट होते हैं । भगवत्कृपा– पात्रोंको तो बुद्धि– ज्ञानादि उत्तमभाव

मिलते हैं । औरोंको– सामान्योंकों– तो सामान्यतः कर्मानुगुण,– भव–अभावादि सामान्यभाव मिलते हैं । भगवान् अपनी विश्वलीलामें सबको यथोचित भावका प्रदान करते हैं । विश्वमें, विश्व घटनाओंमें, इनमेंसे कुछ भी दिखाई दे, तो उसमें व्यक्ति–परिस्थितिके गुण– दोष नहीं है, भगवानकी ही ऐसी लीला है। कुछ निकम्मा– अयोग्य नहीं है । सब विश्वलीलामें उपयोगी है !

सप्तर्षि, चार सनत्कुमार, चौदह मनु, भगवानके हिरण्यगर्भ– स्वरूपके मनसे लीलानुकूल उत्पन्न हुए हैं । जिनकी प्रजा लोकमें हैं । सब भगवानसे ही होते हैं, सब लीला है ।

भगवानकी विभूति और योग :

भगवानकी यह विभूति और योग जो तत्त्वतः जनाता है, "**अविकम्प– योग**"– युक्त होता है । "**एतां विभूतिं योगं च –।**" (७), यहाँ "**विभूति**" और "**योग**" दोनों कहते हैं । काष्ठमें अग्निका होना यह "**योग**" है; काष्ठमें प्रदीप्त– अग्नि प्रकट होता है– वह "**विभूति**" है । "**विभूति**" है– ऐश्वर्य, भगवानकी महिमा– समृद्धि– विभव ! सच्चिदानंदरूप भगवान् स्वेच्छासे लीलार्थ विश्वात्मक होते हैं, विश्वमें कहीं सत्– चित्– आनंदकी विशेषता प्रकट कर देते हैं । कहीं सत्की, कहीं चित्की, कहीं आनंदकी, कहीं सत्– चित्– आनंद– की, विशेषता आप प्रकट करते हैं । यह विशेषता ही सच्चिदानंदरूप भगवान्

श्रीकृष्णकी विभूति है, ऐश्वर्य है, समृद्धि है, वैभव है । सबके आधार है, योजक है– कृष्ण !

प्रत्येक शरीरमें भिन्न भिन्न जीव और अंतर्यामी– रुपमें भी भगवान् ही है :

“अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्व मध्यं च भूतानामंत एव च ।”– (२०)

हे गुडाकेश ! (मोहनिद्राका स्वामिन् ! हे जितनिद्र !) मैं सर्वप्राणीओके हृदयमें रही हुई आत्मा हूँ और मैं ही भूतोंका आदि और मध्य और अंत (भी) हूँ ।

यहाँ भगवान् “**आत्मा**”– शब्दसे जीव और अंतर्यामी दोनोंका ही र्निर्देश करते हैं । “**गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात।**” ब्र. सू. (१–२–११) गुहा– हृदयकाशमें, एकमें ही, एक साथमें ही, जीव– परमात्मा प्रविष्ट हैं,– “**गुहां प्रविष्टौ।**”– ऐसा श्रुतिमें दर्शन होनेसे निश्चित है । प्रतिशरीर (हृदयमें) जीव भिन्न होता है, साथमें अंतर्यामी भी भिन्न होता है । “आत्मा”– जीव; “**सर्वभूताशयस्थितः**”– अंतर्यामी, परमात्मा, सर्वात्मा जीव– भगवानका चिदंश है । उसमें सत्– चित् प्रकट है, आनंद तिरोहित है । अंतर्यामी– भगवान्– सच्चिदानंदका रूप है ।

भूतमात्रके आदि– मध्य– अंतमें होता है– सत् :

भूत– (जड– चेतन– पदार्थ)के– आदिमें– मध्यमें– अंतमें– जो होता है, वह सत् है । श्रीभागवतमें है,–

“यदुपादाय पूर्वस्तु भावो विकुरुरुते ऽपरम् ।
आदिरन्तो यदा यस्य तत् सत्यमभिधीयते ।”–

(११–२४–१८)

आदिमें जिस ब्रह्मकी उपादान– कारणतासे जो पदार्थ प्रकट हुआ (प्रकृति), वह बादके अन्य पदार्थको (महत्तत्त्वको) प्रकट करता है । वह (ब्रह्म)ही आदि– अंतमें रहता है । इसलिये ब्रह्मको “**सत्य**” कहते हैं । “**ब्रह्मणो नाम सत्यमिति**”– श्रुति है,– ब्रह्मका नाम सत्य है । उत्त्पत्ति, स्थिति, और लयके कर्ताका श्रुतिमें ऐसा निर्वचन है,– व्युपत्ति बताई है । किसी भी पदार्थकी, कोई भी अवस्थामें, “**सत्ता**”– (अस्तित्त्व, होनेका भाव) ब्रह्मके “**सद्**”– रूपसे है । वह ब्रह्मके साथ अनन्य है । जगतके सर्वपदार्थोमें, सर्वावस्थामें, ब्रह्मका “**सद्**”– धर्मका बाध नहीं होता है । “**नाम– रुप**”– ब्रह्मके कार्य है, वह जगद्रूप है; क्योंकि “**अस्ति– भाति– प्रियं**”– (सच्चिदानंद– ब्रह्म)का उसमें समन्वय है । “**तत्तु समन्वयात् ।**” ब्र. सू. (६–१–३) में स्पष्ट है ।

“सच्चिदानंदरुपाय विश्वोत्यत्त्यादिहेतवे ।
तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः ।।”–

श्री भा. मा. पद्म. पु. (१–१)

सद्– चिद्– आनंदरूप, विश्वके उत्त्पत्ति– आदि (स्थिति– लय)के कारण, आधिभौतिक (तन– भूत – संबंधी)– आध्यात्मिक (इन्द्रिय– अंतःकरण– संबंधी),– आधिदैविक

(दिव–देव– दैव– संबंधी) त्रिविध दुःखके विनाशरूप, साकार– स्वरूप,– स्वभावसे सर्वसुंदर,– स्वयं भगवान् कृष्णके लिये हम स्तुति करते हैं। कृष्णकी स्तुति नहीं है, कृष्णसे कुछ चाहते नहीं हैं, कृष्णके लिये ही स्तुति है । कुछ स्वार्थसे गुणगानादि करना वह तो प्रार्थना है। स्तुति स्नेहसे, कोई स्वार्थ–रहित, होती है। पुष्टिभक्तिमार्गमें तो प्रार्थना प्रभुकि भी करनेका निषेध है ।

सत्– चित्– आनंदरूप भगवान् विश्वरूप होते हैं। सबकुछ वस्तु, प्रत्येक पदार्थ, यही सत्– चित्– आनंदका अंश ही होता है; परंतु कहीं कुछ विशेषता प्रकट करते हैं– प्रभु– स्वलीलाके लिये तथा लोगोंके त्रिविध– संताप– दूर करनेके लिये भी ! यहाँ, विभूति और योग दोनों करते है– सर्वसमर्थ भगवान् ! इस परिज्ञानसे सर्वत्र सच्चिदानंदरूप भगवान् ही ज्ञात होते हैं, अनुसंधान भगवानका ही बना रहता है ! यह महात्म्यज्ञानसे सुदृढ– सर्वाधिक– स्नेह भगवानमें होता है, यही भक्ति है। पदार्थोंके दुरुपयोगसे भगवदवज्ञाका भी भय होता है। भक्तिसे जीवन– व्यवहार भगवदीय हो जाता है। "**यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं ।**"– (४१) (जो जो विभूतिवाला सत्त्व है ।) तथा "**एकांशेन स्थितो जगत् ।**"– (४२) (एकांशसे जगद्रुपसे रहा हूँ ।) में, भगवानकी यह विभूतिलीला स्पष्ट है ।

विभूति और योगसे– अविलंपयोग :

जो विभूति और योगसे **तत्त्वतः (यावान्, यः, यादृशः)**– (जितना, जो, जैसा है) ऐसे भगवानको जानता है, उसको सिद्ध होता है,– "**अविकम्पयोग**" । "**सोSविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ।**"– (७)– भगवानमें उसकी बुद्धि, सर्वत्र भगवदनुसंधानसे, निश्चल रहती है ! चलित– कंपित– अस्थिर– बुद्धि उसकी रहती नहीं;– होती भी नहीं ! भगवानका सर्वत्र अनुभव– संयोग इस रूपसे उसको होता है । सृष्टिकी सुंदरता– उत्तमताको वह स्वभोग्य नहीं भगवद्योग्य जानता है। प्रकृतिको देखकर उसमें विकृति नहीं आती !– बुद्धि– मन डिग नहीं जाते !– कंपित– चंचल नहीं होते ! स्थिरता– निष्ठा हो जाती है– उसकी– भगवानमें !

मैं (कृष्ण)ही सर्व– जगत्का उत्पत्ति– स्थान हूँ । मेरे (कृष्ण)से ही "**बुद्धि– ज्ञानादि**"– सर्व प्रवर्तित– प्रेरित– संचालित होता है । इस प्रकारसे, समझके, शास्त्र विवेकयुक्त, भावसमन्वित, भक्तलोग, यह विश्वलीलाके लिये प्रकट हुए मेरेको भजते हैं,– सेवा करते हैं । "**भज सेवायाम्**"– धातुपाठ है। मेरेमें चित्तवाले (लीला– चिंतनपरायण), मेरेमें स्थित प्राणवाले (इन्द्रिय भी प्राण हैं। इससे देहेन्द्रियप्राणादि भगवानको समर्पित करके, सपरिवार) "ब्रह्म–संबंध"– पूर्वक, कृष्णसेवा करते हुए,– भगवदर्थ ही जीनेवाले) भक्त, परस्पर यह लीलाका स्वानुभवसे बोध कराते हुए, कहते हुए, सुनते हुए, स्मरते हुए, नित्य संतुष्ट होते हैं, आनन्दको प्राप्त करते हैं । सेवादिका आडंबर– प्रदर्शन नहीं करते हैं ।

प्रीतिसे भजनेवालोको भगवान् देते हैं– बुद्धियोग :

“तेषांमं सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।”– (१०)

इस प्रकार, नित्य परस्पर भगवल्लीलाका चिंतन– श्रवण–कीर्तन–स्मरण– करते हुए, निरंतर कृष्णकृपा– विशिष्ट भक्तोंको, प्रीतिपूर्वक– उद्वेगरहित– भजनेवालोंको मैं (कृष्ण) “बुद्धियोग” देता हूँ । बुद्धि तो प्रायः सबको कर्मानुसारिणी हरीच्छासे मिलती है । बुद्धियोग तो भगवान् देते हैं ! प्रदान है वह तो ! जो बुद्धि भगवानसे ही लगी रहे, अन्यत्र न जाय, भगवानसे योग करे, वह बुद्धियोग है । भोग स्वयं करे, यह बुद्धि ! भोग भगवानको धरे, यह– बुद्धियोग ! सब सफलतामें अपनी महत्ता माने,– यह बुद्धि ! भगवानकी कृपा– महिमा– माने, यह– बुद्धियोग! अन्यके गुणदोष देखे– यह– बुद्धि ! अपने दोष, सबके गुण,, भगवानकी कृपा देखे, यह– बुद्धियोग ! ऐसे भक्तकी बुद्धि भगवद्‌विषयमें ही चलती है, होती है, भगवन्मार्ग ही स्फुरित होता है,– प्रभु उसके बुद्धिप्रेरक हो जाते हैं । बुद्धियोग–भगवत्स्वरूपानुभवके (भक्तिमार्मीय) उपाय– भगवान् देते हैं। जिससे यह भक्त निर्विघ्नतासे भगवानकी निकटमें पहूँच जाते हैं । निर्गुणमुक्ति वा लीलानुभव, यथाधिकार मिलता है ।, स्वस्वरूपानुभूति– अपरोक्षानुभूति तो उनके लिये तुच्छ है ।

ज्ञानदीपसे भगवान् ही अपने भक्तोंके अज्ञान को नष्ट कर देते हैं :

“तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।।”– (११)

उन भक्तोंके पर ही, अनुकंपाके लिये (क्लेशादि बाध न करें इसलिये), आत्मीय– आत्माके– भाव– रूपमें रहे हुए भगवान्, तेजस्वी ज्ञानदीपसे अज्ञानजन्य अंधकाररूप संसार को नष्ट कर देते हैं । स्वयं भगवान् ज्ञान देते हैं– स्वकीय भक्तोंको! प्रयत्न भक्तको नहीं करना पडता है ! ज्ञानदान– ज्ञानप्रकाश–प्रकाशावरणभंग– सब कुछ भगवान् ही कर लेते हैं, अपने भक्तोंके लिये तो ! अविद्या– अज्ञाननाश– संसारसंतापशान्ति भी स्वयं भगवान् करते हैं,– भक्तोंके लिये तो ! “**नाशयामि**”– “मैं नाश करता हूँ”– स्पष्ट कहते हैं । भक्तकार्य भगवान् स्वयं कर लें, यह तो पुष्टि है ! “**आत्मभावस्थः**” भगवान् है– अपने दर्शन अपने आप करा देते हैं । आत्मदर्शन– स्वस्वरूपानुभूति, परमात्मदर्शन– भगवत्स्वरूपानुभूति, भी केवल कृपासे ही भक्तोंको तो करा देते हैं– भगवान् स्वयम् ! मर्यादा– मार्गीयोंको साधन भी कराते हैं– भगवान् ! स्वतः तो कोई कुछ नहीं कर सकता है । पुष्टिभक्तोंकी तो सब अविद्या स्वयं भगवान् ही दूर कर देते हैं । पूतनामोक्षलीला कृष्ण ही करते हैं । अविद्या है– पूतना ! व्रजभक्तोंकी अविद्या तो श्रीकृष्णने ही दूर कर दी है– पूतनाको मारके ! अज्ञान निःसाधन व्रजबासी तो कहां जानते

थे– राक्षसी– पूतना– अविद्या है, ऐसा कुछ भी ! सर्वज्ञ कृष्ण जानते थे, उन्होंने ही भक्तकार्य कर लिया, भक्तोंका अज्ञान स्वतः निकाल दिया ! न भक्तोंने चाहा था, कहा था, जाना था, यत्न किया था ! "**नाशयामि**"– "नष्ट करता हूँ"– शब्द कितना लीलानिर्देशक है ?! भगवान् आत्मीयता करते हैं– स्वभक्तोंके साथ !– निःसाधनजनोंके साथ ! अरे ! स्वगति न जाननेवाले, ब्रजवासियोंको महाकारुणिक कृष्ण स्वधाम– "**ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्**" में, स्वयं साधन बनके, ले गये ! फलरूप– कृष्ण! हो गये– साधनरूप !– निःसाधन स्वजनोंके लिये ! कृष्ण–कृपा क्या नहीं करती ?! पुष्टि तो पोषण है,– स्वभक्तोंका विशेषतः ! स्वभक्तोंके लिये स्वयं भगवान् ही वहन करते हैं– सर्वयोगक्षेम !

अर्जुनने यह प्रत्यक्ष– प्रकट– परब्रह्मका अनुभव करते हुए स्पष्ट कहा,– "**परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् !**"– (१२). स्वभक्तोंके लिये तो परब्रह्म भी स्वयं ही प्रत्यक्ष–अनुभवका विषय– (स्वेच्छासे– स्वकृपासे) हो जाता है । यही कृष्ण मायाशबल– ईश्वर– सगुण– अवतार– नहीं है ।– श्रीकृष्ण तो निर्गुण– स्वयं भगवान्– परब्रह्म– परमात्मा–पुरुषोत्तम है । अक्षरात्मक– "**परंधाम**"– कृष्णका धाम है, पवित्र– अभयप्रद (पवि– वज्र– भयसे, त्राण करनेवाला) है, सर्वश्रेष्ठ अक्षरसे पर है ।

"**पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्** ।।"– (१२) पुरुषोत्तम, नित्य, **दशलीला– विशिष्ट (दिवु क्रीडा–वि–**

जिगीषा– व्यवहार– द्युति– स्तुति– मद– मोद– स्वप्न– कान्ति– गतिषु– धातुपाठ है), मूलरूप, जन्मरहित, सर्वसमर्थ, है– श्रीकृष्ण !

"सब ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यासजी कहते हैं, स्वयं आप भी कहते हैं । मैं सत्य मानता हूँ । आप ही आपको जानते हो, न देव– न दानव– आपकी व्यक्ति– अभिव्यक्ति–स्वरूप– प्राकट्यको जानते हैं । आपकी दिव्य विभूति, जिससे यह सब लोकमें व्याप्त होकर आप बिराजते हैं,– यह कहनेकी कृपा करें । सदा आपका परिचिंतन करता हुआ मैं आपको कैसे जानूँ ? कौन कौन पदार्थोंमें कैसे चिन्तनीय हो– आप ? विस्तारसे आपका योग और विभूति पुनः कहें । आपके वचनामृत– पानसे तृप्ति नहीं होती है ।"

"**भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नाऽस्ति मेऽमृतम्।।**"– (१८)

भगवानने दिव्य– **स्वविभूतियाँ** मुख्यरूपसे कही । सत्– चित्– आनन्द– रूपसे सर्वत्र अपना "**योग**" भगवानने कहा।– "**अहमात्मा गुडाकेश ।**"– (२०) हृदयस्थ जीव– अंतर्यामी रूपमें भी प्रभु ही है । इससे विषयानंदसे लेकर ब्रह्मानन्द तकके आनन्दका अनुभव होता है । इस तरहसे, सर्वत्र भगवद्– योग चिन्तनीय है । भगवानने अपने योगके साथ अपनी (महिमा)– विभूति– (विभव–विशेषता) भी सत्– चित्– आनंदमेंसे एककी मुख्यतासे प्रकट दिखाई है । है तो– सबकी भगवद्रूपतासे सब सच्चिादानन्दरूप ! परंतु लीलाविशेषतासे सबमें सच्चिदानन्द

होते हुए भी एकका मुख्यतासे अनुभव– (प्राकट्य– आविर्भाव) होता है। बाकीके गौण (अदृश्य– तिरोहित) रहते हैं। प्राचीनकालसे चली आती हुई विविध देवताओंकी पूजा– उत्सवादि "मह"– नामसे प्रसिद्ध थे। ऐसे देवताओंका संकलन नारायणमें है– नारायणके अंगसे ही सब देवता प्रकट होती हैं।– "**देवा नारायणांगजाः ।**"– श्रीभागवत (२–५–१५) और नारायण कृष्णके अंश है।– "**एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।**" श्रीभागवत (१–३–२८). इस तरहसे भी सब देवी–देवता– शक्ति– उत्तमता– सबकुछ कृष्णका ही वैभव–विभूतियाँ– है। यथामति विभाग संक्षेपमें दिखानेका यत्न करते हैं,–

भगवद्–विभूति :– सत् – चित् – आनन्द– रुप ।

अनु. संख्या	सत्की मुख्यता	चित्की मुख्यता	आनंदकी मुख्यता	सच्चिदानन्दकी मुख्यता
१.				आदित्योंमे विष्णु
२.		प्रकाशित पदार्थोंमें सूर्य		
३.		वायुदेवतामें मरीचि		
४.			नक्षत्रोंमें चन्द्र	
५.				वेदोंमें सामवेद
६.			देवामें इन्द्र	
७.	इन्द्रियोंमें मन			
८.		प्राणीयोंमें चेतनशक्ति		
९.				रूद्रोंमें शंकर
१०.		यक्ष–राक्षसोंमें कुबेर		

अनु. संख्या	सत्की मुख्यता	चित्की मुख्यता	आनंदकी मुख्यता	सच्चिदानन्दकी मुख्यता
११.		वसुओंमें पावक		
१२.	पर्वतोंमें मेरू			
१३.		पुरोहितोंमें बृहस्पति		
१४.		सेनापतियोंमें स्कन्द		
१५.	सरोवरोंमें सागर			
१६.			महर्षियोंमें भृगु	
१७.				वाणीमें ओउम्
१८.			यज्ञोंमें जपयज्ञ	
१९.	स्थावरों(अचलो)में हिमालय			
२०.		सर्ववृक्षोंमें पिपल		

अनु. संख्या	सत्की मुख्यता	चित्की मुख्यता	आनंदकी मुख्यता	सच्चिदानन्दकी मुख्यता
२१.				देवर्षियोंमें नारद
२२.		गंधर्वोमें चित्ररथ		
२३.				सिद्धोंमें कपिल
२४.		अश्वोंमें उच्चैश्रवा		
२५.		गजेन्द्रोमें ऐरावत		
२६.		मानवोंमें राज		
२७.	आयुधोंमें वज्र			
२८.			गायोंमें कामधेनु	
२९.			प्रजेत्पादकोमें कामदेव	
३०.		सर्पोमें वासुकि		
३१.				नागोंमें शेषनाग

अनु. संख्या	सत्की मुख्यता	चित्की मुख्यता	आनंदकी मुख्यता	सच्चिदानन्दकी मुख्यता
३२.		जलचरोंमें वरूण		
३३.		पितृओंमें अर्यमा		
३४.		शासकोमें यम		
३५.			दैत्योमें प्रह्लाद	
३६.				गिनती करनेवालोंमें काल
३७.		पशुओं–मृगोंमें सिंह		
३८.				पक्षियोंमें गरुड
३९.	वेगवालोंमें पवन			
४०.				शस्त्रधारियोंमें राम
४१.				नदीयोंमें गंगाजी

अनु. संख्या	सत्की मुख्यता	चित्की मुख्यता	आनंदकी मुख्यता	सच्चिदानन्दकी मुख्यता
४२.	(जड) सृष्टिमें आदि–मध्य–अंत			
४३.		विद्याओंमें अध्यात्मविद्या		
४४.		विवाद–करनेवालोंमें वाद		
४५.				अक्षरोंमें अकार
४६.		समासोंमें द्वन्द्व		
४७.				अक्षय–काल
४८.				विराट्–स्वरूप पोषक

अनु. संख्या	सत्की मुख्यता	चित्की मुख्यता	आनंदकी मुख्यता	सच्चिदानन्दकी मुख्यता
४९.		सर्वहर–मृत्यु		
५०.		उत्पन्नहोनेवालोंमें उद्भव (कारण)		
५१.			स्त्रीओंमें कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेघा, धैर्य, क्षमा	
५२.				सामवेदमें बृहत्साम
५३.				छंदोमें गायत्री
५४.				मासोंमें मार्गशीर्ष
५५.				ऋतुओंमें वसन्त
५६.		छलकरनेवालोंमें द्युत		
५७.		तेजस्वियोंमें तेजः		

अनु. संख्या	सत्की मुख्यता	चित्की मुख्यता	आनंदकी मुख्यता	सच्चिदानन्दकी मुख्यता
५८.			जितनेवालोंमें विजय	
५९.		निश्चयवालोंमें निश्चय		
६०.			सात्त्विकोंमें सत्त्व	
६१.				यादवोंमें कृष्ण
६२.			पांडवोंमें अर्जुन	
६३.				मुनियोंमें व्यासजी
६४.		कवियोंमें शुक्राचार्य		
६५.		दंड देनेवालोंमें दंड		
६६.			जय चाहनेवालोंमें नीति	
६७.		गुप्तभावोंमें मौन		
६८.		ज्ञानियों में ज्ञानशक्ति		

६९. सब जड – चेतन – सर्वभूत – बीजदि – रूपमें भगवान् ही है । अनंत भगवान् ! अनंत विभूति ! यहां तो संक्षिप्त ही गिनाई है ।

"यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ।।" (४१)

जो जो वस्तु–मात्र **"विभूतिमत्"** ऐश्वर्य युक्त, **"श्रीमत्"** – संपत्ति–शोभायुक्त, **"उर्जित"** – बल– प्रताप– युक्त–उत्कृष्ट, रमणीय है,– वे सब भी मेरे तेजके अंशमेंसे हुइ है, मेरे प्रभावसे युक्त है । यह जान !

यह बहुत ज्ञानसे भी क्या ? **"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।"** (४२)

यह दिखाइ देता हुआ संपूर्ण जगत् एकांश मात्रसे धारण करके मैं स्थित् हूँ – बिराजमान हूँ। एक ही अंशमें सब सन्निविष्ट हो जाय तो महाविभूति– ब्रह्मकी तो कल्पना भी कौन–कैसे कर सके ?! विभूति– ज्ञानसे सृष्टिके प्रति आदर–आनंद आत्मीयता – अनुभूत होते हैं । भगवानकी महिमा ज्ञात होनेसे भक्ति होती है । सब ही भगवानकी लीलारूप ही है !

"प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः– महाविभूति ब्रह्म प्रसन्न हो।"

–श्रीमद्‌भागवत (८–५–३२–३३)

अध्याय – ११ : विश्वरूपदर्शनयोग : श्लोक – ५५.

प्रेम देते हैं – प्रभु : प्रेममें फँसते भी हैं :

भक्तभिलाषाचरितानुसारी है – भगवान् ! सर्वतंत्र – स्वतंत्र

होते हुए भी भक्तप्रेम–परतन्त्र हैं– भगवान् । लोक–वेद मर्यादा तो ठीक, स्वयं ब्रह्मस्वरूप–मर्यादा भी छोडके भक्ताभिलाषानुसरण करते हैं भगवान् । वह रमणीयचरण, सर्वजन शरण कृष्ण हैं– स्वयं भगवान् । सर्वसमर्थ होने पर भी, स्वेच्छास सबकुछ करते हैं – भगवान् । यह तो पुष्टि है। प्रेम देते हैं – प्रभु ! दिये हुए प्रेममें फँसते हैं भी प्रभु । फँसाते है भक्तको ! फँसते हैं भगवान् ! अर्जुन तो मर्यादा–पुष्टिमें है ! इसके लिये यहाँ मर्यादा–मुख्य, पुष्टि–गौण । फिर भी पुष्टि है तो प्रभु– स्ववशता प्रकट करते हैं । **"सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।"** (१–२१) अर्जुनने दोनों सेनाओंके बीचमें रथ ले जाकर खडा रखनेको कृष्णको कहा । सारथि कृष्णने रथी अर्जुनकी इच्छानुसार कर ही दिया । न कहते हैं कुछ ! न अन्यथा करते हैं कुछ । **"शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्"** (२–७) शिष्य हो गया– अर्जुन, तो गुरु बन गये – कृष्ण ! भक्तेच्छा पूरक हैं – भगवान् । अर्जुनने जहाँ जहाँ उत्कंठासे प्रश्न पूछे – **"बुद्धिं मोहयसीवमे"** (३–२) कहा "मेरी बुद्धिको मोहित करते हुए लगते हो ।"– कृष्णने तहाँ तहाँ आत्मीयतासे उत्तर दिये । भक्तानुकूल है – भगवान् ! अर्जुन अब विभूति–योगमें विभूतियोंका श्रवण करके, उनका यथार्थ दर्शन चाहता है । चाहना भक्ताका, चरित–भगवान्का ! महाविभूति ब्रह्मने प्रकट बताई यथास्थित यथार्थ विभूतियाँ । विभूतियोगमें परोक्षज्ञान् कराया, विश्वरूप दर्शन–योगमें प्रत्यक्ष–भान कराया ! जैसे आज विद्यार्थी अपने वर्गमें विज्ञान–ग्रंथ

– सिद्धांत पढता है, तो उसका ही प्रयोग प्रयोगशालामें प्रत्यक्ष देखता है ! सिद्ध होता है – सिद्धांत ! विभुने विभूति कही, सर्वकी ब्रह्मरूपताका सिद्धांत, स्वमहिमा बताया ! विभुने विश्वरूपदर्शन कराये, ब्रह्मकी जगद्रूपता, जगतकी ब्रह्मसे अनन्यता, इससे ही जगत्‌की सत्यता बताई । सिद्धांत–सिद्ध बता दिया । विभूति है – भगवा्की ऐश्वर्य शोभा, वैभव, महिमा ! योग है – भगवानकी कुशलता, सर्वाधाररूपता ! सर्वमहिमा – सर्वसुंदरता प्रकट करनेकी तथा उनके आधार बननेकी कुशलता है– कलानिधि कृष्णमें !

गुरु–शिष्यकी एक सफलता– मोहनाश :

अर्जुनने अभिनन्दन नहीं, वंदन नहीं, स्वहृदय प्रभुको दे दिया । शिष्यको जीवनमें स्वोपयोगी मिल जाने पर, उल्लाससे हृदय उमडता है । अनुभूत होता है – “मेरे लिये ही कहा । मेरे पर कृपाकी । मेरा मोह गया । मेरा काम हो गया । मैं कृतार्थ हो गया” गुरुके प्रति शिष्यकी स्नेह–सन्निष्ठा है, शिष्यके प्रति वात्सल्य है । इससे गुरु–शिष्य दोनोंकी सफलता है। इनमें व्यर्थ बातें नहीं, “गुरु–चेला दोनों लालची दोनो खेले दाव” – जैसी स्थिति है नहीं, “**अहो रूपं अहो ध्वनिः**” – जैसी परस्पर प्रशस्ति नहीं, परंतु “**गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्**” (१) तथा “**माहात्म्यमपि चाव्र्ययम्**” (२) गुह्य– अध्यात्मज्ञान एवं अव्यय– माहात्म्य– ज्ञानसे मोहनाश तथा अनुग्रह ही होता है। काम–क्रोध– लोभ तो नरक द्वार है । कामका अंत भूख–प्याससे और क्रोधका अंत फलोदय (परिणाम) से होता है, परंतु लोभका

तो अन्त दिखता नहीं है । अंततः तो नरक ही होता है ।

असंकल्पसे कामको, कामत्यागसे क्रोधको तथा अर्थ ही अनर्थका मूल कारण है,– यह विचारसे लोभको जित तो सकते हैं, परंतु काफी कठिन होता है । नरकमेंसे तो कर्मफल भोगके बाद छूटकारा भी होता है । मोहमेंसे तो कभी छुटकारा नहि होता है । गुरुकृपासे ही मोहमेंसे छूटकारा होता है । अर्जुनने यहाँ, “**मोहोऽयंविगतो मम**”– (१)– कहा है । “मेरा यह मोह गया ।” तथा “**नष्टोमोहः–**” (१८–७३) “मेरा मोह नष्ट हुआ” – कहा है । गुरुकृपा हो गई है, – मोह गया है । “**अहं सर्वस्य प्रभवः।**” – (मैं सबका उद्‌भव हूँ (१०–८)से गुह्य – अध्यात्म बताया, सर्वकी ब्रह्मरूपता बताई । “**एकांशेन स्थितो जगत्।**” (१०–४२) (ब्रह्म एकांशसे जगतरूपसे स्थित है)–से माहात्म्य–ज्ञान भी करा दिया । जड – चेतन सभीके उत्पति – स्थिति – लय भगवान्‌से ही होते हैं । लीला है – भगवानकी ! “**कमलपत्राक्ष**” (२)– कमलपत्र जैसे नेत्रवाले – है भगवन्, –कमल– कोमल,– सुन्दर, शीतल, सुगंधी, रससहित होता है। भगवानके कमलपत्र जैसे नेत्र भगवानके स्वरूपकी – स्वभावकी – लीलाकी कोमलता – सुन्दरता – (संताप–शामक)– शीतलता– (स्नेहरूप– दिव्य सद्‌गुण रूप) सुगंधितता तथा रसपूर्णताके सूचक है । विश्वकी उत्त्पति– स्थिति–लय भी लीला है, कोमल है, सरस है, शीतल है, सुन्दर है । जगत् और जगतमें जे कुछ भी हो रहा है, घटनाएँ घट रही है, चाहे वे अनुकूल हो या प्रतिकूल, चाहे आनंदप्रद हो या उद्वेग कराती

हो, है तो एसी ही लीला !– कोमल करुणालु – कृष्णकी ! उनको प्रसंग वा घटना समझनेसे मोह होता है, लीला समझनेसे मोह जाता है । कृपा होती है – कृष्णकी !– कृष्णको बतानेवाले – गुरुकी । जो गुरु भगवान् तथा महिमाका ज्ञान देकर, अज्ञानके अंधकारमेंसे प्रकाश, मार्ग, गति, सतीमति (स्थिरबुद्धि)– रति–पति दे देते हैं ।

विनम्र शिष्य अर्जुनकी विभूतियोगयुक्त– स्वरूपके दर्शन की विनती : योगेश्वरकी कृपा :

भगवानने जो विभूति–योग स्वरूप–वर्णन किया, उससे युक्त दर्शनकी इच्छा अर्जुनने की । "**द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम् ।**" (३) स्वतः भगवानने अपने आप नहीं दर्शन करा दिये हैं । भक्तेच्छापूर्ति की है – भगवाने तो ! परंतु भक्तने भी दुराग्रह वा आग्रह नहीं रखा है, अनुग्रह ही चाहा है, – "**मन्यसे यदि तच्छक्यम्**" (४)– "अगर शक्य मानते हो तों"– कहा है । "**दर्शयात्मानमव्ययम्**" (४)– अव्यय –(अविनाशी– अविकृत – अप्राकृत) स्वरूपके दर्शन करावें । स्वरूप अव्यय है – भगवानका ! माहात्म्य भी अव्यय है – भगवानका ! "**योगेश्वर**" – अर्जुनने कृष्णको कहा । कर्म–ज्ञान– भक्ति ये तीनों योगके इश्वर– नियामक – फलदाता कृष्ण ही है । काल–कर्म – स्वभाव – अपूर्व– अदृष्ट– देवी– देवतादि– अन्य कोई भी, कुछ भी फलको स्वतंत्रतया नहीं दे सकते हैं । भगवानने दिये हुए फल यथाधिकार वे सब देते हैं । फलदाता तो हैं मात्र – भगवान् ही । योगके इश्वर होनेसे भगवान् तीनों योगोके फल

कर्मानुसार– यथाधिकार– देते हैं, अथवा स्वसामर्थ्यसे, स्वतंत्रतासे, स्वेच्छानुसार देते हैं । कर्म– ज्ञान– भक्तिसे जो फल– भगवत्स्वरूप– दर्शन– नहीं मिलता है, वह भगवान् स्वकृपासे दे देते हैं । यह पुष्टि है । "**स्वरूपबलेन स्वप्रापणं पुष्टिः**" अणुभाष्य– (३–३–२९)– भगवान् अपने ही स्वरूप (प्रमेय) बलसे किसी भी जीवको अपनी प्राप्ति करा दे, यह है – पुष्टि ! इसमें जीवकी पात्रता – साधनादि अपेक्षित नहीं है – इच्छा भी नहीं । भगवान् अपने आप ही मिल जाते हैं – आप चाहें, पसंद करें, – वरण करें– उसको !

भगवान् स्वेच्छासे ही मिले – पुष्टि :

प्रसिद्ध प्रसंग है, – अकबर बादशाहने बिरबलसे पूछा, – "साहब (भगवान्) कैसे मिले?" बीरबल तीव्र बुद्धिशाली तो था, परंतु भगवान् तो बुद्धिसे पर है । तो बुद्धिसे कैसे भगवानको जान सके ? बीरबल स्तब्ध हो गया । उत्तर देनेके लिये समय मांगा । बादशाहने तीन दिन दिये, सच्चा उत्तर न दे तो मार देनेको कहा । बीरबल त्रस्त हो गया । उत्तर नहीं मिला ! खिन्न हो गया । घरमें बच्चोंने बताया, – "आप तो हमको कहते थे, कभी भी उत्तर न मिले तो अपने गरुजीसे पूछना चाहिये । गुरु ज्ञान देते हैं, अज्ञान दूर करते हैं ।" सुनते ही भान हो गया। बीरबल दौडा अपने गुरुजीके पास । गोकुलमें बिराजते थे उसके गुरु– महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके समर्थ द्वितीय पुत्ररत्न श्री विट्ठलानाथजी । अकबरने आपको गोकुलमें गायें चरानेकी सनद दी थी । इसलिये "गोस्वामी" कहते थे उनको!

अपभ्रंश हो गया– "गुसांई" । श्रीगुसांईजीने बात सुनी । उत्तरके लिये बादशाहको भेजनेको कहा । बादशाह श्रीगुसांईजीका बहुत संमान करता था, न्यायाधीश– पद भी दिया था । वहां बीरबलने संदेश कहनेसे बादशाह गोकुल आया । अकबर विचारक भी था ।

सर्वधर्मके समन्वय रूपमें उसने "दीने ईलाहि" धर्मस्थापन किया था । सर्वधर्मसमान– संमान– भावना उसमें थी । आजके भ्रष्ट राजकारणीओंने बिगाडी हुई धर्म– निरपेक्षता नहीं थी । सबको स्वधर्मापेक्षा थी । कुर्सीसे खुशी होनेवाले विचारक – कैसे हो सके ?! वह तो मोगल बादशाह था ! स्वयं शंका–समाधानके लिये बारबार गोकुल आता था । हिन्दुवेष भी पहनता था ! धोती– बंडी– तिलक भी धरता था ! मार्स्डनके इतिहासमें ऐसा फोटो भी मिलता है ! आजकलके कहलाते– धार्मिकलोगोंकी तो प्रायः अपने घरमें अथवा धार्मिककार्योमें भी अपना भारतीय– धार्मिक– वेष पहननमें क्षोभ– संकोच– संताप होता हैं । नहीं पहनते हैं । संस्कृति– संस्कार हम रख रहे हैं या खो बैठे हैं ? बादशाहके पूछने पर श्रीगुसांईजीने स्पष्ट सरल शब्दोंमें बतादिया– "आप जैसे मौकूँ मिले, वैसे मिले!" सरल– सफल उत्तरसे बादशाह चकरा गया ! स्पष्टता पूछी । गुरुजीने पुनः बताया,– "मुझे आपको मिलना हो तो आपके अधिकारियोंकी संमति लेनी पडे । फिर भी आप न चाहो तो नहीं भी मिलो । परंतु आप बादशाह मुझे मिलना चाहो तो आपको किसकी संमति लेनी पडे ? सर्वसत्ताधीश, सर्वसमर्थको

कौन रोक सकता है ? वैसे ही जीव भगवानको मिलना चाहे तो यथायोग्य साधन करनेके बाद भी, प्रभु ही प्रसन्न न हो जाय तो, न भी मिले । जीवका कोई उपाय ही नहीं है । भगवान् जीवको मिलना चाहे तो उसे कौन रोक भी सकता है ? तुरंत जैसे भी चाहे मिलता है । यह है– पुष्टि ! भगवान् स्वयं उद्दाम करके अपने स्वरूप जीवको अपनी प्राप्ति करा ही देते हैं ! भगवदिच्छा तो स्वतंत्र समर्थ होती है ।

स्वतंत्र – भगवान् ! स्वेच्छा हो तो दर्शन करावे । इसलिये अर्जुनने नम्रतासे विनती की ।

"पश्य"– शब्दसे विवर्त नहीं, वास्तवदर्शन ही कराते हैं– भगवान्– अपने भक्त अर्जुनको ! :

भगवानने "**पश्य**" ऐसा कह कर तुरंत संमति दे दी । यह "**पश्य**"– शब्द विवर्त नहीं– विलक्षणता सूचक है । "**दृश**" धातुका "**पश्**"– **आदेश** है । यह तो व्याकरणका आदेश है। वेदान्तमें भी आदेश है ।– "**नेति नेति**"– आदि ! भगवान् कोई जीवको अज्ञानजन्य विवर्त (रज्जुमें सर्प) जैसे दर्शन नहीं कराते हैं । "**पश्यमे पार्थ रूपाणि**–" (५) "**पश्यादित्यान् पश्याश्चर्याणि भारत**"। (६) "**पश्याद्य सचराचरम्**"– । (७) "**पश्य मे योगमैश्वरम्**–"। (८) में, भगवान् बारबार अर्जुनको "**पश्य–पश्य**" कहते हैं– "**देख–देख !**" कोई जादुगर जैसे अपना खेल बतावे– प्रेक्षकोंसे– बच्चोंसे कहे, "**देखो–देखो**", ऐसे नहीं, परंतु कोई नट अपनी कला–कुशलता प्रेक्षकोंको

बतावे, ऐसा यह नटका खेल है, जादुगरकी इन्द्रजालकी तरह भ्रामक- मिथ्या-विवर्त नहीं बताते हैं, नटकी तरह वास्तव-वस्तु अपनी कला- कुशलता बताते हैं ।

भगवान् जादुगर नहीं हैं, दिव्यगतिवाला नट हैं :

कृष्ण तो "नटवर"- प्रसिद्ध हैं !

"यत् तद् वपुर्भाति विभूषणायुधै-
रव्यक्तचिद्व्यत्कमधारयद्धरिः ।
बभूव तेनैव स वामनो वटु :
संपश्यतोर्दिव्यगतिर्यथा नटः" । -श्रीभागवत (८-१८-१२)

श्रीवामनजीके प्राकट्य प्रसंगमें कहा है- जो स्वरूप विभूषण- आयुधोंसे सुशोभित है, अव्यक्त- चिद्-रूप है, वही हो गया है स्वेच्छासे चिद- व्यक्त- रूप ! भगवानने धारण किया ! वही चतुर्मुख स्वरूपसे ही वह छोटासा- वामन - बटुक हो गया ! माँबापके देखते हुए ! जैसा दिव्यगतिवाला नट हो ! जादुगरका खेल तो भ्रमरूप- मनोरंजक- होता है । जादुगरकी निपुणता तो भ्रमोत्पादनसे लोकोंको अवास्तवसे मोह कराके स्वार्थ साधनेकी होती है ! भगवन् तो नट हैं- जादुगर नहीं है । नटका खेल तो यथार्थ- वास्तवरूप- मनोरंजक होता है । नटकी कला कुशलता तो यथार्थ प्रस्तावसे लोगोंको वास्तव आनंद देकर सर्वार्थ साधनेका होता है ! सामान्य नटको तो खेलके सानुकूल साधन, स्थान, समय, सहायादि होने चाहिये। परंतु यह तो दिव्य गतिवाला नट है ! उसको तो न कोई साधन चाहिये, न स्थान, न समय, न सहायादि ! यह तो स्वयं ही सब कुछ कर लेते हैं, सब कुछ हो जाते हैं । दिव्यगतिवाला नट है ! खेल सबको दिखाता है, माया नहीं है, छल- विवर्त भ्रान्ति- मिथ्या इन्द्रजलादि नहीं है । जो है वह वास्तव- यथार्थ है । दिव्यनटकी कला- कुशलता है । कृष्ण तो नटवर है, नट- नटराज- नटराजेश्वर- नटराजेश्वरका भी वर-वरणीय! वंदनीय !- कलानिधि कृष्ण ! **"बर्हापीडं नटवरवपुः"** -श्रीभागवत (१०-२९-५)- मयूरपीच्छके मुकुटवाला, नटवर-वपुवाला ! वह तो अपनी बेनमुन कला-कुशलता बताता है- "पश्य- पश्य" ! यह विश्व- रचना- विभूति आदि कला है! कला- कुशलता (योग) ! विभूतियोग है कृष्णका ! न कोई अज्ञान वह रचना कर सकता है- न अज्ञानसे देख सकता है!

न विकासोन्मुख विज्ञान यह रचनाकर सकता है, कल्पना भी नहीं कर सकता है , रचनाकी तो बात दूर रही ! कृष्णकला-रूप है जो विश्व, उसको पूरा समझ भी नहीं सकता है- विज्ञान! न ज्ञान भी यह रचना कर सकता है, न पार पहुंच सकता है ! **"जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च"** ब्र. सू. (४-४-१७) निरंकुश- सर्वतन्त्र- स्वतन्त्र- जगत्कर्तृत्व भगवानका ही है, कोई भी ब्रह्मज्ञ- ब्रह्मभूत- ब्रह्मज्ञानीका नहीं ! अज्ञान-ज्ञान-विज्ञान अथवा अज्ञानी- ज्ञानी- विज्ञानी कोई भी यह विश्वरचनाकी कलामें कुशल नहीं है- कुशल तो क्या कृत-प्रवेश भी नहीं हैं । इसलिये भगवान् अपनी बेनमुन विश्व-विभूति रचना- कलाका नमूना पेश करते हैं- विश्वरूप!

कराते हैं दर्शन ! कहते हैं– "देख, देख !" केवल अपने प्रिय–मित्र– भक्त– शिष्य– शरणागत– अर्जुनको ! सबके लिये यह प्रदर्शन नहीं है । केवल दर्शन ही है, कृपासे दिव्यदृष्टि देकर अर्जुनको कराये ! स्वयं भगवान् कहते हैं,– "**देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ।**" (५२) देव भी इस रूपके दर्शनकी अपेक्षा ही रखते है,– दर्शन होते तो नहीं है ! सर्वजनीन प्रदर्शन यह नहीं है, कृपामात्रसे दर्शन ही हैं । अप्राकृत दिव्यदर्शन कराते हैं– भगवान् ! तहाँ संमुखता तथा एकाग्रताके लिये बारबार कहते हैं– "**पश्य–पश्य**" यह लोक– वेदविलक्षण–सामर्थ्यसे कलाकुशलता है– कृष्णकी ! विवर्त नहीं है, विलक्षण है, इसलिये तो "**दृश**"का "**पश्यादेश**" विलक्षण बताया है, विवर्त नहीं ।

कृष्णका अपना– पुर्णानन्दका ही एक स्वरूप है– अक्षरब्रह्म! इषत् (स्वल्प) तिरोहितानंद जैसा है वह ! उसमेंसे ही जगदुत्पन्न होता हैं । वह ब्रह्म ही जगतका अभिन्न –निमित्तोपादन कारण है । "**अक्षर**"के दो अर्थ १. **अ–क्षर**– नष्ट न होनेवाला अव्यक्त आध्यात्मिक रूप । २. **अक्ष–र**– नेत्र (इन्द्रिय) रम्य रूप ! व्यक्त जगद्रूप ! आधिभौतिक विश्व भी रम्य कला है–कलानिधानकी ! कृष्ण तो है– आधिदैविकरूप ! भगवानने स्वलीलाके लिये चाहा । भगवानने स्वरूपमें सेंकडों– हजारों–लाखों रूप किये हैं ! "**इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं ।**"(७)– यहाँ प्रभुमें संपूर्ण विश्व है– संपूर्ण रूपमें नहीं, प्रभुके एकाध– अंश–मात्रका जगद् रूपमें अधिकृत परिणाम है ! लीला मात्रसे जगद्रूप

होते हैं– भगवान् ! लीलामात्रसे विश्वरूप बताते हैं भी भगवान्! ऐसे दर्शन– तिरोहित भी कर देते हैं– भगवान् !

बाललीलामें अपने मुँहमें विश्वदर्शन : वामनावतारमें भी विराट्दर्शन :

वत्सल मैया यशोदाजीको दो दफा मुँहमें विश्वदर्शन कराये हैं– उनके वत्स कृष्णने ! "**दिव्यचक्षु**" देनेकी जरूरत वहाँ नहीं रही है, मा पुष्टिभक्ति है, वहाँ कृपासे ही स्वयं भगवान् सब कुछ कर लेते है, दिव्यचक्षुरूप भी हो जाते है, देने नहीं पडते हैं । अर्जुन भक्त है, परंतु मर्यादा– पुष्टिमें होनेसे जरूरी हुए दिव्यचक्षु ! अर्जुनको तो यह अक्षरब्रह्मात्मक दर्शन है । माँको तो अक्षरसे उत्तम स्वयं भगवान् पुरुषोत्तमके दर्शन मिलते हैं । माँकी गोदमें सोया हुआ छोटा सा दुध– मुँहा बच्चा ! छोटेसे बच्चेका छोटा सा मुँह ! छोटेसे मुँहके छोटेसे कोनेमें पूरा ब्रह्मांड ! छोटा नहीं ! स्पष्ट देखती है– माँ ! अनुभव करती है माँ ! केवल माँ ही देखती है !– दर्शन है– प्रदर्शन नहीं है । विश्व तो स्वल्प मात्र है, अंशमात्र है– भगवानका ! भगवानने वामन रूपमें पधारकर बलिराजको कृतार्थ करते हुए, तीन पैर पृथ्वी नांपते समय, विराटरूप दर्शन सबको कराये ! वहाँ आत्मनिवेदनसे दिव्यचक्षु नहीं देने पडे ! जो बहार दिखाइ–सुनाइ देता है, वह सब भगवानने अपनी अंदर बताया । था–है– होगा ऐसा प्रकट किया ! भगवान् बालकृष्णजीने छोटेसे मुँहके छोटेसे कोनेमें छोटासा ब्रह्मांड, स्केल पर आजके मानचित्र (नकशा) की तरह नहीं ही बताया है–, जो है वो ही ब्रह्मांड

बताया है !

विश्व भगवानका आधिभौतिक- स्वरूप है, भगवानमें ही है, भगवद्रूप ही है, भगवानसे अनन्य है । ये सब प्रसंगोमें भी यह सिद्धांत लीला- रूपमें स्फुट हो जाता है । भगवान् सत्य हैं, लीला सत्य है, तदनन्य जगत् भी सत्य है । उत्पत्ति- स्थिति- लय सब अवस्थामोंमें भी विश्व ब्रह्ममें है, ब्रह्मरूप है, ब्रह्मसे अनन्य है, सत्य है, भगवल्लीलाके लिये ही है ।

अर्जुनको दिव्यचक्षुका दान :

भगवान् श्रीकृष्ण अनुग्रहसे अर्जुनको अपने विश्वरूपके दर्शन कराते हैं । प्राकृत- जड (लौकिक) इन्द्रियोंसे तो अप्राकृत- अलौकिक- सत्- चित्त्- आनंद- रूपके दर्शन (ज्ञान)- अनुभव (आनंद) शक्य नहीं है, इसलिये भगवानने कहा, "**दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्यमे योगमैश्वरम् ॥**" (८) चर्मचक्षुसे यह शक्य नहीं है,- मुझे देखनेका ! देता हूँ- मैं तुझे दिव्यचक्षु ! देख मेरा योगका- ऐश्वर्य ! भगवानने दिव्यदर्शनके लिये, दिव्यदृष्टि दे दी । दिव्यदृष्टि है-, लीलादृष्टि ।- कृपादृष्टि!- अलौकिकदृष्टि ! लीलाकी समझ बताते हैं- योग- ऐश्वर्य ! कर्तुम्- अकर्तुम्- अन्यथाकर्तुम्- समर्थ, इश्वर है । उसका सामर्थ्य ऐश्वर्य है । वह दूरबीन- खुर्दबीन- सूक्ष्मदर्शक- यंत्रादिसे वेधशालासे भी नहीं दिखाता है ।

एकही समयमें, एकही साथमें, पूरा विश्वदर्शन :

भगवानने अर्जुनको संपूर्ण प्रत्यक्ष विश्वरूप- दर्शन करायें।

कोइ व्यक्ति सतत प्रवास करें, स्वदेशका पासपोर्ट तथा सब देशोंके वीसा- टिकिट- वगेरे सब कुछ सुंदर व्यवस्था हो जाय ! फिरभी सारे विश्वमें सफर क्रमशः होगी, एक साथमें सब देशमें नहीं ! देख सकेगा कोई एक साथमें सब देशोंको?! खर्च-श्रम-समय-साध्य- हो जाता है- विश्वप्रवास! फिर भी सब-विश्वको एक साथमें- एक ही समयमें- कोई देख सकता ही नहीं है । भगवानने एक ही समयमें, एक ही साथमें, एक ही अपने अक्षरात्मक स्वरूपमें, पूरा विश्वदर्शन करा दिया !

विश्वकी अचिन्त्य विशालता :

प्रकाशकी गति एक सेकंडमें १,८६,००० मीलकी होती है ! प्रकाशका किरण एक सेकंडमें १,८६,००० मिल अंतर काटता है, इतनी दूर पहूँच जाता है ! तो एक घंटेमें? तो एक दिवसमें? एक मासमें? एक वर्षमें? अंकोमें- कठिन है- यह कहना! इसलिये विज्ञान "**प्रकाशवर्ष**" उसे कहता है । ऐसे कई अगोचर- दूरके- तारों (निहारिका- रूप आकाशगंगामें तैरते हुए बडे बडे सूर्य, जो पृथ्वीसे अत्यंत दूरी पर होनेसे छोटे छोटे तारें लगते हैं)के प्रकाश सृष्टिके आरंभसे आजतक पृथ्वी तक नहीं पहूँच सके हैं !! कितने प्रकाशवर्ष हो चूके?! कितने होंगे? कब तक पहोंचेगा ? तो यह ब्रह्मांडका विस्तार कितना? इतने बडे बडे करोडों ब्रह्मांडोका अपने प्रत्येक रोम कूपमे रखनेवालो भगवानका स्वरूप कितना?! यही साकार रूप सर्वव्यापक है। अर्जुन यह विश्वरूप- दर्शन दिव्यदृष्टिसे करता है । कृपा करके कराते हैं- कृष्ण ! महाकालात्मक-रूप, मर्यादामार्गोपास्य-

रूप, समष्टि- भूत- पुरुषभूत, फूटस्थ, सर्वकारण- कारण, निर्गुण- अक्षरात्मकरूप भगवाननें प्रकट करके बता दिया !-

विश्वरूप- दर्शन :

अनेक वक्त्र- नयनादि- युक्त, अद्‌भुत- दिखाता है- विश्वरूप ! अनेक दिव्या-भरण, अनेक दिव्य आयुध, दिव्य माला, वस्त्र, दिव्यगंधलेपवाला, सर्वाश्चर्यमय - अनंत - विश्वतो- मुखवाला- रूप अर्जुनने देखा ! अगर हजारों सूर्य एक साथ उगे, तो जितना प्रकाश होता है, उतना तेजः प्रकट होता था- भगवानका ! भगवानके यह शरीरके एक भागमें रहे हुए संपूर्ण जगतको अर्जुनने देखा ! विस्मित- प्रहृष्ट हो गया- अर्जुन! जोडेहाथ ! की स्तुति !

“सब देव- प्राणीमात्र, ब्रह्मा-शंकर- ऋषि- दिव्य सर्पोको आपके शरीरमें मैं देखता हूँ । अनेक बाहूदर- वक्त्रनेत्र दिखते हैं- अनन्तरूपमें । अंत- मध्य- आदि आपका दिखता नहीं है । मुकुट- मदादी- धरनेवाले अप्रेमय रूपको मैं देखता हूँ। “**त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं-**” (१८) आप अक्षर, परम, धर्मरक्षक, वेद्य सनातन पुरुष हो । अनादिमध्यान्त रूप- सामर्थ्ययुक्त आपके रूपसे विश्वको तपातें हैं- आप ! सर्वत्र व्यापक हो- आप ! आपका उग्ररूप देखके त्रिलोक कष्ट पाता है । देवगण आपमें प्रवेश करते हैं । भीत कोई स्तुति करते हैं । महर्षिगण “**स्वस्ति**” कह कर पुष्कल स्तुति करते हैं । रुद्र,- वसु- प्रभृतिगण विस्मित होकर दर्शन करते हैं । अनेकावयव युक्त रूप देखकर लोग व्यथित होते हैं, और मैं भी ! आकाशस्पर्शि, अनेकवर्ण, खुले मुँह, विशालनेत्रादि देखकर धैर्य नहीं रहता है ! सुख नहीं होता है । भयंकर दाढें, कालाग्नि जैसे मुँह देख कर दिशा भी भूल गया हूँ, दशा भी बिगड गई है ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न हो आप ! भीष्म- द्रोण- कर्ण- कौरवादि सब शीघ्रतासे आपके भयंकर मुँहमें घूसतें हैं । कोईदाढोंमें लगे हैं । चूर्ण हो गये हैं उसके मस्तक ! बाढमें महानदी बढती- बहती समुद्रमें दौडती है ऐसे सब मनुष्य- वीर प्रज्वलित- मुखमें प्रवेश करते हैं । प्रदीप्त वह्निमें जैसे पतंग पैठ जाय, ऐसे नाशके लिये समृद्धवेगवाले लोक आपके मुँहमें प्रवेश करते हैं । आप आपको उग्रतेजसे पूरित करके जगतको चाट रहे हो,- व्यापक विष्णो! कहो, मेरेको ! कौन हो- आप ?! उग्ररूपवाले ! नमस्कार- आपको ! प्रसन्न हो- आप ! जानना चाहता हूँ- आपको ! मैं नहीं जानता हूँ- आपकी प्रवृत्तिको !

भगवान्- कालरूप :

भगवानने विश्वरूप- दर्शनका परिचय कराते हुए कहा-, “**कालोSस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृतः।**”- (३२) “मैं काल हूँ । लोकोका विनाश करनेवाला हूँ। प्रवृद्ध हूँ । लोकोंका संहार करनेके लिये, अपनेमें लीन करनेके लिये, प्रवृत हूँ । मेरे कृपापात्र- तेरे बिना उभयसैन्यके कोई योद्धा रहेगे नहीं । तेरे लिये सबको मारे हैं । काल- कर्म- स्वभाव तीनों अक्षरब्रह्मके रूपांतर हैं । मिलके कुल चार होते हैं । “**कालं कर्म स्वभावं च मायेशो मायया स्वया । आत्मन्**

यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे ।।"– श्रीभागवत (२–५–२१)– काल– कर्म– स्वभाव– तीनों अक्षरब्रह्मके जो रूपांतर हैं । मायाके नियामक स्वामी अपनी सर्वभवनसामर्थ्यरूप शक्ति–(माया)से अनेक होनेकी इच्छावाले भगवान् स्वेच्छाप्राप्त इनका स्वीकार विश्वलीलामें करते हैं । भगवान् मायाके गुणोमें कालरूपसे क्षोभ उत्पन्न करते हैं । कालसे गुणसंपर्क होता है, स्वभावके संबंधसे गुण परिणामवालें होते हैं । इसमें जन्मनिमित्त कर्मके संबंधसे महत्तत्त्व उत्पन्न होता है । सांख्यमें उसे बुद्धि कहते हैं । कालसे गुणसंपर्कसे भूत– भविष्य– वर्तमानरूप संवत्सरात्मक काल होता है । काल अंतःसच्चिदानंदरूप होता है, इषत्सत्त्वांशसे प्रकट होता है । अखंड– प्रवाहरूप है,– विभाग न होने पर भी, धर्म– संबंधसे, व्यवहारर्थ, सत्य– त्रेता– द्वापर– कलि– संज्ञक होता है । कृष्णके सहभावसे युगलमें युग होता है–, सत्ययुग आदि नामसे प्रसिद्ध होता है । यहाँ, अक्षरब्रह्म– स्वरूपमें विश्वरूप– दर्शन कराते हैं,– कालस्वामी कृष्ण ! कालरूप भी होंनेसे कालरूपसे परिचय देते हैं ।

भगवान्– कालरूप– मृत्युप्रद :

भगवान्– पुरुषरूप– अमृतप्रद :

भगवान् कालरूप तथा पुरुषरूपसे लीला करते हैं । "**अंतः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः । समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवानात्ममायया ।।**" –श्रीमद्भागवत (३–२६–१८) तथा "**वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजामन्तर्बहिः पूरूषकालरूपैः । प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च मायामनुष्यस्य विद्वन् ।।**"– श्रीभागवत (१०–१–७) जो भगवान् सामर्थ्य (माया)से अंदर पुरुषरूपसे (अंतर्यामी) तथा बहार कालरूपेसे समन्वित होते हैं। यह तो विश्वलीलामें होता है । अवतारलीलामें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण पुरुषरूपसे अमृत और कालरूपसे मृत्युका दान करते हैं । मूलरूप भगवान् ही उभयका दान कर सकते हैं । सबके आत्मारूप होते हुए भी भगवान् निमित्तवशात् मृत्युका भी दान करते हैं । अपनी लीलाके लिये जीवोंको देहसंबंध भी कराते हैं,–भगवान् ! छुडाते भी हैं भगवान् ! बहिर्मुख लोग (जिनकी वृत्ति–प्रवृत्ति बाह्य है),–उनको प्रभु मृत्यु देते है, अंतर्मुख या भगवय्मिमुख– लोग को, जिनकी वृत्ति– प्रवृत्ति प्रभुसंबंधी है उनको, प्रभु अमृतदान करते हैं । यह भगवान् पुरुषोत्तम– आनंदमय होते हुए भी, मायामोहित बुद्धिवालोंको मनुष्यरूप लगते हैं । भगवान् कालरूपसे आसुरावेशियोंके लिये मृत्यु हेतु हैं । ऐसे लोगोंके उपसंहारमें प्रवृत्त है–प्रवृद्ध है–कालरूप कृष्ण! संकर्षण–व्यूहात्मक–रूपसे दुष्ट– संहारलीला करते हैं, कृष्ण !.

भक्तोको भोग कराके भी मोक्षद है– भगवान् ! :

"हे अर्जुन ! इसलिये, तू उठ ! यशः प्राप्त कर ! शत्रुको जितके समृद्ध राज्य भोग कर !" सामान्यलोग एवं शास्त्र तो त्याग कराके कल्याण वा मोक्ष दें, सर्व–समर्थ भगवान् तो भक्तोंको भोग कराके भी मोक्ष देते हैं । यह है– पुष्टि !

भक्तके शत्रुओंको मार रखते हैं– भगवान् ! :

"**मयैवेते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।**" (३३) ये सब मैंने पूर्वसे ही भाररखे हैं, तू तो निमित्तमात्र हो जा।" भक्त सती द्रौपदीजीके कच (केश) स्पर्शसे कौरव तथा उनके सहायकोंका नाश निश्चित हो चुका था। युद्धके आरंभमें, अर्जुन जब सैन्यमें स्वजनोंको देखकर विषाद कर रहा था, तब– भगवान् तो दृष्टि दुश्मनदलमें घूमाते हुए पर सैनिकोंके आयुका हरण ही कर रहे थे ! आयुःहरणसे भगवानने सबको मार ही रखे हैं। अर्जुनको तो अब मात्र निमित्त होना है। भक्तकार्य तो प्रभु प्रेमसे कर लेते हैं। निमित्त बनाते हैं– भक्तको! कार्य तो सबकुछ कर लेते हैं– भगवान् ! अहंतारहित होकर,– अपनेको निमित्त मानकर, प्रभु करते कराते हैं– ऐसी बुद्धिसे, कर्म करें– सेवाही हैं। "**सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य। स्थितवति परसैनिकायुरक्ष्णा हृतवति पार्थसखे रतिर्ममास्तु ॥**"– श्रीभागवत– (१–९–३५) भगवानने महाभारतके युद्धमें हाथमें हथियार नहीं लेनेकी प्रतिज्ञा ली थी। इसलिये भक्तकार्यार्थ आंखोमें हथियार रखकर दुश्मनको मारते हैं !! भक्तवत्सल– शरणागत–परिपालक है– भगवान् ! समर्थ भीष्मादिकको भी मार रखे हैं– भगवानने न केवल सामान्य सैनिकोंको ही नहीं ! "**युद्ध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।**"–(३४) "तू युद्ध कर, युद्धमें शत्रोंको जितेगा।" सामान्यतः पुरुषका प्रारब्ध, प्रभुकी प्रेरणा और पुरुषका प्रयत्न– तीनोंके संयोगसे पुरुषार्थ सिद्ध होता है–, सफलता

मिलती है। पुष्टिमें तो प्रभु ही सबकुछ कर लेते हैं।

भयभीत अर्जुनकी विश्वरूप– स्तुति :

भगवानकी बात सुनके कांपता हुआ अर्जुन, वंदन करता हुआ, डरता डरता बोलता है। "**स्थाने ऋषिकेश–**" (३६) अभयका मंत्र भी कई लोग मानते हैं। युक्त है, आपके कीर्तनसे जगत् हर्षित होता है, अनुरक्त होता है, सब राक्षसादि डरके दूर दौड जाते हैं, सिद्धसंघ नमस्कार करते हैं। आपको ब्रह्माजी–वेदादिके आदिस्त्रष्टा– गुरुको, क्यों वे सब न नमें?! सत् (स्थूल– व्यक्त), असत् (सूक्ष्म– अव्यक्ता)से पर, अक्षर (अविनाशी) हो आप! आप पुरुषपुराण, विश्वके आधार, वेत्ता (सर्वज्ञष), वेद्य, परमधाम हो। आपसे विश्व व्याप्त– परिपूर्ण– है। वायु– प्रभृति देवरूप आप है, हजारों वंदन आपको! आगे–पीछे– सर्वतः आपको नमस्कार ! सबको व्याप्त करके आप रहे हो। मित्र मानके, आपके यह महिमाको न जानते हुए, प्रमादसे या प्रणयसे, विनोदसे विहारादिमें, असत्कार किया हो तो क्षमायाचना करता हूँ। आप ही सब जड–चेतन के पिता (पोषक– रक्षक) हो, गुरु हो, पूज्य हो। आपके कोई समान वा आपसे अधिक कोई नहीं हैं। त्रिलोकमें अप्रतिम प्रभाव आपका है। इसलिये दंडवत् प्रणाम करके, स्तुत्य आपको मैं प्रसन्न करता हूँ। स्वकीयोंकी तरह आप मेरे अपराधको सहन करें। अदृष्टपूर्व– दर्शनसे हर्षित हुआ हूँ। मन भयसे व्यथित है। वही चतुर्भुज– स्वरूपके दर्शन करावें। आप प्रसन्न हो।" अर्जुनने अपराध– क्षमापनमें स्वकीयता तीन प्रकारकी बताई है।

भक्तिमार्गमें यही प्रकारके भाव भी हैं । १. "**पितेव पुत्रस्य**"– पिता जैसे पुत्रको क्षमा करें । यहाँ वत्सलभाव– वात्सल्य है । इसमें दोषदृष्टि ही नहीं है। २. "**सखेव सख्युः**"– मित्र जैसे मित्रका अपराध सहन करें । यहाँ सख्यभाव है । ३. "**प्रियः प्रियाय**"– यहाँ, विकलता वा विशिष्टतासे विभक्ति बदल गई है ! भक्ति ही रह गई है ! मधुरभाव– माधुर्यकी यह उत्तमता है। प्रिय प्रियाके लिये केवल प्रियाका नहीं, सबका सबकुछ भी सहन करता है । ४. दासभाव– दास्य– तो आरभंदशामें होता ही है । प्रभुके प्रदान– दास्यकी नींव पर ये तीन भाव पनपते हैं । नींव तो बहार नहीं दिखे, मकान होनेके बाद ! इस भावोंमेंसे किसी एकसे कृष्ण– सेवक होता है ।

प्रभुप्रसन्नतासे ही प्रभुप्राप्ति :

प्रभुने प्रसन्नतासे कहा–, "प्रसन्नतासे मैंने यह मेरा परम रूप बताया । वह तेरे सिवाय किसीने पूर्वमें देखा नहीं था ! वेद-यज्ञ– अध्ययनादिसे ऐसा रूपवाला मैं देखने शक्य नहीं हूँ-तेरे सिवाय अन्य किसीके लिये !" कृपाके बिना, कृपालभ्य-भक्तिके सिवाय, साधनादिसे, अलौकिक– दर्शन, अक्षरब्रह्म वा परब्रह्मके शक्य ही नहीं है । "**योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः–**" –श्रीभागवत (१०–३२–१४) योगेश्वरोंके अतिपवित्र अंतर्हृदयमें भी भगवानके आसन (अक्षरब्रह्म)की कल्पना की जाती है, प्रकट नहीं होता है ! तो फिर इससे पर पुरुषोत्तमका तो पधारनेका संभव ही कहाँ होता है?! निःसाधन– फलत्मा है, भगवान् कृष्ण-प्रकटे श्रीगोकुलमें ! और मथुरामें भी ! उभयत्र ! वे साधनसे सुलभ नहीं होते हैं ।– "तेरेको व्यथा न हो ! विमूढभाव न हो!– मेरे ऐसे कालात्मक घोररूपको देखकर ! गतभय– प्रसन्नचित्त होकर मेरा वह चतुर्भुज ही स्वरूप तू देख !"– भगवानने कहा ।

विश्वरूप– कालरूप– देखकर अर्जुनको व्यथा क्यों?!: अभयप्रद अक्षरब्रह्मके दर्शनसे भय क्यों ?! :

भगवानने स्वकीय चतुर्भुज पुरुषोत्तम– रूप बताया । आश्वासन– अपने अर्जुनको दिया ! अर्जुन सौम्यवपु– मानुष (मनुष्य दर्शन योग्य) रूप देखकर (द्विभुज) (पुरुषोत्तम) देखकर स्वस्थ स्निग्ध हुआ । ज्ञानियोंको अक्षरदर्शनमें अभय– आनंद आता होगा । फल मानते होंगे। अर्जुन तो भक्त है, भक्तको तो अक्षर वा काल वा मोक्षमें अभय वा आनंद नहीं होता है !– डर लगता है । उसको तो आनंद होता है,– अपने– सेव्य– स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके सेवनमें ही । अनन्य भक्तोंकी रुचि, मनोवृत्ति कभी भी अन्यत्र नहीं होती है, अन्यत्र वृत्ति– हीन हो तो प्रवृत्ति तो कहाँसे हो सकती है? श्रीयशोदा माँ भी अपने एकलौते बेटेके मुँहमें विश्व देखकर घबडा ही जाती थी न?!! भक्तको तो विश्व– वैभव– विलास– वैशिष्टयादि कुछ भी नहीं चाहिये ! चाहिये– केवल एकमात्र अपने प्रिय प्रभु ही !

भगवानके दर्शनादिका उपाय– अनन्यभक्ति ही :

भगवानने अर्जुनको कहा– "देव भी इसरूपके दर्शनकी तो आकांक्षा रखते हैं, दर्शन नहीं मिलते हैं ! तूने वह रूप देखा।

वेद, वैदिक–प्रक्रिया, तप, दान, इत्यादिसे शक्य नहीं है– मेरे दर्शन !– जैसे तूंने किये !

"भक्त्या त्वनन्यया शक्यमहमेवं विधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।। "– (५८)

अवतारदशामें तो "लोक मेरे दर्शन करें"– ऐसी सामान्येच्छासे सबको भगवान् दर्शन देते हैं । परंतु इससे तत्त्वतः– ज्ञान वा दर्शनका विशेष– लाभ वा स्वरूपानंद अथवा लीलाप्रवेश नहीं मिलते हैं । ज्ञान– यज्ञ– योगादिसे भी ऐसा कुछ भी शक्य नहीं ही है। शक्य है– भक्तिसे ! इसमें भी अनन्य भक्तिसे ! "तु"– शब्द साधनोंका निरास बताता है । केवल अनन्यभक्तिसे ही ! भगवानसे वो भक्तसे कृपैकलभ्य है यह– भक्ति ! जिस भक्तिमें अन्यलौकिक– पारलौकिक– वैदिक– प्रयोजन नहीं है, वह भक्ति अनन्यभक्ति है । श्रीकृष्णके सिवाय अन्य कोई भी देव– देवी– मंत्र– तंत्र– यंत्र– व्रत– जप– पाठ– मार्ग– स्तुति– यात्रा– दानादि– उनके फलकी अपेक्षा भी मनमें न रखें वह अनन्य है । ऐसी अनन्य भक्तिसे मुख्यतया शक्य है– १. कृष्णको तत्त्वतः (जितना, जो, जैसा हो ऐसा) यथार्थ रूपमें जानना २. अलौकिक भावदृष्टिसे दर्शन (यह देहसे जगतमें लीलानुभव) तथा ३. अलौकिकरूपसे नित्यलीलामें प्रवेश लीलारसानुभव ।

भगवानका (पांच गुणवाला) भक्त ही भगवानको प्राप्त होता है :

"मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जित : ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव ।।" (५५)

१. **"मत्कर्मकृत्"**– कोई कामना– फलेप्सा– के बिना ही मेरा कर्म करें । सेवा करें । सब कुछ भगवदाज्ञा– भगवदिच्छानुसार करें, कुछ भी स्वेच्छासे न करें । जो भगवत्कार्य करता है, वह उत्तम है । सेवा करता है, वह मध्यम है । स्वार्थसे सेवा करता है, वह अधम है। स्वार्थरहित, भगवत्सुखके लिये दासभावसे ही कार्य करें । २. **"मत्परमः"**– मैं ही जिसके लिये परम फल– बल हूँ, सर्वस्व, पुरुषार्थरूप हूँ । ३. **"मद्भक्तः"** भगवदाश्रित, भगवदभजनरत, स्नहेसे वशरहकर सेवा करने–वाला । ४. **"संगवर्जितः"**– पुत्रादि– लौकिक– अवैष्णव– दुःसंगादि, रहित । ५. **"सर्वभूतेषु निर्वैरः"**– सर्व प्राणीओंके प्रति वैररहित– द्वेषरहित– क्लेशरहित । यह पांच प्रकारसे भजे वह अनन्य भक्त ! मेरेको पुरुषोत्तमको प्राप्त होता है ।

अध्याय – १२ : भक्तियोग : श्लोक – २० :

विभुके वरणसे जीवनमंगलाचरण :

भगवान् करते हैं– जीवका वरण ! तदनुरूप होता है – जीवका अंतःकरण ! तदनुकूल होते हैं– जीवके करण, व्यवहारमें आचरण ! जीव लेता है – भगवानका शरण ! पकड़ता है ! भगवानके चरण ! फिर भय नहीं कराता –मरण ! हो जाता है– सब दोषों का हरण ! होता है– भक्तोंका अनुसरण ! तब– नहीं रहता है– ! संसारीओका अनुकरण ! कृपा करते हैं–

गिरिराजधरण ! तब होता है – दृढभक्ति– करण ! होता है– जीवन– मंगलाचरण !

अक्षरोपासक– ज्ञानी और कृष्णोपासक– भक्तमेंसे श्रेष्ठ उपायज्ञ कौन ?! – ः अर्जुनका प्रश्न ः

कृपा करते हुए कृष्ण अर्जुनको उत्तरोत्तर उतमोत्तम सुनाते चलें । स्नेह–स्वकीयतासे हृदयके खजाने खुल जाते हैं, अमूल्य ज्ञानरत्न– प्रेमरत्न प्रकट झगमगाते हैं । कृष्णके हृदयमेंसे ऐसे रत्नोके झगमगाहटके अर्जुनको दर्शन हुए । ज्ञानरत्न–प्रकाश देखा, – "**यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।**" (८–११) "**यः प्रयाति त्यजन् देहं सयाति परमां गतिम् ।**" (८–१३) वेदविज्ञ जिसको अक्षर ("**ओ३म्**") कहते हैं, अनासक्त प्रयत्नशील साधुपुरुष जिसमें प्रवेश करते हैं,– "**ओ३म्**" यह एकाक्षर ब्रह्म है, उच्चार उसका करे और स्मरण मेरा (कृष्णका) करे, और जो देह छोडके जाय वह परम गतिको प्राप्त होता है । यहाँ गति– है– मोक्ष ! परमगति तो है– अक्षरब्रह्म– सामुज्य– भगधद्धाम ! भक्तिरत्नका समुज्ज्वल प्रकाश देखा– "**मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्‌भक्तः संगवर्जितः। निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।**"– (११–५५) मेरा कार्य करनेवाला मेरेमें परायण (दृढाश्रयवाला) संसारासक्ति तथा संसारिजनोके संगसे रहित, सर्वप्राणियोंके प्रति निर्वैर मेरा (कृष्णका) भक्त, वह मुझको (पुरुषोत्तम – श्रीकृष्णको) प्राप्त होता है । ज्ञानमें परम (अक्षर) गति ! और भक्तिमें – पुरुषोत्तम–प्राप्ति ! दोनों रत्नोंकी प्रकाश– प्रबलतासे अर्जुनकी आंखे अंज गई, कुछ स्पष्ट दिखाई नहीं दिया । समझ स्पष्ट न हुई । अर्जुनने विश्वरूपदर्शनमें प्रतीति की थी,– "**अनंत देवेश जगन्निवास, त्वमक्षरं सदसत्परं यत् । त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् । वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनंतरूप ।**"– (११–३७–३८) हे अनन्ते, हे देवेश ! हे जगन्निवास जो कोई भी सत् (स्थूलं) – असत् (सूक्ष्म) (जगत्) (है) उन सबसे आप श्रेष्ठ और अविनाशी है– अक्षर हो । हे अनंतरूप ! आप आदिदेव हो, पुराणपुरुष हो, विश्वके परम आश्रय हो, आप ज्ञाता (सर्वज्ञ) हो, वेद्य हो, परम धाम हो, आपसे सारा जगत् व्याप्त है, – परिपूर्ण है।"

अर्जुन ज्ञान–भक्ति– रत्नके चाकचक्यसे स्पष्ट देख नहीं पाया । "**ओ३म्**"– अक्षरात्मक, "**विश्वरूप**" भी अक्षरात्मक और अक्षर तो भगवानका धाम !– भगवानका चरण । उसमें कुछ भेद जैसा होगा । अक्षर–चरण है, ज्ञानीको अक्षर–सायुज्य मिले । भक्तको तो पुरुषोत्तम मिले । तो अंतर क्या ? यहाँ अर्जुन ओ३म्, विश्वरूप, पुरुषोत्तमके चतुर्भुज– द्विमुजादि – स्वरूप भेदका, साकार– निराकारका सगुण– निर्गुणका– उपास्य विषयके प्रश्न नहीं पूछता है !– उपासकके विषय में !

"**एवं सतत–युक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।**
ये चाप्यक्षरभव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ।।" (१)

पूर्वोक्त प्रकारसे, सर्वसंग– परित्यागसे अनन्य सन्निष्ठ भक्त

जो आपको प्रकट आनंदमयको भजते है और जो अव्यक्त – अक्षरकी उपासना करते हैं, उनमेंसे योगवित्तम उपायज्ञ श्रेष्ठ कौन है ?! "**पर्युपासते**"– से, "**अप–परिवर्जन**" –से अन्योपासन छोड़के आपकी निकटमें रहकर भजन करनेवाला भक्त है ।

भक्तिकी महिमा :

पुरुषोत्तम– भक्त और अक्षरोपासकमें श्रेष्ठ उपायज्ञ कौन है?! भगवानने सिद्धान्ततः प्रकट पुरूषोत्तमकी सर्वोत्तमता बताई। भक्तिका गौरव किया । याथार्थ्य बताया स्वयं भगवानको भी वश करनेवाली शक्ति है – भक्ति ! भगवानको प्राणसे भी अधिक प्रिय है – भक्ति ! ज्ञान और वैराग्यकी जन्मदात्री – माँ है – भक्ति ! ज्ञानकी प्रिय पुत्रि भी है–भक्ति ! "इसमें" प्रकट प्रभुमें– परम प्रेम स्वरूपा है– भक्ति ! मुक्ति भगवानने दी हुई दासी है, ऐसी महारानी है भक्ति ! भक्तो का सब प्रकारसे आत्मपोषण करनेवाली है– भक्ति ! जीवके सर्वदोषोको संपूर्ण दूर करती है– भक्ति ! मृत्युसे मुक्त कराती है– भक्ति ! जीवनको सफल बनाती है– भक्ति ! जीवनका धर्म– बल– फल है भक्ति! मुक्तिसे भी महेंगी है – भक्ति ! ब्रह्मज्ञानीओंको – ब्रह्मभूत हो गये हुएको भी प्राप्तव्य है– भक्ति ! परमहंस– मुनिगण– अमलात्माओंको भी दुर्लभ है– भक्ति ! स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट होकर मुख्यफल देते हैं – भक्ति ! प्रभुका प्रदान है – भक्ति! सर्वजनोद्धार–परायण है – भक्ति ! सत्पुरुषोकी आदृत है– भक्ति। महापुरुषोंकी विमृग्य है– भक्ति ! भगवानका तत्वतः– ज्ञान कराती है– भक्ति !

भक्तिका स्वरूप– दर्शन :

वेदमें व्यक्त है – "**भक्तिरस्य भजनम् । तदैहिका–मुष्मिक – फलभोगत्यागपूर्वकममुष्मिन् मनःकल्पनम् ।**" यह प्रभुका भजन है– भक्ति ! वह यह लोक परलोकके– फल– भोगके त्यागपूर्वक यह प्रभुमे मन लगाना ! "भज **सेवायाम्**" धातुपाठ है । "**भक्ति**"– शब्दमें "भज्" धातु है, स्त्रीलिंगमे "**क्तिन्**" प्रेमार्थक प्रत्यय है । धातुका अर्थ– सेवा, प्रत्ययका अर्थ – प्रेम, और स्त्रीलिंगका सूचितार्थ – वशत्व है । यह सबके योगसे "**भक्ति**"का अर्थ है – प्रभुको वश होकर प्रेमपूर्वक सेवा! जो वश होता है वह वश करता है ! "**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथेव भजाम्यहम् ।**"– गीताजी (४–११) तथा "**यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथामुखश्रीः।**" –श्रीभागवत (७–१–११) – जो मुझे जैसे (शरण) प्राप्त होता है, उनको मैं वैसे (फलदानसे) भजता हूँ तथा भगवानको जो जो मान देता है वैसा वैसा उसको मिलता है, जैसे दर्पणमें बिम्बानु रूप प्रतिबिंब होता है, हसतेको हसता, रोते हुएको रोता। प्रेम करते हुएको प्रेम करता, दिखाई देता है – भगवान् ! जो वश होता है– भगवानको, उनकी वश होते हैं– भगवान् ! "**वशीकुर्वन्ति मां भक्तया भक्ति सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा।**" – –श्रीभागवत (९–४–६६) – जैसे सन्नारी अपने सत्पति को वश करती है । अतः भक्ति तो शक्ति है – भगवानको वश करनेकी ! भक्ति वह प्रभुका भजन है– जो यह लोक– परलोकके

फलभोगका त्याग करके यह– प्रभुमें मनको लगा देना !! **वृत्तिः स्वाभाविकी तुया ।**”–श्रीभागवत (३–२५–३२)– वेदोक्तकर्म-परायण इन्द्रियवालेकी भगवानमें स्वाभाविकी– मनोवृत्ति है– भक्ति !

प्रभुकी प्रिया – भक्ति :

श्रीमदभागवतके पद्मपुराणीय– माहात्म्यमें कहा है– “**त्वं तु भक्तिः प्रिया तस्य सततं प्राणतोऽधिका त्वयाऽऽहूतस्तु भगवान् याति नीचगृहोवपि ।**” (२–३) “तुम तो भक्ति हो, उस (भगवान्)की प्राणसे भी अधिक प्रिया हो । आपके वश, आपके बुलाये हुए भगवान् नीचके घरमें पधारते हैं । आचार-विचार– अधिकारादिसे अगर कोई हीन भी हो, विषयविलीन हो, मनोमलिन हो, सर्वदोष– दुष्ट हो, उसकी भक्ति– शक्तिके प्रभावसे भगवान् ऐसे घरमें भी वश होकरके पधारते हैं, प्रकट भी हो जाते है ! जैसे हिरण्यकशिपुके घरमें उसके भक्तपुत्र प्रह्लादके वचन सत्य करनेके लिये भगवान् अलौकिक नृसिंह रूपसे प्रकट हो गये ! घर तो हिरणकशिपुका असुरका अपवित्र! अपवित्रमें प्रभु न पधारें, फिर भी प्रकट पधारे ! नीचके घर ! भक्तिके बुलाये हुए !

मुक्ति जीसकी दासी है– ऐसी भक्ति : भूतला पर भक्तिका छायारूप :

“**मुक्ति दासीं ददौ तुभ्यं ज्ञानवैराग्यकाविमौ पोषणं स्वेन रूपेण वैकुंठेत्वं करोषि च भूमौ भक्तविपोषाय छायारूपं त्वयाकृतम् ।**” (२–७–८) भगवानने भक्तिको– दासी दी– मुक्ति ! दो पुत्र दिये– ज्ञान और वैराग्य । भक्तिदेवी वैकुंठमें तो अपने स्वरूपसे भक्तोंका पोषण करती है । भूतलमें भक्त पोषणके लिये भक्तिने अपना छायारूप प्रकट किया है । ज्ञान और वैराग्य तो भक्तिके बेटे हैं । माँके बिना बच्चोका योग्य पोषण कैसे हो सकता है ? भक्तिके बिना ज्ञान– वैराग्य– तो नमाये– दयापात्र– हो जाते हैं । माँ भक्तिसे ही उत्पन्न होते है, पुष्ट होते हैं– ज्ञान और वैराग्य !

ज्ञानकी पुत्री– भक्ति :

“नारद– पंत्ररात्र”में कहा जाता है– “**माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोकधिकम्ः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ।**”– भगवानके माहात्म्य–ज्ञान–पूर्वक सुदृढ और सर्वाधिक– स्नेह है– भक्ति ! अन्य– व्यर्थ ज्ञान तो अहंकार बढानेवाला– माहिती (जानकारी)रूप, बोझिल होना संभव है । “मैं करता हूँ”, “वह करता है” वगैरह– भान सत्कार्य करनेवालोंको भी अगर होता है– तो अपनी महिमाका भान होता है, इससे तो अपनेमें सुदृढ प्रेम होता है– अहंकार बढता है– दृढ होता है– सर्वाधिक होता है । “भगवान् करते हैं– भगवान् कराते हैं”– यह मानसे भगवानकी महिमा ज्ञात होती है, भगवानमें स्नेह होता है, बढता रहता है– सुदृढ होता है, अन्य किसी के प्रति न हो ऐसा– इतना– सर्वाधिक– होता है। यह है– भक्ति । ज्ञान ही भक्तिमें परिवर्तित हो जाता है ! अथवा माहात्म्य– ज्ञानसे हुई– ज्ञानकी पुत्री– भक्ति !

भक्तिकी पुत्री भक्ति :

"स्मरन्तः स्मारयन्तश्व मिथोऽधोघहरं हरिम् ।
भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ।।"

–श्रीभागवत (११–३–३१)

भगवद्भक्त परस्परमें पाप–समूहको हरने–वाले हरिका स्मरण करते हैं, स्मरण कराते हैं, भक्तिसे उत्पन्न हुई भक्तिसे रोमांचित देहको धारण करते हैं । यहां साधनभक्तिसे फल– भक्ति उत्पन्न होती है, भक्तिकी पुनीत बेटी होती है– भक्ति !

सत्संगकी पुत्री भक्ति :

"सत्संगलब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता ।
स वैमे दर्शितं सद्भिरंजसा विन्दते पदम् ।"

–श्रीभागवत (११–११–२५)

सत्संगसे प्राप्त मेरेमें भक्तिसे मेरी जो उपासना करता है, वह निश्चितरूपसे सत्पुरुषोंसे बताये हुए मेरे धामको प्राप्त करता है । यहाँ सत्संगकी बेटी है– भक्ति !

ईश्वरमें परानुरक्ति– भक्ति :

शांण्डिल्य मुनिने अपने भक्तिसूत्रमें कहा है,– "**सा परानुरक्तिरीश्वरे ।**" सर्वनियामक – सर्वफलदाता – "**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः ईश्वरः**" करनेको, न करनेको, अन्यथा करनेको समर्थ है– ईश्वर ! शासन करनेका स्वभाव जिसका है– वह ईश्वर ! यह ईश्वरमें उत्कृष्ट अनुराग है– भक्ति !

परमप्रेमस्वरूपा भक्ति :

देवर्षि नारदजीने अपने भक्तिसूत्रमें कहा है – "**सा त्वस्मिन् परम प्रेम– स्वरूपा ।**" वह भक्ति तो है,– इसमें परम प्रेमस्वरूप, लगाता है ! यह सूत्र करते समय ही नारदजीके हृदयमेंसे उमडे हुए उत्कट भक्तिप्रवाहमें स्वयं प्रभु प्रकट हो गये । उसको देखकर नारदजीने तुरंत (सामने) हृदयमें– प्रकट प्रभुको देखकर ही– भक्ति– विषयका निर्देश नामसे नहीं, दर्शक सर्वनामसे कर दिया– "'**अस्मिन्**" इसमे ! और सब भक्ति स्वरूपोंका निरसन करते हुए कहा "'तु"– तो ! आशय हुआ,– और लोग जो कुछ भी मानते हों, मानें, वह (भक्ति) तो है– इस (प्रकट प्रभु)में परम प्रेम–स्वरूपा !

सर्वपापनिवारिका– भक्ति :

"केचित् केवलया भक्त्या वासुदेव– परायणाः ।
अघं धुन्वन्ति कात्स्न्र्येन निहारमिव भास्करः ।।–"

–श्रीभागवत (६–१–१५)

कृष्ण– परायण कई लोग केवल भक्ति द्वारा संपूर्णरीतिसे पापको धो देते हैं, सूर्य ओसको दूर कर दे ऐसे । सूर्य ओसको संपूर्ण दूर कर देता है, पीछे कोई अवशेष बचता नहीं है । "**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मात्कुरुतेऽर्जुन ।**" (४–३७) ज्ञानाग्नि सर्व कर्मोको जलाकर भस्म कर देता है । कर्म तो जलकर नष्ट हो गये, परंतु भस्म तो रही ! वह भस्म जिसके कर्म है उस ज्ञानीको लगानी पडती होगी ?! भक्तिमें तो पापके

पीछे कुछ भी बचता नहीं है। भक्त तो निश्चित रूपसे निश्चिन्त हो जाता है। अगर ज्ञानाग्नि पाप- पुण्य, तो भगवत्संबंधवाले ही सत्कार्य- सेवाकार्य- होते हैं। उसका तो फल है- प्रभुकी प्रसन्नता ! सेवारत भक्तको ही मिलेगी !

सायुज्यमोक्ष देनेवाली भक्ति : मुक्तिसे महेंगी – भक्ति :

“तैर्दर्शनीयावयवैरुदारविलासहासेक्षित वामसूक्तैः ।
हृतात्मानोहृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुंक्ते।।” –श्रीभागवत (३–२५–३६)

भक्तिमग्न साधुपुरुषोके परस्पर- गुणानुवादमें स्वयं भगवान् भी श्रवणके लिये पधारते हैं। भक्तोंको दर्शन भी अभिलषित रूपसे देते हैं। वह भगवानके दर्शनीय अवयव- उदार विलास रूप हास, कृपाकटाक्ष, मधुर- वार्तालापसे अंतःकरण- प्राणादि अपहृत हो जाते है, भक्त चाहता भी नहीं है, फिर भी भक्ति अणुगति- सायुज्यमोक्ष- दे देती है। मोक्ष तो भक्त नहीं चाहते हैं। **“मुक्ति लोन सी खारी लागे।” “वैकुंठ जाई मेरी बलाई।” “व्रज वहालुं रे वैकुंठ नहीं आवुं।”** मोक्षसे भी महेंगी है- भक्ति। मोक्ष मिले तो, मृत्यु क्या कर सकती है ?! **“अतिमृत्युमेति”**– श्रुति है। मृत्युके उल्लंघन है- मोक्ष ! मुक्तिके बाद जन्म नहीं तो मृत्यु कहांसे ?! मोक्षमें मृत्यु मर जाती है। यहाँ मुक्ति ही भक्ति ने ! मृत्युसे मुकत कराती है- भक्ति !

भक्ति मिली तो बाकी क्या रहा ?! पाँचवा पुरुषार्थ भक्तिः

“एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् ।
मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावंशिष्यते ।”

–श्रीभागवत (११–१९–२४)

इस प्रकारसे, आत्मनिवेदन – करनेवाले मनुष्योंके धर्मोसे मेरेमें भक्ति उत्पन्न होती है। ओर दूसरा क्या प्रयोजन उसका अवशिष्ट रहा ?! कुछ भी नहीं ! सब पुरुषार्थ भक्तिसे पूर्ण हो जाते हैं। दुःखनिवृत्ति तथा सुखप्राप्ति तो प्राणीमात्र चाहते हैं। दुःखनिवृत्ति होती है – धर्म और अर्थसे। सुखप्राप्ति होती है – काम और मोक्षसे। यह चार माने है- पुरुषार्थ – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ! भक्ति है- पांचवा पुरुषार्थ ! सब सुलभ होता है- भक्तिसे। जीवन को सफल बनाती है- भक्ति !

“भक्तिं लब्धवतः साधो किमन्यदवशिष्यते ।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि ।”–

–श्रीभागवत (११–२६–३०)

अनंत गुणवाला, ब्रह्म, आनन्दानुभवरूप, मेरे (श्रीकृष्ण) में, जिसने भक्ति प्राप्तकी उसको अन्य क्या बाकी रह जाता है?! कुछ भी नहीं। सब कुछ सुलभ होता है- भक्तिसे ! जीवनका धन- बल- फल है- भक्ति !

ब्रह्मज्ञानी- ब्रह्मभूतको भी प्राप्तव्य फल है- भक्ति :

“ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मदभक्तिं लभते पराम् ।"

—गीताजी (१८–५४)

ब्रह्मज्ञानसे ब्रह्मभूत हो गया हुआ, प्रसन्न – निर्मल – अंतःकरणवाला (कोई भी वस्तु– व्यक्ति वगैरेके लिये) न शोक करता है, न (कुछ भी लाभकी) इच्छा करता है, सर्व प्राणियोंमें समान भाववाला है, उसको भी अभी तक नहीं मिलती है – भक्ति ! ब्रह्मज्ञानीको भी फलरूपमें प्राप्तव्य है – पराभक्ति । – प्रेमलक्षणा भक्ति !

परमहंसोको भी दुर्लभभक्ति :

कृष्णावतार– भक्ति– दानार्थ :

"तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः ।"

—श्रीभागवत (१–८–२८)

नीरक्षीरविवेक– रीतिसे, आत्मानात्मविवेकसे, अनात्मका त्याग– आत्माका ही स्वीकार करें यह तो है – हंस ! सर्वत्र आत्मा (परमात्मा)को ग्रहण करे, यह है – परमहंस ! परम आत्मतत्वका मनन करते हैं – मुनिलोग । इससे रहता है – अंतःकरण – अमल ! परंतु इन तीनोंको भी दुर्लभ है – भक्तियोग ! वह देनेके लिये तो पधारे हैं– स्वयं श्रीकृष्ण । हम स्त्री है,– कैसी रीतसे जान सकती है ?! परमहंस – मुनिगण – निर्मल हृदयवालोंको भी दुर्लभ है – भक्ति ! स्वयं भगवान श्रीकृष्ण प्रकट होकर मुख्यफल देते हैं – भक्ति !

प्रभुका प्रदान है – भक्ति :

"प्रदानवदेव तदुक्तम्"– ब्र. सू. (३–३–४३) भक्तिकी सर्वोत्कृष्ट दशा है–सर्वात्माभाव ! वह शास्त्रोक्त–कर्म–ज्ञान–भक्तिसे साध्य नहीं है । भगवानने ही कहा है–वह तो वरदान युक्त ही है । प्रभु ही स्वेच्छासे कृपा करके दें, तब प्राप्त हो सके । सर्वात्मभावमें, भगवत्स्वरूपकी प्राप्तिमें होता विलंब सहन न होने से, अत्यंत आर्ति (आतुरता) से, भगवत्स्वरूपके बिना अन्य कुछभी स्कुरायमान न होनेसे, वह भावकी स्वाभाविकतासे गुणगानादि साधन करने पर भी भगवत्सस्वरूप प्राप्त न होनेसे, इसमे अपनी अब अशक्यता समजके प्रभुकी ही शरण भक्त करता है । यह स्वकृति साध्य नहीं है, प्रदान युक्त है । भगवानका चिदंश है–जीव ! उसका धर्म है–ज्ञान ! जीवको ज्ञान हो सकता है, भक्ति नहीं । भक्ति तो आनंद–भगवानका धर्म है । भगवान् जब इच्छा करे, जीवका वरण करे, अनुग्रह करें, तब मर्यादाभक्ति–पुष्टिभक्ति– सर्वात्म–भावादिका प्रदान (वरदान) करते है । वह है वर–श्रेष्ठदान । प्रभुका प्रदान है– भक्ति ।

भगवत्कथासे सुखद भक्ति :

सर्वजनोद्धार– परायणा– भक्ति :

"यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोSस्य सिद्धिदः ।।"–

—श्रीभागवत (११–२०–८)

भगवदिच्छासे कृष्णकथादिमें जिस मानवको श्रद्धा हुई है, जो संसारमें अत्यंत विरक्त नहीं है, अत्यंत आसक्त नहीं है, उसको भक्तियोग सफलता–प्रद है । कर्ममार्ग – ज्ञानमार्ग तो उनके उपयोग के नहीं है । प्रायः समाजमें लोग अत्यंतासक्त वा अत्यंत विरक्त नहीं होते हैं । इसलिये सर्वजनोद्धार–परायणा है – भक्ति ।

सत्पुरुषोंकी आदृत– भक्ति :

"साधुस्तवोत्तमश्लोक मतः कीदृग्विधः प्रभो ।
भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत कीदृशी सद्भिरादृता ।।"–

–श्रीभागवत (११–११–२६)

हे प्रभो ! किस प्रकारका साधु (भक्त) आपने माना है ? आपके लिये कैसी भक्ति उपयुक्त हो सकती है ? सत्पुरुषकी आदृत– भक्ति कैसी है ? उद्धवजीने कृष्णको पूछा । जवाबमें उत्तमश्लोक भगवानने भक्त– लक्षण बतायें तथा मर्यादा–भक्ति– प्रकार बताया । सत्पुरुषोंकी आदृत है– भक्ति !

महापुरुषोंका मृग्य भक्तियोग :

"ज्ञानं विशुद्धं विपुलं यथैतद्
वैराग्यविज्ञानयुतं पुराणम् ।
आख्याहि विश्वेश्वर विश्वमूर्ते
त्वद्भक्तियोगं च महद्विमृग्यम् ।।"–

–श्रीभागवत (११–१९–८)

वैराग्य– विज्ञान– युत पुराण– विशुद्ध– विपुल– ज्ञान और महद् विमृग्य आपका भक्तियोग कहो ! जवाबमें भगवानने आत्मनिवेदिजनोका भक्तियोग बताया । महापुरुषोंको भी विमृग्य (खोजने योग्य) है प्रकट– प्रभुकी– भक्ति !

भगवानका तत्त्वतः ज्ञान–दर्शन भक्तिसे :

"भक्त्या त्वनन्यया शक्यमहमेषंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।।"–

–श्रीगीताजी (११–५४)

"भक्त्या मामभिजनाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।"–

–श्रीगीताजी (१८–५५)

हे अर्जुन ! इस प्रकारके ऐश्वर्यसे युक्त मैं, शक्य हूँ । तत्त्वतः (वास्तवरूपसे) जाननेको, देखनेको (साक्षात्कार), और प्रवेश प्राप्त करनेके लिये भी– अनन्य भक्तिसे ! मैं तत्त्वतः जितना हूँ, जो हूँ, वह मुझे (परा) भक्तिसे जानता है, बादमें मेरेको तत्त्वतः जानके अंदर प्रवेश करता है । इस प्रकार, भगबानका तत्त्वतः जानके अंदर प्रवेश करता है । इस प्रकार, भगवानका तत्वतः **ज्ञान कराती है– भक्ति !**

संसारके भागमें न रहना, भगवानके भागमें रहना, है– भक्ति : भक्ति है– गौणता :

भक्ति शब्द तो बहुत प्रसिद्ध है । कोश और व्याख्यामें तो अनेक अर्थ प्रसिद्ध है । विभाग– गौणवृत्ति भी भक्तिके अर्थ

हैं । अपने आप निःसार– संसारके भागमें न रहते हुए, "मैं भगवानका हूँ ।"– "तवाऽस्मि" –कहते हुए, कृष्णके हो जाना, प्रभुके भागमें– विभागमें– रहना, यह है – भक्ति ! प्रभुके होनेके लिये, प्रभुके सुखका संपादन करना, प्रभुको सानुकूल होना – भक्ति है । भक्ति करनेवालोंमें अभिमान न होना चाहिये, किसी भी बाबतमें अपनी मुख्यता नहीं चाहिये । मुख्यता प्रभुकी – गौणता अपनी ! गौणता, कमानेकी प्रवृति– व्यवहारवृत्तिकी और मुख्यता कृष्णसेवा की ! "दासोऽहम्" कहे तो दासकी तो गौणता होती है । "मैं हरिका हरि है – मम रक्षक !

संयमीकी स्वाभाविकी मनोवृत्ति – भक्ति :

"देवानां गुणलिंगानामनुश्रविककर्मणाम् ।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ।।
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।
जरत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ।।–"

–श्रीभागवत (३–२५–३२,३३)

रूप वगेरे – गुणोंसे पहचानी जाती, वेदमें कहे हुए कर्म करनेवाली, एकाग्र मनःवाला पुरुषकी, दैवीइन्द्रियोंकी, मात्र सत्त्वमूर्ति भगवानमें, कोई हेतुरहित, स्वाभाविकी वृत्ति (गति) है – भक्ति । जठराग्नि खाये हुए पदार्थोंको पचा देता है, ऐसे भक्ति लिंगशरीरको शीघ्र जीर्ण कर देती हैं । कोई हेतुरहित भगवानकी भक्ति तो सिद्धिसे भी उत्तम है । (सहेतुक) करे उसका नाम भक्ति नहीं हैं !

सगुण– भक्ति : निर्गुण– भक्ति :

व्यक्तिके स्वभाव–गुण मतभेदसे अनेकप्रकार भक्तिके हैं । हिंसा– दंभ– द्वेषादि मनमें रखकर भक्ति करे, वह क्रोधी तामस–भक्त है । सुख– यशः– ऐश्वर्यादि वगैरेहके लिये भगवानको भजे वह राजसभक्त है । स्वकर्म– नाशके लिये कर्म कृष्णार्पण करे, अर्चन जरूरी है – समजके करे वह सात्त्विकभक्ति है । गंगाप्रवाह जैसे अस्खलित बहता हुआ सागरमें मिलता है, ऐसे कृष्णगुणश्रवणमात्रसे अविच्छिन्न मनोगति कृष्णमें रहे, वह लक्षण है – निर्गुण भक्तियोगका । अहैतुकी और प्रतिकूलतामें भी रूके नहीं ऐसी, केवल पुरुषोतम भगवान् श्रीकृष्ण ही भक्ति है – निर्गुण– भक्तियोग ! अन्य– अवतारादिकी भी नहीं । आवश्यक आदर सबका करें, अपेक्षा– भय किसीसे न रखें । कर्म– ज्ञान– भक्ति–मार्गीय भी भक्ति तो होती हैं !

मर्यादाभक्ति : पुष्टिभक्ति :

शास्त्रीय– साधन– विहित– भक्ति प्रभु करावें तदनुसार फल दे– वह मर्यादाभक्ति है । बिना साधन, स्वयं अपनी कृपासे प्रभु आप मिल जाय– यह पुष्टि है । भक्ति कराना चाहे तो भक्तिका दान पुष्टिसे करते हैं– जीवको पसंद करके उससे – प्रेम प्रभु करते हैं, जीव बादमें प्रभुसे प्रेम करता है । यह प्रभुका मनपसंद जीवसे प्रेम और वही जीवका प्रभुसे प्रेम, यह परस्परका प्रेम है–"पुष्टिभक्ति" ! भगवानने उसका निर्देश करते हुए कहा,–

पुष्टिभक्तिमार्गीय – कृष्णसेवा– निर्देश :

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते भे युक्ततयाः मताः (२)

मेरेमें मन रखकर, जो नित्ययुक्त, परम श्रद्धावाले, मेरेको निकटमें रहते – भजते हैं, वे मेरे श्रेष्ठ माने हुए भक्त हैं ।

"**कृष्णसेवा सदा कार्या**"– "सिद्धान्तमुक्तावली" में **श्रीमद्-वल्लभाचार्य–चरण वेद– गीता– ब्रह्मसूत्र– भागवत– यह प्रस्थान– चतुष्टय की एकवाक्यतासे निष्पन्न सिद्धान्त कहते हैं– कृष्णसेवा सदा करनी आवश्यक है ।** "चतुःश्लोकी"में पुष्टिमार्गानुगुण पुष्टिलीला करनेवाला सेव्य-स्वरूप बताया– "**सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजधिपः**"– सर्वदा सर्वभावसे व्रजधिप भगवान् श्रीकृष्णको भजना आवश्यक है । जीवका यही तो स्वधर्म है, अन्य कोई भी नहीं, कहाँ पर भी नहीं, कभी भी नहीं । कृष्ण तो वैकुंठ– मथुरा– ब्रज-द्वारका– दुनिआमें सर्वत्र– सर्वदा है ही । लीलानुरूपतासे कृष्ण सर्वत्र– सर्वदा बिराजते है । दशलीला– विशिष्टरूपसे तो वस्तुमात्रमें भी बिराजते है– कृष्ण ! कृष्ण तो सर्वत्र–सर्वदा वंदनीय हैं; परंतु जहाँ आप अपार– उदार– अनुग्रहसे आत्मीय भक्तोंकी प्रेमप्रगाढता– प्रबलतामें परवश हो जाते हैं, भक्ता-भिलाषानुसारी–चरित करते हैं, मुख्यतासे माधुर्य प्रकट करते हैं, यह प्रेमविजय– प्रेमपरवश प्रभुका पराजय, माधुर्यमहिमा, भगवानकी भक्तवश्यता है– पुष्टि ! पुष्टिस्थ भगवान् प्रायः प्रकट है– व्रजमें ! प्रायः तो इसलिये कि जहाँ पर भी जब भी जो चाहते हैं, अपनी पुष्टि व्रज– लीलाके साथ प्रकट हो जाते है-जहाँ सेवा होती है वहा बिराजते है, स्वतंत्र भी अनुभव करते है । जहाँ ऐसे प्रभु बिराजते है–वहां व्रज ही होता है । आज श्री भगवान् स्वेच्छासे अनुगृहीत स्वभक्तोंको लीलासहित दर्शन देते हैं, लीलाका अनुभव देते हैं । भगवान्–भक्त–लीलादि सब नित्य है । मात्र आविर्भाव तिरोभावसे अनुभवका होना–न होना–होता हैं ! इसलिये, पुष्टिभक्तिमार्गमें तो भजनीय है– व्रजाधिप! यद्यपि कृष्णतो वैकुंठ–व्रज–द्वारका–दुनियामें एक अद्वितीय पुरुषोत्तम रूपसे बिराजते है, वंदनीय ही है । परंतु लीलाभेदसे अनुभवभेद तो होता है, स्वरूप बदलता नहीं है, पुष्टिभक्ति मार्गानुकूल अनुभव होता है–व्रजलीलामें । इस व्रजलीला–विशिष्ट भगवान् कृष्ण– "**व्रजाधिप**" ही पुष्टि भक्तिमार्गमें भजनीय है ।

कृष्णसेवामें – "**मानसी सा परा मता**" मानसीसेवा श्रेष्ठ है– फलरूपा है । "**चेतस्तत्प्रवणं सेवा**" कृष्णके प्रति स्वाभाविकतासे झुकता न बहता हुआ चित्त– है सेवा ! भगवानमें चित्त लगातार लगा रहे– तद्रूप हो जाय – यह मानसीसेवा है। चित्त ज्ञानप्रधान है । मनः क्रियाप्रधान है । सेवा मानसी है । और "**प्रवण**"– "**प्रह्वीभाव**" झुकाव तो चित्तका है । चित्त–मन, ज्ञान–क्रिया दोनों भगवत्संबंधवाले हो जाय तो भगवदनुभव सुलभ हो ही जाता है । "**तत्सिद्धयै तनुवित्तजा**" मानसीसेवाकी सिद्धिके लिये तनुवितजा– सेवा आवश्यक है । अपने तनसे,

अपने धनसे, अपने सेवानुकूल घरमे रहकर, अपने परिवारके साथ, मन लगाके व्रजधिपतिकी सेवा करनी आवश्यक है। सेवानुरूप समझ अपने में और अपने परिवारमें स्पष्ट हो, दृढ हो, विकसित हो,– इसलिये अपने– अपने धर्म सिद्धान्तोंका जीवनमें यथार्थ श्रीआचरण हो इसलिये अपने परिवारके साथ घर घरमें नित्य नियमित अपने शास्त्र– धर्मग्रंथोका सेवन– सत्संग– करें और सेवा करें। यह उपाय है– कृष्ण– सदानन्दके स्वरूपानन्दके अनुभवका। "**मय्यावेश्य मनः**"– "मेरेमें मन लगाकर– यह इंगित है, गूढाभिप्राय है। "**मयि**"– यह बोलते हुऐ प्रकट प्रभुमें, सदानन्द कृष्णमें, नित्यलीलास्थ होते हुअे भी, स्वभक्तोंके लिये भक्त– घरमें बिराजते हुए, सेव्य स्वरूपमें "मनः आवेश्य" मनमें (भावका आवेश वा प्रवेश कराके अथवा मनको प्रभुमें प्रवेश कराके– मन लगाके– भगवानका सेवन करना आवश्यक है। अपने ही तन– धनसे मन लगाकर होती है– कृष्णसेवा! अन्यको धन देकर कराई हुई, या अन्यका धन लेकरकी हुई सेवा फल नहीं देती है– अहंतादि रजोगुण को बढाती है। भक्त घरमें जो सेव्य– स्वरूप बिराजता है, वह जड चित्र वा मूर्ति नहीं ही है। इसी ही रूपसे भगवान् साक्षात् बिराजते ही हैं। "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**"। वेद वाक्यसे– यह सब ब्रह्म–रूप है, तो चित्रके कागज, रंग, आकृति– आदि सब भी ब्रह्म ही है। मूर्तिकी धातु, आकृति, आदि सब ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही सब है, और पुनः ब्रह्म औपनिषत्पुरूष है, उसका स्वाभाविक स्वीकृत आकार भी चित्र वा मूर्तिमें है। बादमें,

मर्यादामार्गमें विधिसे मंत्रपूर्वक प्राणप्रतिष्ठाकी जाती है। अब वह मूर्ति नहीं है, इसी ही रूपमें मूर्त भगवान् है अथवा पुष्टिमार्गमें सामान्यतः गुरूजी द्वारा व्रजलीलानुकूल मनोहर मूर्ति लाकर गुरुदेवको सेव्य–करनेकी विनतीपूर्वक दी जाती है। सामान्यतः आचार्य वंशज द्वारा श्रीमहाप्रभुजी उस मूर्तिको विधिपूर्वक पंचामृतस्नान– अंगन्यासादि– पूतनाकवचादि भी कराके उसको स्नान–शृंगार राजभोगादिके बाद, अपने भावसर्वस्वरूप– यह भगवत्स्वरूपको सेवकको पधरा देते हैं। ऐसी व्यवस्था है। अब वह मूर्ति नहीं है– साक्षाद् भगवान् ही है। अब जहाँ मूर्तिके हाथ– पैर दिखते है, वहँ वह प्रभुके ही हस्त–चरण है। मूर्तिमें नहीं, प्रकट रूपमें, "मैं– यह जीवका उद्धार– अंगीकार– करुंगा" – यह संकल्पसे "सत्य संकल्प" भगवान् ही बिराजते हैं। मूर्तिकी नहीं– भगवानकी ही सेवा होती है।

सर्वसमर्थ भगवान्, श्रीनन्दरायजी के घरमें, बालकरूपसे उत्पन्न हुए है; तो सेवाभी वहाँकी उसी प्रकारसे होती है,– उसमें अयुक्त कुछभी नहीं है। क्या सर्वसमर्थ भगवान् बालक होनेमें, सेव्य स्वरूप– रूपसे, प्रकट होनेमें असमर्थ है ?! यह भगवान् खाते हैं, पीते हैं, बोलते हैं, सोते हैं, जगते हैं, झुलते हैं, सब कुछ करते हैं। भगवत्कृपाके बिना जीवकी मायामोहित बुद्धिको अनुभव उसका नहीं होता है। भोग धरते हैं, प्रभु आरोगते हैं, परंतु कुछ कम नहीं होता है, विकृत नहीं होता है, यह भगवानका सामर्थ्य है। वेदमें है– "**पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाव शिष्यते।**"– पूर्णमेंसे पूर्ण लेकर पूर्ण ही बचता है। एक दीपमेंसे सेकडों

दीप जलाने पर भी प्रथम दीपकी ज्योति कम नहीं होती है, ऐसे प्रभुसंबंधसे वस्तु पूर्ण हो जाती है । पूर्ण प्रभु पूर्ण आरोगते हैं; परंतु पूर्ण ही रहती है । श्रद्धासे सफलता है। जैसे है तैसे ही भगवत्सवरूपका स्नेहसे स्वीकार भी भक्ति है । भक्तके लिये जिस भी रूपसे भगवान पधारते हैं, उसी ही रूपसे भक्तको तो स्वीकार्य है । भक्त- भगवानके बीचकी यह तो बात है । भक्तोंके लिये ही भगवान् प्रकट होते हैं- कर्मी- ज्ञानी- योगी- प्रभृतिके लिये नहीं । कर्मीको- यज्ञफलादि, ज्ञानीको- ज्ञान वा मोक्ष, योगीको- योग- सिद्धि- वा कैवल्य चाहिये, भगवान् नहीं । तो उनके लिये भगवान् क्यों प्रकट हो?! हां, प्रकट प्रभुके लाभ तो उनको मिल जाते हैं, खुशीसे ये लोग लेते भी हैं । अवतारमें या आकृतिसे विकृतिका भय अपनेको ज्ञानी मानते हुए अज्ञानीको लगता है ! आकृति स्वीकारनेवालेको तो भय नहीं होता है । प्रत्युत यही रूपसे अभय वह देते हैं, लोक लेते हैं । ब्रह्मको निराकार ठहराते हुए, अक्षरब्रह्मसे उत्तम नराकार परब्रह्म श्रीकृष्णने कहे हुए वेद गीतादि- वाक्योंके उपयोगसे ज्ञान पाकर ज्ञानी तो हो सकते है !!! भक्त तो स्नेह-श्रद्धासे सेवा करके कृतार्थ हो जाते हैं । अप्राकृत- अविकृत- आनन्नदमय स्वरूप है- भगवानका! "**मयि**" - प्रकट, सेव्य स्वरूप, विराजे भगवानमें "**मनः आवे श्य**"को इ भी स्नेहसंबंधसे, दास्य- वात्सल्य- सख्य- मधुर- भावसे, प्रेमलक्षणाभक्तिसे सेवा होती है । कृष्ण- सेवामे योग्य पवित्रता जरूरी है- जो शास्त्रोक्त है । धर्मके चार चरण है- तपः, पवित्रता, दया और सत्य । ये दैनंदिन जीवनमें जरूरी है ।

उनके उपर सब धर्मप्रक्रिया की जाय तो सफ़लता हो । सेवा जीवधर्म है, नींवमें यह बाह्याभ्यंतर- पवित्रता भी जरूरी है । यह जनसंपर्क न रहनेसे होती है । मन प्रभुमें रहनेसे आंतर- पवित्रता होती है, तन भी ऐसे अन्यसंबंधरहित होनेसे बाह्यशुद्धि होती है । जो "**अस्पर्श**" है । कृष्णके बिना अन्यका स्पर्श नहीं वह अस्पर्श है । अथवा अकार वासुदेव होनेसे- कृष्ण- स्पर्श ही अस्पर्श है । कृष्णके स्पर्शके लिये ही अस्पर्श रखी जाती है । जैसे संन्यासमें भी सर्वजनसंपर्क- निषेध है हीं ! सेवामें प्रभुको भोग धरे जाते हैं; उत्सर्ग- व्यवस्था अप्राकृत स्वरूपमें नहीं होती है । एक योगी भी अपने योग सामर्थ्यसे मलमूत्रका विजय कर सकता है, तो स्वयं योगेश्वरेश्वर कृष्ण तो क्या नहीं कर सकते है ?! अतः बाल- भावकी सेवामें भी मलादि प्रसंग यहाँ नहीं है । वा भीम खाय, शकुनी जाय ! लोकप्रसिद्ध बातकी तरह प्रभु आरोगे ओर अैसा कुशंकाशील ही जाय ! इससे ऐसी सेवामें जरूर नहीं है । सेवामें ? सेवक- शरीर- जीवनयात्रा- निर्वाहके लिये "**असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्णनमाचरेत्**"- "सिद्धन्तरहस्यमें" आज्ञा है । निर्दोष भगवानके संबंधसे ही वस्तु मात्रकी निर्दोषता होती है । जैसे गंगाजीके प्रवाहमें मिले हुए शेरीके पानीकी भी गंगारूपता हो जाती है । भगवानको दान किये हुए पदार्थ अपने उपयोगमें नहीं ले सकते हैं, समर्पित- निवेदितसे तो प्रसाद होनेसे निर्वाह कर सकते हैं । जो कुछ भी अपने प्रभुको समर्पित किया हो यही वस्तु अपने जीवनोपयोगमें लेनी जरूरी है । मिश्री धरे तो मिश्रीसे निर्वाह करे, दूध- फल धरे तो इससे ! कोई दुराग्रह नहीं है- अमुक ही धरे । स्वयं

करे, स्वयं धरे, धरे इससे पेट भरे। समर्पित भी सब लेना जरूरी नहीं है। देश- कालानुसार अपना स्वास्थ्य सेवानुरूप रहे ऐसा और इतना ही समर्पितमेंसे लें। आज्ञा है – असमर्पितके त्यागकी। मिश्री- आदि पधराके प्रसादी बना लेना मुख्य नहीं है, आपद् धर्ममें चले। असमर्पितत्यागसे मन-देह सेवा- योग्य रहते हैं। मन वह अपने घरमें बिराजते हुए प्रभुमें लगाकर, सर्वात्म भावसे, नित्ययुक्त (परायण), "यह बिराजते हुए भगवान् ही मेरा सर्वस्व है, बल है, फल है, पुरुषार्थ है" – यह परम श्रद्धासे निश्चित करके, जो लोग उपासना करते हैं, सेवा करते हैं, तन-मनसे निकट रहते हैं, वे लोग मेरे (पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके) सेवक ही- उत्तम भक्त है, मुझे (कृष्णको) संमत है।

अक्षरब्रह्मके आराधकको अधिक क्लेशादि :

"ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥" (३)

"तु" – "तो" – से, भगवानने यह प्रकार अपनेको अभिष्ट- उत्तम- नहीं है, भेद बताया।

१. अक्षर – अव्यक्त (अप्राकट) है, मैं पुरुषोत्तम – व्यक्त (प्रकट) हूँ।

२. अक्षर – अनिर्देश्य है, मैं पुरुषोत्तम – स्वेच्छासे अलौकिक- निर्देश योग्य हूँ।

३. अक्षर-सर्वत्रग (रहा) है,-मैं पुरुषोत्तम- भक्तैकगम्य हूँ।

४. अक्षर – अचिन्त्य है, मैं पुरुषोत्तम – भक्तोसे सुचिन्त्य (चिन्त्लयोग्य) हूँ।

५. अक्षर – कूटस्थ है (सर्वसाधारण) (प्रपंचाधार)- मैं पुरुषोत्तम – असाधारण हूँ। सर्वाधार हूँ।

६. अक्षर – अचल (स्थिर) है, अवतार नहीं लेता है, मैं पुरुषोत्तम – चल हूँ – लीलानुकूल चलता हूँ। (मूलरूपसे पधारते हैं, अवतार भी लेते हैं।)

७. अक्षर-ध्रुव (पदरूप) है, मैं पुरुषोत्तम – पदस्थित हूँ।

८. अक्षर – गणितानन्द है, बृहत् है, पुरुषोत्तम – पूर्णानंद, परब्रह्म हूँ।

९. अक्षर – पुरुषोत्तमका आसान, पुच्छ, चरण रूप है, मैं पुरुषोत्तम- आसीन, उपरका शरीर हूँ।

१०. अक्षरके उपासक "मां"- ब्रह्मानंद (लक्ष्मी) को प्राप्त होते हैं, मेरे पुरुषोत्तमके सेवक पुरुषोत्तम- प्राप्त होते हैं।

इन्द्रिय-समूहका संयम करके, सर्वत्र सम(ब्रह्म)वाले होकरके, अक्षरको भजनेवाले, सर्वप्राणीके हितमें रत लोग, "मां एव" लक्ष्मी रूप ब्रह्मानन्दको ही प्राप्त होते हैं। पुरुषोत्तम प्राप्त नहीं होते हैं। अथवा अक्षरके व्यवधानसे (मुझको) पुरुषोत्तमको प्राप्त होते हैं।

"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥" – (५)

अक्षरब्रह्मके आराधकोंको साधनदशामें भी अधिकतर क्लेश होता है। है ही – अव्यक्ता। इससे आसक्तिवालोंके लिये भी

व्यक्त नहीं होता है। आसक्ति तो प्रकट रूप चाहती है। तद्‌भावमें तो क्लेश ही बढ जाता है। उनको फलदशामें क्लेश ही मिलता है। अक्षरब्रह्ममें एकरूप– सायुज्य– मिलनेसे– “**अव्यक्ता गतिः**”– अव्यक्त गति हो जाती है। तृषा लगे तो सरोवर या नदीमें डूब जानेसे तृष्णा न आई, न गई। सायुज्य मोक्षमें ब्रह्मप्रवेशसे तो गणितानन्द– ब्रह्ममें (आनंद सरोवरमें) डूबने जैसा होता है। जैसे सरोवरके पास बैठकर आनंद ले सकें ऐसे आनंदमय पूर्णात्मक है उसके सेवा– संपर्क बिना आनंदका अनुभव नहीं होता है। केवल सायुज्यमें तो क्लेश ही मिलता है। लीलार्थ अैच्छिक (द्वैत) भेदसे ही आनंदानुभूति होती है। देहधारियोंको कठिन (दुःख)– है– अव्यक्तको प्राप्त करना ! “**श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवल– बोध– लब्धये तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्‌यथा स्थूल– तुषावघातिनाम् ॥**” –श्रीभागवत (१०–१४–८)– कल्याणस्राविणी पुरुषोत्तम– भक्तिको छोडकर जो लोग केवल– ज्ञान– प्राप्तिके लिये क्लेश करते हैं, उनको तो केवल क्लेश ही मिलता है, जैसे धान (चावल) निकाल देनेके बाद बचे छिलकेको कूटनेवालोंको क्लेश ही मिलता है। भागवत्‌सेवा– मार्गमें आरंभसे ही आनंद है। अक्षरज्ञान– मार्गमें क्लेश !

भगवानके लिये जो लोग सर्व– लौकिक– वैदिकधर्म छोडके अथवा लौकिक– वैदिक (नित्य–नैमित्तिक) कर्मभी भगवानके लिये ही करते हैं, ऐसे कार्य उत्तम– रीतिसे करके, भगवानको

सर्वकार्य– समर्पण कर दे, जेड दे, अनन्ययोगसे मेरा ही ध्यान करते हुए। मेरेमें आविष्ट चित्तवाले वे लोगको मैं मृत्यु– संसार– सागरसे (अनंत– जन्म– मरण– बंधन तथा अहंता– ममता से) शीघ्र ही उद्धार करता हूँ। अलौकिक– भजनोप–योगी शरीर देता हूँ। ध्यान वा सेव्य स्वरूपमें मैं प्रकट हो जाता हूँ।

मन– बुद्धि भगवान्में तो वास भगवानमें :

“मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥” (८)

“**मयि**”– मेरेमें– प्रकट पुरुषोत्तममें– स्वसेव्य स्वरूपमें, सर्वसमर्थ,– सर्वाधारमें, “**मन आधत्स्व**”– संकल्प– विकल्पात्मक मन, जैसा भी हो वैसा, सर्वत्रसे वापस खींचके स्थिर कर दें। “**मयि बुद्धिं निवेशय**”– “मेरेको भगवान् ही चाहिए”– ऐसे बुद्धिको निश्चयात्मिका करके, मेरेमें स्थिर कर दें। मन बिगडे तो जीवन बिगडता है। बुद्धि बिगडे तो सर्वसाधन– जीवन– व्यर्थ हो जाते हैं। दोनों सुरक्षित– अविकृत रहें– भगवत्संबंधसे! कुरुपितामह भीष्मने भी “**इति मति रूप कल्पिता वितृष्णा भगवति सात्त्वतपुंगवे विभूम्नि ।**”– (१–९–३२)– अंतकालमें भगवानको अपनी बुद्धिका ही समर्पण किया है। लौकिक– तृष्णारहित और भगवत्प्राप्ति– कामनाकी अलौकिक– तृष्णासहित वह – “**वितृष्णा**”– मति है। ऐसी ही बुद्धि भगवानसे देने योग्य है। दुष्ट– तृष्णावाली मतिको निर्दोष भगवान् क्या करेंगे?! भीष्मजीको यह मति समर्पणसे मति दी, रति चाही– गति मिली ! मन और उसकी नियामिका बुद्धि

भगवानमें रखनेसे अंतःकरण– निर्दोष– भगवद्योग्य हो जाता है ।– इसके बाद जीवनपर्यंत मेरे पास सेवा– कथा– लीला– स्वरूपके निकटमें रहूँगा, और जीवनके बाद मेरेमें– पुरुषोत्तममें– ही प्राप्त होगा, अक्षरमें नहीं । इसमें संशय नहीं है । श्लोकमें दोनों स्थानोमें "**मय्येव**" – "**मय्येव**" है, साधनरूप– मनःस्थापन और फलरूप– प्रभुप्राप्ति ! यहाँ तो फल और साधन दोनों ही है– अमोघ! सफल– अव्यभिचारी !– दोनोंमें आवश्यक है– अनन्यता । दो "एव" से वह स्पष्ट होता है । और सब धर्म भी छोडके अनन्यतासे भगवानकी शरणागति ही कृतार्थ करती है–, यह आगे अंतमें कहेंगे– उसका बीज यहाँ लगता है ।

जीवके लिये अनुकल्प भी हैः

– अगर, यह न संभव तो उदार भगवान् अब अनुकल्पभी बताते हैं । कैसे भी जीवका उद्धार हो, यह विचारसे दिया गया अनुकल्प भी अनुग्रहका एक स्वरूप है । चित्तको मेरे(कृष्ण)में **अगर** स्थिर करनेका शक्य न हो तो फिर भगवल्लीलाका श्रवण– कीर्तन– एवं स्मरणके बारंबार सतत आवर्तनरूप अभ्यास– योगसे मेरेको प्राप्त करनेकी इच्छा रख । **अगर**, ऐसा अभ्यास भी न हो सके तो मेरे कर्म– भगवत्प्रीत्यर्थ पूजादिमें परायण हो । भगवत्सेवा पूजादि– कार्य स्वार्थके लिये, फलेच्छासे, लौकिक– बुद्धिसे न करें । "प्रभु प्रसन्न हो," – इतना ही लक्ष्यमें रखें । इतनेसे भी अभ्याससिद्धि हो जायगी, फल होगा । **अगर**, यह भी न बने तो, अत्यंत सरल उपाय– बताया–, जिसको मेरा (कृष्णका) योग (आश्रय– संयोग) होता

है, **अथवा** जिससे वा जिसमें मेरा संयोग– (आश्रय)– हो, – ऐसे मेरे भक्तका आश्रित होकर, उनमें एकचित्त (अनन्य) होकर, अथवा भगवानके साथ अपना सेव्य– सेवक– संबंध रूप योग "मैं भगवानका दास हूँ" यह मनमें दृढ करके, सर्वकर्मोंके कलका त्याग कर । सन्ध्याग्निहोत्रादिके लौकिक– पारलौकिक– फलकी कामना न कर । भगवदाज्ञारूप शास्त्रोक्तकर्म है, यह समझके नित्य– नैमित्तिक कर्म करें, तो निष्कामकर्मसे चित्तशुद्धि होती है और चित्तशुद्धिसे भक्तने दिया हुआ ज्ञान हृदयमें स्थिर होगा, इससे भी भगवत्कर्मसिद्धि– फल लाभ होगा । भगवानने अनुकल्पोंका उपसंहार किया,– भगवल्लीलाके अनुस्मरणरूप अभ्याससे ज्ञान उत्तम है । अर्थात् ज्ञानयुक्त अभ्यास उत्तम है। केवल– ज्ञानसे भगवत्स्वरूपानुचिन्तन सहित ध्यान उत्तम है । अर्थात् ज्ञानाभ्यासयुक्त ध्यान उत्तम है । केवल ध्यानसे कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है । अर्थात् ज्ञानाभ्यास– ध्यान सहित भगवदर्थकर्म करना उत्तम है । ऐसे कर्मफलत्यागके बाद शीघ्र ही शांति मिलती है, भगवदभक्तिमें मन– बुद्धिकी स्थिरता होती है । लौकिक जय– पराजय, सुख– दुःखादिमें भी मन शांत– स्वस्थ– प्रसन्न रहता है, इसमें भगवदभक्ति– योगसे कृतार्थता होती है । अनुकल्पमें भगवानने अपनेमें मन– बुद्धि– निवेशके बाद, अभ्यास– कर्म– सर्वकर्मफलत्याग– बताये हैं । पुनः जब उपसंहारमें उत्तमता दिखाई तब तो पुरा क्रम पलट दिया है !– अभ्याससे ज्ञान, ज्ञानसे ध्यान, ध्यानसे कर्म (फल) त्यागको उत्तरोत्तर उत्तम बताये हैं । अद्भुतकर्मा कृष्णकी अद्भुतलीला

है ! विरुद्धधर्माश्रयी है,– अन्यथा कर्तुं भी समर्थ इश्वर है । द्वितीयाध्यायमें बताये हुए “**स्थितप्रज्ञ**” से तो यह बहुत कुछ आगे है, उत्तम है । ज्ञान, अभ्यास, ध्यान, कर्मफलत्यागका समन्वय प्रभुने बताया । यथाधिकार अनुसरणसे सफलता होती है ।

भक्तके ३२ लक्षण :

जिसमें भगवद्भक्ति– स्थिर है, वह भक्त हैं । भगवानके ३२ लक्षण है, ब्रह्मज्ञानीके भी ३२ लक्षण होते हैं ।– श्रीशुकदेवजेके ३२ लक्षण श्रीभागवतजीमें बताये हैं । यहाँ श्रीगीताजीमें भक्तके भी ३२ लक्षण बतायें हैं । भगवद् गुणगान भक्त करें मर्यादा है। भक्तके गुणगान एवं लक्षणवर्णन तो स्वयं भगवान् करते है। यह पुष्टि है । ऐश्वर्य– वीर्य– यशः– श्री– ज्ञान– वैराग्य– छःगुण– (भग)– है– भगवानके ! सातवें स्वयं भगवान् ! छः धर्मसहित होते हैं । इसलिये ७ श्लोकमें (१३)से (१९) में यह गुणगान है । भगवानने स्वभक्तोंमें स्वसमानता की है, यहाँ वह सूचित है । ये ३२ लक्षण प्रभुके प्रसाद– पुष्टि– सूचक है, इसलिये ऐसे भक्तोंका प्रियत्व भगवानने स्पष्ट कहा है ।

ज्ञानिभक्त प्रभुको अत्यंत प्रिय है– केवल ज्ञानी नहीं :

भगवान् ज्ञानीको भी प्रिय कहते है, आत्मा (स्वरूप)भी कहते है । “**प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।**” (७–१७)– ज्ञानीको में अत्यंतप्रिय हूँ, मुझको ज्ञानी प्रिय है । – “**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः ।**” (७–१८)– ज्ञानी मेरी आत्मा

है। परंतु ये सब बातें तो है– ज्ञानीभक्तके लिये !– केवल ज्ञानीके लिये नहीं है ! महत्ता तो भक्तिके कारण ही है । “**बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।**”– (७–१७) में, केवल ज्ञानीकी बात स्पष्ट है । यथार्थ ज्ञानवाले तो सुदुर्लभ है,– जो “**वासुदेवः सर्वम् इति ज्ञानवान्**” – वासुदेव सर्व (विश्व, जड– चेतन– रूप) है,– इस प्रकारका ज्ञानवाला हो । और वह भी– “**बहूनां जन्मनामन्ते मां प्रपद्यते ।**”– बहुत जन्मोंके अंतमें, जब हरीच्छासे अंतिम– जन्म होता है तब वह ज्ञानवान् मेरी शरणमें आता है । यथार्थ ब्रह्मज्ञानीका भी आखिरमें जन्म साफल्य तो है,– कृष्णकी शरणागतिमें ही ।– कृष्णकी परम– भक्तिमें ।

प्रभुका गुणरूप– ज्ञान, स्वरूपभूत– ज्ञान, ज्ञानी प्रभुका प्रियतम, फिर भी भक्तिसे ही कृतार्थता :

श्रीमद्भागवतमें भगवान् ज्ञानीको प्रियतम भी कहते हैं । “ज्ञानी **प्रियतमोऽतो** मे **ज्ञानेनाऽसौ बिभर्ति** माम् ॥ ”– (११–१९–३)– ज्ञानी मुझे अत्यंत प्रिय है, वह ज्ञानसे मुझे धारण करता है। वास्तवमें, “ज्ञान” भगवानका गुण है, और “सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म” – सत्य– ज्ञान– अनंत (आनंद) ब्रह्म है, यह श्रुतिसे ज्ञान भगवानका स्वरूपभूत भी है ।– धर्म और धर्मी– दोनों रूप ज्ञानके हैं । इससे सर्वथा सम्मान्य है– ज्ञान! भगवत्संबंधसे– ! कृष्णकृपाके **बिना**– कृपाजन्य भक्तिके बिना– यह भगवत्संबंधक (**धर्म**– धर्मी– रूपं) ज्ञान मिलता नहीं है। इसलिये श्रीभगवानने वहाँ ही कहा है,– ज्ञानीको प्रियतम–

कहनेके बाद– “**तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव, ज्ञानविज्ञानसंपन्नो भज मां भक्तिभावितः ॥**” (११–१९–५) हे उद्धव ! इसलिये ज्ञानके सहित आत्माको जानके, ज्ञानविज्ञान (अनुभव) संपन्न, भक्तिभावित तू मुझे भज ।– मेरी भक्ति कर!– मेरी सेवा कर । श्रीगीताजीमें स्पष्ट कहा है– “**भक्त्या मामभिजनाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥**” – (१८–५५)– मैं जो हूँ, जितना हूँ, यह तत्त्वतः मुझे भक्तिसे जानते हैं, पीछे मुझे तत्त्वतः जानने के बाद प्रवेश करतें हैं । “**ब्रह्मभूतः प्रसन्नत्मा– मद्भक्तिं लभते पराम् ॥**” (१८–५८) में, ब्रह्मभूत– प्रसन्नत्माको भी फलरूपमें परा कृष्णभक्ति मिलती है,– स्पष्ट कहा है– कृष्णने !

भक्तको भगवानको अपने स्वरूपसे भी अत्यंत प्रियतम हैः

भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रिय– मित्र– भक्त– ज्ञानी उद्धवजीसे कहते हैं,–

“न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः ।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥”
–(११–१४–१५)

मुझे इतने प्रियतम नहीं है–, ब्रह्माजी, नहीं है– शंकर, नहीं है– संकर्षण, नहीं है– लक्ष्मीजी, नहीं है– स्वयं मेरा स्वरूप, जितने– जैसे उद्धवजी ! आप– भक्त– मुझे प्रियतम हो ! भगवानको अत्यंत प्रियतम है– अपने भक्त । ब्रह्माजी भगवानके पुत्र है– वेदलब्ध है– भक्त है । शंकरजी पौत्र है– परम भागवत (मर्यादामें) हैं, स्वयं वेदरूप है । संकर्षण ज्ञानप्रद, व्यूहरूप, लीलास्थभी है, भक्त भी है । लक्ष्मीजी तो ब्रह्मानंदरूपा– भक्त है– पत्नी है– शरणामत भी है । ये सब स्वकीय भी इतने प्रियतम नहीं हैं, स्वरूप भी नहीं, जितने प्रियतम भक्त है– उद्धवजी है। यहाँ “आत्मा”का अर्थ ज्ञानी– ब्रह्मज्ञानी करें तो, ब्रह्मज्ञानी भी भगवानको इतने प्रियतम नहीं है, जितने प्रियतम अपने भक्त– (उद्धवजी) है !!

प्रभुको प्रियतम भक्त उद्धवजी भी पुष्टिभक्त श्रीगोपीजनको ही सफल जन्मवाले कहते हैं : जिससे कोई प्रभुको अधिक प्रियतम नहीं हैः

पुष्टिमार्गीय– भक्त श्रीगोपीजनकी कक्षामें तो कोई हो सकता ही नहीं है । भगवानने जिसको अपने अत्यंत प्रियतम बताये, वह उद्धवजी स्वयं व्रजमें रहकर स्वानुभावसे कहते है–,

“एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखि–लात्मनि रुढभावः ।
वाञ्छन्ति यं भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्त कथा रसस्य ॥”
–श्रीभागवत (१०–८२–५८)

संपूर्ण– सफल– जन्मवाले, स्वाधीन और सफल देहधारी, तो यह मात्र है– श्रीगोपीजन ही ! ज्ञानी– लौकिक (संसारी) अथवा भक्त भी नहीं ! शरीर मिलता है, इतने मात्रसे ही सफल

शरीरधारी नहीं हो सकते हैं कोई ! संसारत– व्यवहारपरायण– आमदनीमें उलझे हुए– कुटुंबकी मुख्यतावाले– लोगोंका तो जीवन व्यर्थ ही है । शरीरको वश रहकर, शरीर सम्हालनेमें, उनका जीवन व्यर्थ ही व्यतीत हो जाता है । ज्ञानीओंको ज्ञान-प्राप्ति पर्यंत ही शरीरका उपयोग है, बादमें तो भारवहनकी तरह शरीर निभानेका होता है । भक्तो को तो देहमें "मैं हूँ" – लगता है, देहरूप रहते हैं, देहधारी नहीं। भक्तिसे उनको कभी भी सत्फल होता तो है ही, परंतु श्रीगोपीजन जैसा तो नहीं ही । उद्धवजी– प्रभृति भक्त तो है, ज्ञानी भी है–, परंतु श्रीगोपीजन जैसा उत्कट और उष्णभाव तो नहीं ही है । यह तो मात्र श्रीगोपीजन में ही है । वही है सच्चे– यथार्थ– शरीरधारी! पृथ्वी पर कोई ऐसे नहीं हैं । सर्वात्मा– परमात्मा– गोविन्दको जिन्होंने अपने बना लिये ! उन्होंको तो गोविंदमें ही रूढभाव है ! अपने शरीर भी प्रभुके हैं– सेवापयोगी हैं– समझके प्रियतमप्रभुकी सेवामें ही समर्पित कर दिये हैं । उनके शरीर (रूप) धर्म भी शरीर सेवामें उपयोगी हो, इतने लिये ही हैं, अपने सुख– स्वार्थके लिये नहीं है ! स्वाधीन शरीरका यह ही फल है । "**आत्मलाभात् परं न विद्यते।**"– श्रुति है ।– आत्मलाभसे अधिक कुछ नहीं है ।

जो गोविंद– भाव, भवके भयवाले– मुमुक्षु– मुक्त– मुनि और हम उद्धवादि (भक्त) सब सन्मार्गनिष्ठ भी प्राप्त करनेकी चाहना ही करते हैं, वह तो श्रीगोपीजनको सहजसिद्ध है । जीवन्मुक्तोंको भी बाह्यसंवेदन होते हैं। विदेह– कैवल्य– तक रहता है, लौकिकभाव होता है। लौकिकोंमें तो लौकिकता रहती है । नारदजी जैसे भक्तोंमें भी कभी कभी दिखाई देती है, प्रह्लादजी जैसे भक्त भी राज्य करते हैं । श्रीगोपीजनको तो बाह्यनुसंधानमें कृष्ण– विरहकी वेदना भी अलौकिक ही है। अन्य कोई व्यवस्था ही नहीं है। यह विचारसे, यह श्रीगोपीजन ही सफल– स्वाधीन– शरीरधारी है । वसिष्ठजी जैसे ब्रह्मभाव-प्राप्त हैं,– फिर भी ब्राह्मणरूपमें उनका– उत्तमजन्म है– शौक्ल! उपवीत संस्कारसे सापित्र, और यज्ञदीक्षासे– याज्ञिक! यह तीन–जन्म है। फिर भी क्या प्रयोजन है– इनसे?! यद्यपि वशिष्ठजी बाह्यसंवेदनमें वेदार्थनिष्ठ है, दीर्घसत्रादिसे अंतर्निष्ठामें ब्रह्म-परायण है, फिर भी कर्मसे भक्ति श्रेष्ठ है। कर्म तो यह–परलोकके सुख देते हैं, भक्ति तो लोक– भगवत्सुख देती है । प्रसंगवशात् प्रसंशा तो अनेककी हो सकें। ज्ञानीको भगवान् प्रसंशामें प्रियतम तो उसकी बुद्धिके अनुसार कहते हैं। परंतु श्रेष्ठ तो हैं– श्रीगोपीजन ! अनंत भगवानकी अनंत कथाका अनंतरस श्रीगोपीजनको सुलभ है। जिनको यह सुलभ है, उनको तो ब्रह्मजन्मसे भी कोई पुरुषार्थ प्राप्त करनेका रहता नहीं है । कथारस– रहित लोगोंको तो कर्मोपयोगी– ज्ञानोपयोगी ब्रह्म-जन्मसे कोई लाभ होता नहीं । श्रीगोपीजन तो गोविंदरत है। उनकी तो साधनदशा भी अन्योंकी फलदशासे भी अत्यंत उत्तम है, तो फलकी तो बात ही क्या ?! यहाँ तो साधनदशामें ही सर्वोत्तिम फललाभ होता है, फिर कर्म– ज्ञानसे कोइ प्रयोजन नहीं है। क्या अद्भुत भक्त है– श्रीगोपीजन ॥

उद्धवजी– जैसे परम ज्ञानि– भक्त, जिसको भगवान् सर्वाधिक प्रियतम मानते हैं, वे भी श्रीगोपीजनकी चरणरेणुलाभ हो जाय इसलिये ब्रजमें कहीं पर छोटा सा पौधा होकर रहना चाहतें हैं। श्रीगोपीजनसे अधिक प्रियतम कोई नहीं है, भगवानको ! परंतु पुष्टिका प्रेम गुप्त रखा है । श्रीगोपीजन पुष्टिभक्ति मार्गके गुरुजन है !

भगवानने बताये हुए पुष्टिभक्तके ३२ लक्षण :

१. "**अद्वैष्त सर्वभूतानां**"– प्राणीमात्र प्रभुके खिलौने हैं, प्रसंगादि सब ही प्रभुकी लीला है, एसा समज कर किसीका द्वेष नहीं करता है, किसीकी अधिकता– विशेषता– देख कर भी अपेक्षा– उपेक्षा नहीं करता हैं ।

२. "**मैत्रः**" – भगवद्भक्तोंसे मित्रतासे बर्तता है। "**सर्वभूतानां**" साथ लेनेसे सबका हित हो ऐसा करनेवाला ।

३. "**करूणः**" – संसारि– लागोंको वा किसीको भी दुःखी देखकर दयासेद्रवित हो जनेवाला, सर्वप्रयत्नोंसे दुःख दूर करनेके यत्न करनेवाला, मानवताके कुछ कार्योसे मात्र रोटी– कपडे के टुकडे देनेवाला नहीं, परंतु कोई भी दुःखी न हो ऐसे योग्य प्रयत्न करनेवाला, भगवन्मार्ग बताकर सब दुःख हमेशाके लिये दूर हो जाय "**एव**"से करुण ही, कभी कठोर नहीं होनेवाला ।

४. "**निर्ममः**" किसीको हितबुद्धिसे– करुणासे– उपयोगी होनेके बाँद उसमें ममता न करनेवाला, भगवानके बिना लौकिक– व्यक्ति– वस्तुमें "मेरा है"– ऐसी बुद्धिरहित, "प्रभुका हैं", "प्रभु हैं", "प्रभुके लिये हैं", "प्रभुसे है "– यह समझे ममतारहित।

५. "**निरहंकारः**"– अपनी उत्तमताके भानसे आती हूई अहंतासे रहित, "मैं प्रभुका दास हूँ"– "सब प्रभुका है ।"– यह दृढभानसे, अभिमान करानेवाली अपनी सब उत्तमताको प्रभुकृपासे मिली हूइ समझनेवाला । उत्तम लौकिक पदार्थोंको अपने मानके अज्ञानसे आते हुए अभिमानसे रहित ।

६. "**समदुःखसुखः**"– लौकिक प्रतिकूलताके संवेदनसे दुःख और अनुकूलताके संवेदनसे सुख– मानकर हर्ष– शोक से भर नहीं जाने– वाला । प्रभुके संयोग– वियोगके सुख– दुःखका समान अनुभव करनेवाला ।

७. "**क्षमी**"– क्षमाकरनेवाला, दुष्टजन वा अन्यने किये हुए अपमान– अपराधको सहन करके स्वाभाविक उदारतासे क्षमा करनेवाला ।

८. "**संतुष्टः**"– "सततं"– हृदयस्थ पुरुषोत्तम भगवानके आनंदसे युक्त, भगवदिच्छासे, अपने प्रारब्धानुसार, पुरुषार्थके परिणामके रूपमें, जो कुछ मिल आवे इतनेमें से ही अपना घर– गृहसेवादिका सतत प्रसन्नतासे निर्वाह करनेवाला। जो कुछ मिले इनमें, "पूरता है, प्रसाद है,– प्रभुने दिया है," ऐसा समझकर सतत स्वस्थ– शांत– संतुष्ट रहनेवाला ।

९. "**सततं योगी**"– भगवच्चिंतनशील, भगवानके साथ मनसे– जीवनध्येयसे– प्रत्येक कार्यसे– जुड कर जीनेवाला ।

सतत भगवत्संयोग- वियोगानुभववाला।

१०. "**यतात्मा**"- स्वभाव (जीवभाव)को वश करनेवाला अपनेको पसंद हो ऐसा नहीं, प्रभुको पसंद हो, यह बुद्धिसे संयमपूर्वक प्रयत्नकर्ता। भगवानमें निरुद्ध चित्तवाला समान-वृत्तिवाला ।

११. "**दृढनिश्चय**"- काम- क्रोधादिसे दब- हट- नहीं जाय अपने जीवनध्येय- "मेरेको प्रभु ही चाहिये, सेवा- कथा ही चाहिये",- ऐसे आदर्शको अचलतासे निभानेवाला, दुःख-सुखादिमें अपने ध्येयसे चलित न होनेवाला। "मेरे स्वामी सर्वसमर्थ है, भगवान् ही मेरे जीवनका बल है- फल है-पुरुषार्थ है-" ऐसे निश्चयोंको दृढतासे निभानेवाला । "भगवानकी सेवा कथा- सत्संग" में दृढतासे यथार्थ करनेका आग्रहवाला।

१२. "**मय्यर्पितमनोबुद्धिः**-" मेरेमें समर्पित मन- बुद्धि-वाला । सकल्प- स्मृति भी भगवद्विषयक करनेवाला। केवल बाह्यही सेवादि- क्रिया करनेवाला नहीं आंतर भी सेवा, (भावना-श्रीभागवत-विचार-आदिसे) करनेवाला, स्वाभाविक स्नेहवश- सत्संगसे मनोबुद्धि प्रभुमें लगानेवाला । जो मेरे (कृष्ण)को समझके, मेरे (कृष्णके) मनोऽनुकूल करनेवाला, मेरा भक्त है वह मुझे नित्य·प्रिय है । यह बारह गुणवाला - अहेतुक भक्तिवाला ।- मेरा (कृष्णका) भक्त मुझें (कृष्णको) प्रिय है।

भगवान् "**यो मद्भक्तः स मे प्रिय :**"- कहते हैं, इससे "**पुष्टि**" कृपा है- ऐसा निश्चय होता है। "**यो मद्भक्त इतीरणात्पुष्टि- रस्तीति निश्चीयते ।**"- "**पुष्टि प्रवाह-मर्यादा**" ग्रंथमें श्रीवल्लभाचार्यजी कहते हैं-, "जो मेरा भक्त- "भगवानने कहा है, इस लिये "**पुष्टि**"- है, ऐसा निश्चय होता है। भगवानका प्रियत्व स्वकृति- साध्य नहीं है,- तपः प्रभृति साधनोंसे भी नहीं मिलता है। जन्म- मरण- जिसका फल है-ऐसे प्रवाहमार्गसे भिन्न यह पुष्टिमार्ग है। कालप्रवाह तो भगवदिच्छासे सर्वसामान्य होता है, भक्ति- भगवतत्प्रियत्व तो भगवानकी अकारण कृपा (पुष्टि)से ही विशिष्टेच्छासे प्राप्त होती है। इसलिये, पुष्टि और प्रवाहमें स्पष्ट बडा अंतर है, दोनों भिन्न है। "**नाऽहं वेदैर्नतपसा**"- (११-५३)- "मैं वेदसे- तपसे सुलभ नहीं हूँ,- वाक्यसे, वेदमर्यादामार्ग भी स्पष्ट भिन्न कहा है, इसलिये "**पुष्टि**" इससे भी भिन्न है । वैदिक कर्मादिकी अपेक्षा पुष्टिको उत्तम कहनेसे भी अलगता स्पष्ट हैं । इसलिये पुष्टिमार्ग प्रवाह- मर्यादामार्गसे स्वतंत्र- शास्त्रोक्त मार्ग है ही।

१३. "**यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः**" । - जिससे लोक उद्विग्न नहीं होते हैं, लोकसे जो उद्विग्न नहीं होता है। भगवत्सेवा - कर्तव्यनिष्ठा - सिद्धान्तसुदृढता - सदाचारके सदाग्रहको किसीको क्षोभ- द्वेष- क्लेश- शोक- भय न हो ऐसे, मैत्रीभावसे- मधुरतासे, दयापूर्वक, हितबुद्धिसे, सहिष्णुता (क्षमा)पूर्वक, लोकोंको - स्वजनोंको - समझानेसे उद्वेगादि नहीं होते हैं । लोंगोकी आचरण- सिद्धांत- विमुखतासे जो क्लेश- उद्वेग नहीं करता है, परंतु अपनी मार्गनिष्ठासे दृढ रहता है । यथाधिकार अपनी मर्यादामें रहकर सबको

आचार–विचारकी स्नेह–सहिष्णुतासे समझ दें, परंतु "लोग करे ही" ऐसा दुराग्रह न रखे, "भगवदिच्छा लोकोके लिये ऐसी ही है" ऐसा समझे, उद्वेग न करें । दोष अन्यका, रोष अपना, यह तो बुद्धिमानी कैसे कही जाय ?!

१४. "**हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्त :**" – इच्छित लौकिक–वैदिक कुछ भी मिलनेसे हर्ष नहीं होता है ऐसा हर्षरहित, जिसको सर्वत्र भगवद्दृष्टिसे अन्य कुछ स्फुरण न होनेसे अलौकिक हर्षवाला; अन्यके उत्कर्ष सहन न कर सकता वह अमर्ष है । – अमर्षरहित, अमर्षन होनेसे भगवल्लीलाका ज्ञानवाला । भय–त्रासमुक्त, भयरहित, "भगवान् सर्वत्र सर्वदा रक्षा करते है" – ऐसा निश्चित ज्ञानवाला । उद्वेग – चित्तकी चंचलता,– चंचलतारहित, सेवादिमें स्थिर चित्तवाला । ऐसा जो भक्त है वह भगवानको प्रिय है ।

१५. "**अनपेक्षः**" – सेवादिमें स्वमनः के बिना किसीकी भी अपेक्षासे रहित समर्थ, भगवत्सेवाके बिना लौकिक–वैदिक – फलादि की अपेक्षारहित ।

१६. "**शुचिः**" – भगवत्स्मरणवाला, सब पवित्रता प्रभुस्मरण से होती है । भगवन्मार्गानुरूप आचारवाला । प्रभुके प्रेममें बहते अश्रुसे आंतरशुद्धि होती है ।

१७. "**दक्षः**" – भजनस्वरूपज्ञानवाला, सेवा–कथादिमें निपुण।

१८. "**उदासीनः**" – लोकमें अनुरागरहित, सेवा–कथासे प्रतिकूल घरमें या समाजमें तटस्थवृत्तिवाला ।

१९. "**गतव्यथः**" – मानसिक्लेशरहित, प्रतिकूलतामें व्यथा–रहित ।

२०. "**सर्वारंभ – परित्यागी**" – दृष्ट – श्रुत – फलवाले कर्मका आरंभ न करनेवाला । सेवाप्रतिकूल – सर्वारंभका परित्याग करनेवाला । प्रतिबंधक– विषय– भोगादिके आरंभसे रहित, ऐसा जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है ।

२१. "**यो न हृष्यति**" – जो लौकिक – प्रिय सानुकूल मिलने पर हर्ष करता नहीं है । अन्यके दुःख– अपने सुखसे हर्षित नहीं होता है ।

२२. "**न द्वेष्टि**" – जो लौकिक – अप्रिय – प्रतिकूल मिलने पर द्वेष – क्लेश नहीं करता है । अन्यके सुख – अपने दुःखसे – द्वेष – क्लेश नहीं करता है ।

२३. "**न शोचति**" – लौकिकादि– वस्तुनाशमें शोक नहीं करता है । अनिष्टभानसे उद्विग्न नहीं होता है । इच्छाविरुद्ध होने पर भी शोक नहीं करता है ।

२४. "**न कांक्षति**" – लौकिकादि– वस्तुकी अपेक्षा नहीं करता है । स्वभोगके लिये भगवद्वशतासे, निजेच्छासे सर्वसमर्थ प्रभु – सबकुछ करेगें – यह भावसे अपेक्षा नहीं करता है ।

२५. "**शुभाशुभपरित्यागी**" – शुभ–अशुभका त्याग करनेवाला । भगवल्लीलाबुद्धिसे भगवादिच्छा जानके व्यवहार करनेवाला । ऐसा जो मेरी भक्तिवाला है वह मुझे प्रिय है ।

२६. "**समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः**" –

“**शीतोष्ण– सुख– दुःख समः**”– द्वेष करनेवाला शत्रु, स्नेह करनेवाले मित्र तथा मान और अपमानमें द्वेष–राग रहित – समतावाला । शीत–उष्ण,– सुख–दुःखादि, द्वन्द्वोंमें समान भाववाला । अपने लिये सब समभावसे सहन करे, परंतु अपने प्रभुकें सुखके लिये यथोचित शीत–उष्णका सुखद – प्रतिकार करनेवाला ।

२७. “**संग–विवर्जितः**” – लौकिकासक्तिरहित । सेवा–कथामें रुचि– रहित, – लोगोंका संग छोडनेवाला, ऐसी रुचिवालोंमें संग जोडनेवाला ।

२८. “**तुल्यनिन्दास्तुति :**” – स्तुतिसे न प्रसन्न होता है, निन्दासे न नाराज होता है । समान उभयमें रहनेवाला । अपनी स्तुतिनिंदामें समभाव रखता है । भगवानकी स्तुति निंदामें नहीं।

२९. “**मौनी**” – वाणीका संयमवाला, नियंत्रितवाणीवाला ।

३०. “**संतुष्टो येन केनचित्**” – भगवदिच्छासे जो कुछ भी मिला हो इसमें संतुष्ट । अपने लिये यथालाभ – संतोष रखता है, भगवानको यथोचित निवेदन करता ही है ।

३१. “**अनिकेतः**” – गृहादिमें आसक्ति–रहित । अपनी परिस्थितिके अनुसार स्वगृहवास – भक्तसहवास – भगवत्–सेवास्थान–वास – करनेवाला ।

३२. “**स्थिरमतिः**” – भगवानमें स्थिरबुद्धिवाला । स्वशास्त्र–सिद्धान्तमें स्थिर बुद्धिवाला । सेव्यस्वरूप – सेवा – कथा – लीला – भक्त – सत्संगादिमें स्थिरबुद्धिवाला । ऐसा, जो

भक्तिमान है वह मेरा प्रियपुरुष है ।

जो यह धर्म्यामृत– कृष्णकृपारूप – फलरूप– कहा गया है, इसमें श्रद्धा करनेवाला, भगवन्निष्ठ, सेवन करता है, वह दैवीजीव भक्त मेरेको अतीव प्रिय है ।

भगवानने मर्यादामें अक्षरब्रह्ममें निष्ठावालोंसे प्रभुप्रदत्त, अपने पुष्टिभक्तिमार्गीय भक्तोंकी अतिप्रियता प्रतिपादन की । प्रभुप्रदत्त पुष्टिभक्ति ही भगवत्प्रियत्व संपादन करती है ।

पुष्टिभक्तिमें सामान्यतः तो यह ३२ लक्षण होते हैं । परंतु लगता है कि – श्लोक (१४), (१५), (१६), (१७), (१९) में स्वप्रियत्वोल्लेख भिन्न भिन्न होनसे, उन श्लोकोक्त लक्षण प्रकट होने पर बाकीके भगवत्कृपानुसार प्रकट होते है ।

यहां भगवानने भक्तको स्वप्रिय कहे है । जीवको भगवान् प्रिय लगे वह मर्यादा है ! भगवानको भक्त – जीव– प्रिय लगे, भगवान् भक्त (जीव)से प्रेम करें, यह पुष्टि है ! कृपा किसको कृतार्थ न करें ?! पुष्टि किसका पोषण न करें ?!

ऐसे भगवद्‌भक्त तो समाज की सर्वोत्कृष्ट सच्ची संपत्ति है। एक भी भक्त जहाँ रहता हो, वहां सबको पावन कर देता है । जीवनका सर्वोत्तममार्ग – सफलता – सुखशांति – सबको सुलभ हो जाते है । भक्त बबडाहटसे, क्लेशसे, दोषबुद्धिसे, घर – स्वजन– समाजको छोडके भाग नहीं जाता है, सब परिस्थितियोंकी बीचमें भी सहन करता हुआ – शांत – प्रसन्न निश्चल – स्वमार्गस्थ रहकर उज्ज्वल जीवन पद्धति सिखाता

है – सारे संसारको !

अध्याय – १३ : क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग : श्लोक – ३८ :

एक और अद्वितीय ब्रह्म ही स्वलीलार्थ अनेक रूप :

सबसे पहले तो एक और अद्वितीय ही था – ब्रह्म ! कोई भी व्यवहार – प्रमाणका विषय नहीं था – ब्रह्म ! स्वेच्छासे स्वलीलाके लिये अनेक रूप हो गया एक – ब्रह्म ! अनेकमें, अनेकरूपसे खेलता है – एक ब्रह्म ! अविरत आत्मसृष्टिमें आह्लाद करता है – एक ब्रह्म ! अपनी शक्ति अविद्यासे अज्ञानवश अपने अंश जीवको मोह करता है भी – ब्रह्म ! स्वपुष्पादि– भ्रमभातमें भी स्थिर है – सत्यरूप एक ब्रह्म ! यही ब्रह्मके ज्ञानसे होता है – मोक्ष ! भगवानने पूर्वमें इसलिये उपक्रम कर रखा है – **"अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् जीवभूतां ।।"** (७–५) **"भूमिः– आपः– अनलः– वायुः– खं (आकाश) – मनः– बुद्धिः– अहंकारः"** – यह अष्टधा प्रकृति – अपराप्रकृति है । इससे भिन्न दूसरी जीवभूता पराप्रकृति है । – **"एतद्योनीनि भूतानि–"** (६) सब भूतगण इन दोनों प्रकृतियोंमेंसे उत्पन्न हुए हैं । जड–चेतन–रूपा दोनों है । यहां, परा–प्रकृति– रूप– जड है– सोपस्कर क्षेत्र ! अपरा – प्रकृति रूप है – चेतन– जीव– क्षेत्रज्ञ ! उसका मूल है – अक्षरब्रह्म ! इसलिये यह है– ज्ञेय ! उसका साधनभूत है– ज्ञान ! यह क्षेत्र– क्षेत्रज्ञ– निरूपण यहाँ करते हैं – भगवान् !

लोकमें दो पुरुष :

पंद्रहवे अध्यायमें – **"द्वाविमौ पुरूषौ लोके क्षरश्चाक्षर एक च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कुटस्थोऽक्षर उच्यते"** (१५–१६)– लोकमें यह दो पुरुष है – क्षर और अक्षर । **"एव"** से अन्य कोई पुरुष नहीं है, यह सूचित होता है प्रसिद्ध ब्रह्मा–शंकरादि भी इसमें समाविष्ट है ।

"भगवान्" – "पुरुष" –कृष्ण ही है, बाकी सब स्त्री प्रायः हैः

"भगवानिति शब्दोऽयं तथा पुरुष इत्यपि । निरूपाधि च वर्तेते वासुदेवे सनातने ।" "स्त्रीप्रायमितरत्सर्वं ब्रह्मरुद्रपुरःसरम् ।।" – "भगवान्" यह शब्द तथा "पुरुष" – यह शब्द भी, निरूपधि (स्वाभाविक – यथार्थ) रूपसे सनातन वासुदेव कृष्णमें ही चरितार्थ होते है । **"वसति विश्वमस्मिन् इति वासुः । वासुश्वासौ देवः वासुदेवः"** – वसता है विश्व जिसमें– यह है– वासु ! वासु है जो देव – वासुदेव ! **"दिवुक्रीडादिषु"'** – धातुपाठ है । जो विश्वमें विश्वरूपसे–क्रीडा करता है – वह है वासुदेव ! एक ही **"भगवान्"** एवं "पुरुष" है, अन्य ब्रह्मा– रुद्र– पुरःसर सब जगत्– स्त्रीप्राय है। यही पुरुष लीलानुरूप होते हैं– क्षर और अक्षर ! अपरा प्रकृति और पराप्रकृति ! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ! प्रकृति और पुरुष ! यह सबका मूल है – अक्षरब्रह्म ! उससे उत्तम है – उसका मूल है– परब्रह्म !

भगवानके तीन रूप :

"विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषस्य महात्मन । प्रथमं महतः स्रष्टुः द्वितीयं त्वण्ड– संस्थितम् । तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते ।।" "विष्लृ व्याप्तौ" – धातुपाठ है। व्यापनशील– व्यापक– भगवानके तीन रूप है– १. महत्तत्वका सर्जक, २. ब्रह्मांड संस्थित, ३. सर्वभूतस्थ । इनको जान कर विमुक्ति हो जाती है । अक्षरमूलक यह सबका परिज्ञान प्रभु कराते हैं– ज्ञेय– ज्ञान– देते हैं । नहीं तो, प्रश्नके बिना यह क्षेत्र – क्षेत्रज्ञ निरूपण योग्य नहीं होता । पूर्वाध्यायमें भगवानने अपने पुष्टिभक्तोंकी महत्तारूप अपना अतिप्रियत्व बताया, अक्षरोपासनाका क्लेशबहुलत्व बताया ! यही अक्षरकी विशेष– वार्ता बताने के लिये क्षेत्र– क्षेत्रज्ञकी कथा करते हैं– कृष्ण ! यहाँ कई लोग– "प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च । एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ।।" पद्य देते हैं ।– प्रपंचादि सर्वज्ञान न हो तो , भगवन्महिमाके अज्ञानमें भक्ति कैसे हो ? अतः यह ज्ञान– प्रश्न है । प्रकृति– स्वशक्तिरूप, पुरुष, स्वांशजीव, क्षेत्र– सर्वोत्पत्तिस्थान, क्षेत्रज्ञ– तत्स्वरूपज्ञ, ज्ञान– ज्ञानस्वरूप, ज्ञेय– वह ज्ञानसे प्राप्य सर्व ! "हे केशव।" "क"– ब्रह्मा, "ईश"– शिव; रजोगुणके अधिष्ठाता– ब्रह्मा, तमोगुणके अधिष्ठाता– शिव, दोनोंके दोष निवारणपूर्वक "व"– सुख– आनंद– अमृत– मोक्ष– देनेवाला !" मैं यह सब भक्त्यर्थ जानना चाहता हूँ ।" अर्जुन कहता है ।

क्षेत्र– क्षेत्री – क्षेत्रज्ञ :

पिण्ड–ब्रह्मांड – न्यायसे, जो पिंडमें है वह ब्रह्मांडमें है । इस आशयसे, जो प्रकृति– जडरूपा– अनात्मा कही गई है, उसका परिणामभूत है,– यह शरीर ! पुरुषके निवासभूत होने से, जीवन होने से, उसको कहते है – क्षेत्र ! ऐसे क्षेत्रको पुरुष विविक्त (अपनेसे भिन्न) रूपसे अगर नहीं जानता है तो वह मात्र है – क्षेत्री ! क्षेत्री है तो संसारी ही होता है । जो कोई यह क्षेत्रको अपनेसे भिन्न रूपसे जानता है, अपनेको दृष्टा समझता है– क्षेत्रज्ञ ! यद्यपि क्षेत्र– क्षेत्रज्ञ– ज्ञान तो संसारदशामें भी होता तो है, परंतु भिन्नतया नहीं ! होता है– क्षेत्र– सामानाधिकरण्यसे ! कपिलदेवजीने माँ देवहूतिजीको ज्ञान दिया– उसमें– देह– देहि– विभाग पहले समझया, बादमें देहीके हितार्थ देह सहयोग से होनेवाले सांख्य–योग और भक्ति बताये हैं । देह– शरीर– क्षेत्र जो बढता है, शीर्ण हो जाता है, उत्पन्न करता है । जिसके होने से यह सब होता है, यह जीव है – देही– शरीरी – क्षेत्रज्ञ ! ये दोनों साथमें ही रहने पर भी स्वरुपतः तो भिन्न हैं । शरीरमेंसे जब जीव चला जाता है – मरण कहते है – तब स्पष्ट जीर्ण– शरीर तो यहाँ रहता है,– जीव चला जाता है । फिर तो जिस शरीरको एक ही जीव चलाता था, वहन करता था, उसको वहन करनेमें चार आदमी भी थक जाते हैं । अद्भुतलीला है – प्रभुकी ! अणु जीतना अंश शरीर चलाता है !

विना पूछे भी वत्सलगुरुका प्रदान ः

यहाँ पर भी आगेके कई अध्यायोमें है ऐसे, पूर्वाध्यायमें भगवद्वाक्यसे समाप्ति होने पर भी नूतनाध्यायका आरंभ भी है,– "**श्रीभगवानुवाचै**" से ! भक्तका – गुरुका– स्नेहोद्वेल हृदय शिष्यवात्सल्यसे जब अस्खलित बहता है, तो बीचमें अंतराय कैसे हो ?! प्रश्नकी प्रतीक्षा वह कैसे करता है ?! शास्त्र तो है – "**नाऽपुष्टः कस्यचिद्ब्रयात्**" बिना पूछे किसीको कुछ कहना नहीं चाहिये ! परंतु, "**ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत**" स्नेह सान्द्र– सन्निष्ठ– शिष्यको वत्सल गुरुजन बिना पूछे भी गुह्य– रहस्य– अपने आप बता देते हैं। कहना नहीं पडता है, उमडता– बहता – हृदय हो जानेके कारण अपने आप हृदयस्थ बातें बहार आ जाती है ! बिना पूछे, बिना प्रयत्न ही रहस्यकी बातें मिल जाती है । यह कोई एकादकी बात नहीं है, बहुत गुरु–शिष्योंके अनुभव की बात है, बहुवचन "गुरवः" से यह स्पष्ट है । अपने प्रिय शिष्य अर्जुनके प्रति आत्मीयताके उद्रेकमें बिना पूछे भी बता रहे हैं गुरु– भगवान्!–

"इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।"– (२)

नष्ट होनेवाला है – शरीर ः

"**इदं**" – यह, है "**शरीरं**" – शरीर ! जिसको हम देखते हैं, जिसको हम हमारा – अपनारूप – समझ कर लालन–पालन – पोषण करते है, – वह तो शरीर है । "**शीर्यत इति शरीरम्**" जो घिसाता जाता है – वह है – शरीर । माँ जब बच्चेको जन्म देती है, तब शरीर कैसा कोमल छोटासा होता है ?! फिर बढता चलता है । वह "देह" है न ?! "**दिह उपचये**"– धातुपाठ है । जो वृद्धिंगत होता है, वह है – देह ! युवावस्था – प्रौढावस्था तक बढता है– और व ही उत्तरावस्थामें घिसाता जाता है । वास्तवमें वृद्धि और घिसाता जाना दोनों क्रियाएं शरीरमें चलती ही रहती है । शरीरकी कितनी सेवा करें, लालन–पालन करें, उत्तरोत्तर घिसाता हुआ, अंतमें अशक्त और अंतमें नष्ट भी हो जाता है । पंचमहाभूतमेंसे बना हुआ, पुनः पंचमहाभूतमें मिल जाता है ! ऐसे शरीरके लिये श्रम – संघर्ष– भोग– मोह– क्या कल्याण करेंगे ?! "**इदं**"– से– "**इदंता–वाच्य**"– सब जड– पदार्थ भी ऐसे ही नश्वर है ! चेतन – भगवदंश जीवके संबंधसे देह स्वाभाविक स्वतः बढता रहता है । अन्य मकान रास्ते – प्रभृति, जडमें चेतन–प्रवेश न होनेसे स्वतः बढते नहीं है ! चेतन – जीवके संबंधसे कार्यानुरुप बढाये जाते तो हैं । मकान मालिक जो चाहता है तो मकानको बढाता है, सरकार चाहे तो रास्तेको बढाती है । अपने आप बढते नहीं है । शीर्णता तो दोनोंमें कालक्रमसे स्वतः आती ही हैं । अंतमें नष्ट होते हैं । है ही नश्वर !

नश्वरके लिये ईश्वरको छोडते हैं – गौण गिनते हैं – अज्ञलोक ः

नश्वरके लिये, नश्वरके मोहमें, ईश्वरको छोड देतें हैं – अज्ञलोग ! घरको – स्वजनोंको – स्वार्थको, – व्यवहारको

– कमाईको – कीर्तिको – कामनाओंको– मुख्य मानकर, पहला उन नश्वरका स्थान रखकर, ईश्वरका स्थान बादमें रखते है !! अथवा स्थान रखते ही नहीं है !! शरीर – समझ – शक्ति – साधन – संयोगादि सब कुछ नश्वर जिसने दिया, वह ईश्वर को ही भूल जाना, न मानना, गौण गिनना, यह कौनसी पढाई है ? कौनसे संस्कार है ?! कौनसी संस्कृति है ? कौनसा सन्मार्ग है ? "**इदं शरीरं**" – से, तो शरीर – और सारे जड भोगपदार्थ कोई स्वरूप बता कर जीवन–मार्ग – संकेत कर दिया है । श्रीशंकराचार्यजी कहते हैं – "**भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते**"– हे मूढमते । ज्ञानादिसे कल्याण नहीं होगा । व्रजस्थ कृष्ण गोविंदकी सेवा कर ! परंतु सबको ऐसी समझ नहीं मिलती है । होता है– कोई विचारशील, भाग्यवान, कृपापात्र जो इस विषयमें सोचता होगा ! सामान्यतः संसारी तो कहने–सुनने पढने पर भी सोचता नहीं है, सोचने पर भी स्वीकार करता भी नहीं है । वह तो बादमें परिणाममें शोक ही करता रहता है ! "**कौन्तेय**"– संबोधनसे अर्जुनको कुन्ता– वा– कुन्तीका पुत्र कहा ! मोहका भान यह मातृनामसे कराया । साथमें मोहमेंसे छूटनेका भी उत्तेजन दे दिया ! "**कौन्तेय**"– कुचित कुन्तल (वक्र–घूघराले) केशं जिसके है, वह कुन्ता है – कुन्ती है । श्रीकृष्णके बालभी ऐसे "**कुंतल**" है – श्रीजयदेव "गीतगोविन्दम"में कहते हैं,– "**कुच्चितकुन्तलाकेशम्**" – कुन्तल कुचितकेश बुद्धि– भाग्य सूचक है । बुद्धिशाली माँका बुद्धिशाली बेटा है– अर्जुन ! यह कल्याणकी बात सोचेगा–

स्वीकारेगा ! शरीरका उपयोग समझदार लोग कल्याणमें करते हैं – अज्ञ लोग भोगमें ! भोग तो भोग ही ले लेता है ।

शरीर तो क्षेत्र है – पवित्रस्थान है :

यह मात्र देह नहीं है – शरीर नहीं है – "क्षेत्र" है, ऐसा कहते हैं । गीताजीके आरंभमें ही "क्षेत्र" है । – "धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे" (१–१) यह शरीर – "क्षेत्र" भी है । यह शरीर मात्र बढनेवाला, घिसजानेवाला ही नहीं है, क्षेत्र भी है । स्थान है, खेत है, उत्पन्न करनेवाला है । केवल बच्चोंको, रोगोंको, जंतुओको, मलको, बलको, ही उत्पन्न करनेवाला नहीं है । कर्म एवं धर्मको भी उत्पन्न करनेवाला है । ज्ञान–वैराग्य को भी उत्पन्न कर सकता है । पवित्रस्थान, जहाँ धर्म–भगवान् वा कोई पवित्र – पुरुषकी महिमा होती है – उसको "क्षेत्र" कहते हैं। वहाँ की हुई सत्क्रिया अधिक पुण्योत्पादक होती है । शरीर–संबंध है तब तक जीव कुछ कल्याणका कार्य कर सकता है, शरीर छूटनेके बाद तो क्या होगा ?! अतृप्त वासनांसे भूत–प्रेत होकर भटकेगा ?! वा पुण्य– पापसे स्वर्ग–नरकमें जाकर कर्मफल भोगकर वापस आयेया ! देह– शरीर– क्षेत्र है, तब तक जो धर्म है वह कर ले । वह धर्मक्षेत्र है इसलिये अधर्म न करें । मानवदेहको क्षणिक दुःखद विषय– भोगमें व्यर्थ गँवा न दें, सत्पुरुषोंका संग करें, शरीरद कृष्णकी स्नेहसे सेवा करें । जीवका वो स्वधर्म ही कृष्णसेवा है । शरीर–क्षेत्र है, खेत है– जीव– क्षेत्रज्ञ है – किसान है, शरीरका सदुपयोग अपने हितमें करनेवाला (जीव) कुशल किसान है । योग्य खेतमेंसे कुशल

किसान जैसे योग्य (फसल) ले लेता है, सुखी होता है। ऐसे भगवदिच्छासे, प्रारब्धानुसार, मिले हुए शरीरके दुरूपयोगसे जीवन व्यर्थ न खोयें – आत्मघात है– वह तो !! स्वशास्त्र समझके, जीवनविवेकसे, भगवत्प्राप्तिरूप जीवन– ध्येय को दृढ बनाकर – कल्याणके लिये, कृष्णके लिये – सतत प्रयत्न, शरीर सानुकूल है तब– तक करते रहें। कुरूराजा प्रजाके द्रव्यसे गुजारा नहीं करते थे, खेती करते थे। वह खेत अब है– “**कुरुक्षेत्र**” पवित्र– “**धर्मक्षेत्र**” है। जिस शरीरसे जीवका स्वधर्म – कृष्णसेवा हो सके वह – “**धर्मक्षेत्र**” है। धर्म–कल्याणादि करें – वह “**कुरुक्षेत्र**” है। यह जो जानता है, उसको कहते है “**क्षेत्रज्ञ**” “**क्षेमैः त्रायते इति क्षेत्रम्**” जो प्रकट प्राप्त नहीं हुए हैं अपनेको ! ऐसे प्रभुको, सेवा कथाको,– प्रेमको, प्राप्त कराकरके जीवनव्यर्थतामेंसे, पुनर्जन्ममोंसे, दुःखों– मेंसे, रक्षा करता है, वह “**क्षेत्र**” है। उसको जाननेवाला “**क्षेत्रज्ञ**” है। तज्जज्ञलोग ऐसा कहते है। “**क्षेत्र**”के होने पर भी जो ऐसा जानता नहीं है, वह तो मात्र “**क्षेत्री**” है। शरीर क्षेत्रमें रह कर जो कर्मबीज बोयेगा ऐसे ही पाक – फल पायेगा। क्षेत्रका अर्थ पत्नी भी होता है। गृहसंचालनमें उपयोगी है। उसके सहयोगसे जीवनव्यवहार– गृहसेवा सरल होते हैं।

भगवान् भी क्षेत्रज्ञ है – सब क्षेत्रोंका :

“क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत” (२)

मुझे (कृष्णको – अन्तर्यामीरूपसे) भी “**क्षेत्रज्ञ**” समझें।

प्रत्येक “**क्षेत्र**”– “**शरीर**” में जीव भिन्नभिन्न होता है, निकटमें साक्षि – दृष्टा – नियामक रूपसे अंतर्यामी भी प्रत्येक “**क्षेत्र**” में भिन्नभिन्न होते हैं। प्रति शरीर हृदयगुहामें एक जीव अेक अंतर्यामी होते हैं। जीव अगर “**शरीर– क्षेत्र**” से श्रेयः करे, सेवा करे, तो तो क्षेत्रज्ञ ! नहीं तो क्षेत्री ! उसके साथ होता है अन्तर्यामी ! क्षेत्रज्ञ वा क्षेत्रीके साथ अन्तर्यामी भी सबके अलग अलग सर्वान्तर्यामी – मूलरूप – मुख्य भगवान् कृष्ण ! “**चापि मां**” और मुझे अंतर्यामिरूपसे कृष्ण) को भी – शब्दोंसे “**जीव**”से भिन्न कृष्ण भी “**क्षेत्रज्ञ**” है। “**सुर्वक्षेत्रेषु**” वह सब क्षेत्रोमें रहता है।

(क्षर–क्षेत्र) जड – रूपमें – कृष्णका – ‘**संदश**” है।

(अक्षर–क्षेत्रज्ञ) जीव – रूपमें – कृष्णका – “**(चिदंश)**” “**आत्मा**” है।

(क्षेत्रज्ञ) अन्तर्यामी – रूपमें – कृष्णका – **(सच्चिदानन्दांश)** – “**सर्वात्मा**” है।

(सर्वकारण प्रकृति – पुरूष के कारण) जड– जीवरूप जगत के मूलरूपमें – कृष्णके – (सच्चिदानन्दरूपमेंसे इषत्तिरोहितानन्द)– अक्षरब्रह्म है।

(उत्तमपुरूष) अप्रकट मूलरूपमें – कृष्ण – (व्यापक, भर्ता) “**परमात्मा**” है।

(परब्रह्म) केवल एक – अद्वितीय – लोकवेदप्रसिद्ध रूपमें– कृष्ण – सच्चिदानन्दरूप।

(पुरुषोत्तम) प्रकट– मूलरूपमें – कृष्ण लोकवेदातीत – (आनन्दमय) "**स्वयं भगवान्**" है ।

"**शरीर – क्षेत्र–स्थ**" – जीव – "**क्षेत्रज्ञद**" और अंतर्यामी भी "**क्षेत्रज्ञ**" ! "यह क्षेत्र– क्षेत्रज्ञ का ज्ञान मुझे संमत है !"– भगवानने स्वीकृति देदी ! क्षेत्र– क्षेत्रज्ञ – रूपसे भी है तो; कृष्णलीला ही । अनायास हर्षसे होती हुई चेष्टा है– लीला । भगवानने जो क्षेत्रके विषयमें वह जो है, जैसा है, जो जो विकारवाला है, जिसमेंसे हुआ है, जो हुआ है, तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो है, जैसा महिमावाला है, वह सब समासविधिसे निरूपण करने को कहा ।

"ब्रह्मसूत्र" हेतुमत् ही होते हैं :

"ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्वैच हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥" (४)

ऋषि मन्त्रादृष्टा है । स्वाधिकानुसार मंत्रदर्शन ऋषियोंको होते हैं, विविध ज्ञानसे विविधगान भगवानके करते हैं । एक ही वस्तुके अलग अलग अनुभवोंसे अलग अलग गान करते हैं। छन्दः– वेद भी विविध रीतिसे पृथक् पृथक् गान करते है । हेतुयुक्त– विनिश्चित– ब्रह्मसूत्रके शब्दोंसे भी निश्चित हुआ है । (वेद) श्रुतियोंमें (तथा गीताजीमें) होते हुए संदेह के समाधानके लिये "**ब्रह्मसूत्र**" है । ब्रह्मसूत्र सब हेतुवाले हैं । सूत्र होनेसे अल्पाक्षर, असंदिग्ध– "**सारवत्**" होनेसे निरर्थक बातें तो इसमें नहीं आती है परंतु, प्रत्येक बातके साथ, सूत्रमेंही,

उसका हेतु–कारण– स्पष्ट बताया गया है । "**जन्माद्यस्य यतः**" – ब्र.सू. (१–१–२) आद्य– आकाश– का जन्म जिससे है । "यह सूत्रखंड हुआ, रूपलीला तो कही, परंतु नामलीलारूप तथा हेतुसूचक पद नहीं रहा, वह तो "**शास्त्रयोनित्वात्**"से सिद्ध होता है ।– "शास्त्रमें कहा हुआ है, इसलिये" दोनों मिलकर एक सूत्र होता है ।

"**जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वाष्त्**"– ब्र. सू. (१–१–२) श्रीमहाप्रभुजी लेते है– अन्य लोग अलग अलग सूत्र लेते है, उसमें "हेतुमत्" – पद चरितार्थ नहीं होता है । श्रुति–स्मृति सूत्रादिमें विस्तृत कहा हुआ भगवान् संक्षेपमें कहते है ।

भक्ति–पुरूषार्थके लिये प्रकट किये गये तत्त्वोंकी गणनाः

पंचमहाभूत – आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी । यह स्थूल शरीरोपयोगी है । अहंकार, (महाभूतोंके कारणरूप), बुद्धि – विज्ञानात्मिका । (महत्तत्त्व) अव्यक्त मूल प्रकृति, दशेन्द्रिय (पंचज्ञानेन्द्रिय – श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना, घ्राण) पंचकर्मेन्द्रिय – (हस्त, चरण, वाक्, उपस्थ, पायु) (ग्यारहवा) मनः, इन्द्रियविषय (सूक्ष्मभूत) – शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध । एकादश सूक्ष्मेन्द्रिय – बुद्धि, पांचसूक्ष्मभूत – मिलके सूक्ष्म–शरीर बनता है । कुल मिलाके २४ तत्त्वका प्रतिपादन हुआ ! क्षेत्रज्ञके क्षेत्र– संबंधसे होते हुए चेतन– धर्मभूत इच्छादि विकार भी क्षेत्राश्रयसे होनेके कारण क्षेत्रके गिनाये हैं । विकार है,– इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख संघात– (समुदायरूप शरीर) (दृढता), चेतना (ज्ञानरूपा

मनोवृत्ति) धृति – (धैर्य)– ७ गिनायें गयें । इच्छादि मनोधर्म है, इसलिये इन्द्रियादिविकार सहित सर्वोत्पत्तिस्थान है– क्षेत्र ! यह बताया गया सांख्यमें– **"पुरुषः सर्वदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरूच्यते ।"** सर्वसुखदुःखके भोक्तृत्वमें हेतु पुरुषको कहा गया है। भगवानने अपनी लीलाके लिये ही यह सब प्रकट किया है; जीवोंके चतुर्विधपुरुषार्थ एवं भक्तिसिद्धि लिये प्रकट किये हैं ।

ज्ञानके गुणः ज्ञानीके जीवनव्यवहारमें होने आवश्यक गुणः

यह क्षेत्रमें रहे हुए क्षेत्रज्ञके ज्ञानका स्वरूप बताते हुए ज्ञानके गुण कहते हैं ! क्षेत्रमें ये ज्ञानके लिये बोने योग्य भी है – साधारन दशामें ।

१. **"अमानित्वं"** (प्रमुदत्त) स्वगुणोंसे वा उत्तमताके भानसे वा लोकादरसे होती बडप्पनकी भावना, स्वमहत्ताके भानसे मानापेक्षादिका न होना । सब कुछ भगवत्कृपासे ही है, समझने से अमानित्वय होगा ।

२. **"अदंभित्वं"** लोकप्रदर्शनार्थ, स्वलाभपूजार्थ, धर्मादिकार्य पाखंडसे न करनेकी भावना, अच्छे होनेका दिखावा न करना वगैरह । एषणा होती है तो दंभका संभव है । एषणा–रहित होनेसे दंभ नहि रहेगा । सबके प्रति आत्मदृष्टि – भगवद्भाव वा प्रेम रखना ।

३. **"अहिंसा"** – परपीडादि न करना, न कराना।

४. **"क्षान्ति"** – दुष्टादि– जनोंका अतिक्रम सहन करना । मन की शान्ति बना रखना ।

५. **"आर्जवं"** सरलता । एषणा – विषयभोग – वासना न रहे तो सरलता होती है।

६. **"आचार्योपासनं"** – स्वशास्त्रके विचार, आचार, प्रचार करे वह आचार्य है । आचार्य – ज्ञानदाता गुरुकी सेवा, स्वशास्त्रज्ञान वा जीवनसंस्कारके लिये आचार्य के पासमें रहना।

७. **"शौचं"** – बाह्य पवित्रता – जलादिसे तथा आंतर– पवित्रता प्रभु – प्रेम – स्मरणसे । रागं–द्वेषादि – वासनादि– रहित मन शुद्ध होता है ।

८. **"स्थैर्य"**– प्रतिकूलता – क्लेशादि होने पर भी स्वभगवन्मार्गमें स्थिर– दृढ रहना । तन–मन की चंचलता न होना । बाह्याकर्षण – आंतरलालसासे चलित न होना ।

९. **"आत्मविनिग्रहः"** –भूख– प्यास, शीतोष्णादि– शारीर तथा अंतःकरणके कामादि– आवेशोंको शांत रहकर सहन करना। प्रसन्न रहना, प्रभु– सन्मुख रहेना ।

१०. **"इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं"** – इन्द्रियोंके विषयभोगमें वैराग्य, सृष्टि स्वभोगके लिये नहीं, भगवानके लिये सेवार्थ है, ऐसी समझसे भोगेच्छा न होना ।

११. **"अनहंकार"**– मिलते हुए मानसे उत्तमताके भानसे अभिमान न होना ।

१२. **"जन्म– मृत्युजरा व्याधि दुःखदोषानुदर्शनम्"** – जन्म (सर्वदुःखका मूल), मृत्यु (शरीर छूटना, भगवद्विस्मरण), जरा (वृद्धावस्था, शक्तिह्रास), व्याधि (रोगादिक्लेश,– आदि सब

दुःखोमें अपने दोषोंका विचार । (अथवा, जन्मादि– दुःख–दोषके विचार)

१३. **"आसक्तिः"**– पुत्रादि– स्त्री– धरा– द्रव्यादि– शिष्य–आश्रम– मठादि– अधिकार– पदादि– में अनासक्ति ।

१४. **"अनभिष्वंगः"**– शिष्य– पुत्रादिमें समदुःख सुखानुभवसे तन्मय न होना।

१५. **"नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु–"** इष्ट वा अनिष्टकी प्राप्तिमें भगवदिच्छा वा भगवदल्लीला– विचारसे नित्य समान (स्थिर) चित्त रहना ।

१६. **"मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी"**– मेरेमें (भगवान् श्रीकृष्णमें लौकिक– वैदिक– फलापेक्षा वा अन्य–प्रलोभन– भयादिके बिना, अनन्य (प्रेम) योगसे अन्यत्र चलित न होने दें, ऐसी सुदृढ– सर्वाधिक– अनन्य भक्ति ।

१७. **"विविक्तदेशसेवित्वं"**– पवित्र (भगवद्धर्मानुकूल)– एकांतस्थानमें रहना । जनसंपर्क– शिष्यसंग्रह– सार्वजनीन स्थान निर्माणादि– न करना ।

१८. **"अरतिर्जनसंसदि"**– जननधर्मादिक्लेश युक्त– लौकिकासक्त लोगोंके– समूहमें रुचिका न होना । लौकिक लाभ पूजार्थयत्नसे अपनी लोक टोलियाँ न जमाना । लोकलालसावाले, भगवत्संबंधरहित, भगवानको गौण माननेवाले– लोगोंमें रुचि न होना ।

१९. **"अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं"**– आत्म– स्वरूप– ज्ञानमें

नित्यभाव । बहिर्मुख– मनोवृत्तिको बुद्धिसंयमसे बदलकर– अंतर्मुख बनानी । बुद्धिसे पर प्रभुको जानना ।

२०. **"तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं"** – **"तत्त्व"**– भगवान् श्रीकृष्णके विषयमें ज्ञानके लिये श्रीवेद–गीता–ब्रह्मसूत्र– भागवतादि सच्छास्त्रोंका अर्थ– चिंतन– विचार ।

ये बीस ज्ञानके गुण वा धर्म बताये । यह **"ज्ञान"** है । ये जिसमें हो यही **"ज्ञानवान्"**– **"ज्ञानी"** है । इससे विपरीत भाव मानित्वादि– अगर हो तो वह अज्ञान है, जिसमें हो वह अज्ञानी है। अपनेको **"ज्ञानी"** माननेवाले सबको ये गुण अपनेमें परीक्षणीय हैं । जिसमें ये गुण नहीं है, वह कितना भी पढा– लिखा प्रवचनादि करता हुआ भी अज्ञानी हैं, उसका संग करने योग्य नहीं है ।– प्रसंगकी तो बात ही क्या?! श्री वल्लभाचार्यजीने भी "जलभेद"– ग्रंथमें वक्ताके भेद बताये हैं । किससे सुनना, लाभ लेना, यह तो गुणदेखके स्वविवेकसे श्रोताका निश्चित करना होता है ।

भगवानके बत्तीस गुण :

अब **"ज्ञेय"**– स्वरूप बताते हैं । ज्ञेयको जाने तो अमृत–(मोक्ष)– का आनंदानुभव होता है । लक्षण (गुण)– रूप– नामसे "ज्ञेय"। –निर्देश करते हैं,–

१. **"अनादि"**– जिसकी आदि– उत्पत्ति नहीं है– ऐसा, अनादि– अनंत ।

२. **"मत्परं"**– मैं ही पर (श्रेष्ठ) हूँ जिससे वह– अक्षरब्रह्म–

भगवद्धामरूप ।

३. “**ब्रह्म**” – बृहत्– व्यापक, सर्ववेदान्तप्रतिपाद्य ।

४. “**न सत्तन्नाऽसदुच्यते**” – न सत्– न असत्–विरुद्धधर्माश्रय– सर्वविरुद्धधर्मोंके आश्रयरूप होने पर भी जिसमें धर्मोंका परस्पर– विरोध नहीं होता है । दुर्ज्ञेय हैं । “**नहि विरोध उभयं भगवत्यपरिगणितगुणगणे इश्वरेऽनवगाह्यमाहात्म्ये-ऽर्वाचीन – विकल्पवितर्कविचारप्रमाणाभासकुर्तकशास्त्र कलिलान्तःकरणाश्रयदुरग्राहवादिनां विवादानवसर उपरतसमस्त मायामये केवल एवात्ममाया मन्तर्धाय को न्वर्थो दुर्घट इव भवति स्वरूपद्वयाभावात् ॥**” – श्रीभागवत (६–९–३६) भगवानमें परस्पर विरोधिधर्म रहने पर भी कोई विरोध नहीं है– (क्योंकि), भगवान् अगणित गुणवाले हैं, सर्वसमर्थ हैं, अगाध महिमावाले हैं, आधुनिक लोगोंके (अनेक प्रकारके) विकल्प– वितर्क– विचार– नकली प्रमाण– कुतर्कपूर्ण-शास्त्रके अध्ययनसे हुई अव्यवस्थासे अपने हृदयको दूषित करके दुराग्रहसे विवाद करनेवालोंके ऐसे वादविवादोंके लिये (आपमें) अवसर ही नहीं है, आप समस्त मायामय पदार्थोंसे पर, केवल ही हो । जब आप अपनी माया को अपनेमें अंदर रखलेते हो, तब कौन सा पदार्थ आपमें नहीं हो सकता?– क्या अशक्य– अयोग्य जैसा होता हैं ?! आपमें न लौकिक कर्तृत्व-भोक्तृत्व है, न औदासीन्य है । आप दोनोंसे विलक्षण हो, अनिर्वचनीय हो। (कयोंकि) आप आपकी स्वतंत्रेच्छासे आपकी लीलाके लिये लोकवेदमर्यादाओंका पालन करते भी हो–, न करते भी हो– अन्यथा भी करते हो ।

५. “**सर्वतः पाणिपादान्तं**” – सर्वतः जिसके हस्त– चरण– अंत (अगुलियाँ) है । भगवानकी क्रियाशक्ति– गतिशक्ति सर्वत्र– सर्वदा– अबाधित है । सर्वसेव्य है। अप्राकृत– आनंदमय– हस्त– पादादि स्वरूप है, साकाररूपसे सर्वव्यापक है । ब्रह्मका रूप भी ब्रह्म ही है । इसलिये सर्वथा अविकृत है । – “**अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ।**” ब्र. सू. (३–२–१८) जागतिकरूप ब्रह्मका नहीं है, ब्रह्म (धर्म) रूप ही है । हस्त– चरणादि– सर्वतः होनेसे ब्रह्मकी अप्राकृत– अविकृत– क्रिया– गति– सर्वत्र है, सर्वत्र सर्वलीला करता हैं । “**अन्त**” – शब्दसे ब्रह्म सर्वव्यापक होने पर भी स्वेच्छासे– लीलानुकूल परिच्छेदावभान कराते हुए, यथेच्छरूपसे प्रकट होकर अपने भक्तोंसे लीला करता हैं । “**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ।**” ब्र. सू. (२–१–३३) लीलाका प्रयोजन लीला ही है। सर्वसमर्थ ईश्वरको कोई पूछ नहीं सकता। वह लीला मोक्ष है। तत्कीर्तनसे भी मोक्ष है ।

६. “**सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं**” – सर्वतः जिसके नेत्र– शिर– मुख है । सर्वज्ञ है, सर्व–मुख्य है । सर्वभोक्ता है ।

७. “**सर्वतः श्रुतिमल्लोके**” – सर्वतः श्रवणेन्द्रिय युक्त है। स्वस्तुति सुनते हैं, कृपालु है । रूप– प्रपंच उपर कहा ! अब नाम– प्रपंच है। स्नेह– आर्तके पुकार सुनते हैं !

८. “**सर्वमावृत्य तिष्ठति**” – सर्वको व्यापके सर्वेन्द्रियुक्त– साकार– विराजते हैं । हस्त– चरणादिसे परिच्छिन्न नहीं होता

है, साकार ब्रह्म सर्वव्यापक है। प्रपंच (अपना स्वरूप– विस्तार– जगत्)की उत्पत्तिके बाद ये धर्म स्पष्ट होते हैं, परंतु नित्य होनेसे पहले कहे हैं।

९. “**सर्वेन्द्रियगुणाभासं**”– सर्व– इन्द्रियोंके गुण (विषय)में भासभान। चक्षु वगैरह के गुणरूप वगैरहमें भासभान। ज्हाँ जहाँ पर भी सौदर्न्यादि– रूप– दिखाई देता है– वहाँ वहाँ पर वह सबकुछ भगवत्संबंधसे ही है।

१०. “**सर्वेन्द्रियविवर्जितं**”– सर्व प्राकृत– लौकिक– इन्द्रियोंसे– रहित है। सब अलौकिक– अप्राकृत– अविकृत– इन्द्रिय– स्वरूपादि है। श्रुति है– “**अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः ॥**” – “हाथ– पैर– रहित है (तथापि) वेगवाला है, पकडनेवाला है, चक्षुरहित देखता है, कर्णरहित सुनता है।”– यहाँ श्रुतिमें, ब्रह्ममें इन्द्रिय– कार्योंका निषेध पूर्वमें है, परंतु पुनः श्रुति यही इन्द्रिय– कार्योंका निरूपण करती हैं। श्रुतिसंदेह– समाधान महर्षि व्यासजी ब्रह्मसूत्रमें करते हैं–, “**प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः।**” (३–२–२२)– प्रकृतमें जितने दिखाई देते लौकिक– पदार्थ है उनके लौकिक धर्मोंका श्रुति निषेध करती है, वेदोक्त ब्रह्म धर्मोंका निषेध शक्य नहीं है। जिस वेदवाक्यमें पूर्वमें निषेध है, इसी ही वाक्यमें पुनः यही धर्मोंका विधान करते हैं। श्रुति सर्वत्र लौकिकका प्रतिषेध करती है, अलौकिकका विधान करती है।

११. “**असक्तं**”– सर्वत्रासक्ति– रहित है, संगाभाव है, असंग है।

१२. “**सर्वभृत्**”– सर्वाधारभूत।

१३. “**निर्गुणं**”– सत्त्वादि– प्राकृतगुण– रहित–। “**निर्गुणस्य गुणास्त्रयः।**”– श्रीभागवत (२–५–१८)– निर्गुण ब्रह्मके तीन गुण हैं। अप्राकृत– दिव्य– गुण– सहित हैं।

१४. “**गुणभोक्तृच**”– गुणोंमें रहकर गुणोंका भोग करनेवाला। “**भुंक्ते गुणान् षोडश षोडशात्मकः।**”– श्रीभागवत (२–४–२३)

१५. “**बहिरन्तश्च भूतानां**”– जड– चेतन (चराचर) भूतोंकी बहारसे भोक्तृत्वसे और अंदर उसके आत्मरूपसे हैं।

१६–१७. “**अचरं– चरमेव च**”– स्थावर और जंगम। स्थावत्वके साथ जंगमत्व, जंगमत्वके साथ स्थावरत्वसे विरुद्ध–धर्माश्रयी है। प्रपंचात्मक भी आप ही है।

१८. “**सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयं** ”– ब्रह्म भक्तोंके पासेमें लीलानुकूल रूपमें सूक्ष्म होनेसे विशेषरीतिसे जाननेको अशक्य है। अतिदूरका, अतिसमीपका, इन्द्रियोंकी अशक्तिसे, मन एकाग्र न होनेसे, सूक्ष्म होनेसे, व्यवधान होनेसे, परिभवसे, गुणादि दब जानेसे, समानमें मिल जानेसे, वस्तु होने पर भी ज्ञात होती नहीं है– शून्यवत्– अप्रत्यक्र्य– है– प्रभु!

१९. “**दूरस्थं चान्तिके च तत्।**” दुष्टोंसे दूर रहा हुआ, भक्तोंकी निकटमें हैं। “**तदेजवति तन्नैजति तद्दूरे तदन्तिके–**”

–श्रुति है । विरुद्धधर्माश्रय है, निकट हृदयमें होता हुआ, कर्मविक्षिप्त चित्तवालोंसे दूर हैं । प्रवाह–मर्यादावालोंके लियें–दूर, पुष्टिमार्गवालोंके निकट विराजते हैं । विरहमें, बहारसे–दूर हृदयमें– पासमें ।

२०. "**अविभक्तं च भूतेषु**"– स्थावर– जंगम– पदार्थोंमें अपनी लीलाके लिये सबको प्रकट किये हैं, इसलिये अविभक्त –अभिन्न, अनंतरूपमें भी परस्परमें विभेद नहीं है। केवल इच्छामात्रसे इतने ही मात्र प्रकट होनेके लिये अलग जैसे हैं ।

२१. "**विभक्तमिव च स्थितं**"– लीलारसके लिये स्वेच्छासे द्वितीयरूप हो ऐसे रहा हुआ ।

२२. "**भूतभर्तृं**"– सर्वभूतोंका रक्षक– पोषक – पालकरूप । सबके स्वामी ।

२३. "**तज्ज्ञेयं**"– पूर्वोक्त "**ज्ञेय**" ।

२४. "**ग्रसिष्णु**"– ग्रसनशील । संहारकरूप । "**कालोSस्मि**" – "में काल हूँ ।" (११–३२) "**अत्ता– चरावर ग्रहणात् ।**" (ब्र.सू. १–२–९)– जंगम– स्थावरके ग्रहणसे भक्षक हैं ।

२५. "**प्रभविष्णु**"– प्रभवनशील । सृष्टिकालमें लीलात्मक रसदानार्थ प्रकट होनेवाले । सृष्टिरूप होनेके स्वभाववाले– "**बहुस्यां प्रजायेय–**" श्रुति है ।– "मैं बहुरूप होऊँ– उच्च नीवभावसे होऊँ ।" जगत् प्रकाशक ।

२६. "**ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः**"– सूर्य– चंद्रादिके भी प्रकाशक । "**यदादित्य गतं तेजो** जगद्मासर्यतेSखिलम् । **यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ– तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥–**" गीता (१५–१२) "सूर्यमें रहा हुआ जगत्प्रकाशक तेजः जो चंद्र, जो अग्नि में है, वह तेजः मेरा जान ।"

२७. "**तमसः परं**"– "**तम आसीत् तमसा गूढं प्रकेतमग्रे**"–श्रुति है। तमःसे आगे स्वधामवाले ।

२८. "**ज्ञानं**"– ज्ञानबुद्धिवृत्यभिव्यक्त्यात्मक। "**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।**"– श्रुति है । ज्ञानरूप– ज्ञापनेच्छासे प्रकट होता हुआ ज्ञानरूप ।

२९. "**ज्ञेयं**"– ज्ञेयरूपसे आविर्भूत– पुरुषोत्तमगृहात्मक । अक्षरब्रह्म ।

३०. "**ज्ञानगम्यं**"– ज्ञानसे ज्ञाप्य प्राप्य । अक्षरब्रह्ममात्मक ।

३१. "**हृदि सर्वस्य धिष्ठितं**"– सबके हृदयमें रहे हुए। सर्वप्रेरक–रूपं । जहाँ जैसी इच्छा होती है– वैसे रूपसे प्रकट होते हैं । "**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेSर्जुन तिष्ठति ।**" (१८–६१)– "सर्वके हृदयमें ईश्वर रहे हुए है ।"

३२. "**इतिक्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।**"– क्षेत्र, ज्ञान, ज्ञेय, सर्वात्मक, सर्वधर्मविशिष्ट– स्वरूप, यह सब अक्षरात्मक बत्तीस गुण संक्षपसे कहे हैं। यह भगवद्विभूति–रूप अक्षरात्मकता सबकी जानके मेरा भक्त भावात्मक– स्वरूप लाभके योग्य होता हैं ।

सबका मूल है– भगवान् श्रीकृष्ण ः

पुरुष (क्षेत्रज्ञ)के प्रभावका वर्णन करते हुअे, अत्यंत विरुद्ध–

स्वभाववाले प्रकृति- पुरुष, जो कारणस्वरूपसे अनन्य है, उनकी सर्वकारणता अब बताते हैं। सांख्यके एकदेशी मतमें- प्रकृति आत्मासे भिन्न, पुरुषकी तरह नित्य हैं। भगवदीय सांख्यमें- प्रकृति भगवानकी शक्ति है।

“प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः।
सतोऽभिव्यंकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम् ॥”-

-श्रीभागवत (११-२४-१९)

“सत्”- “कार्य” का उपादान- कारण- **प्रकृति**, “**पर-पुरुष**”- आधार हैं, सत्को व्यक्त करनेवाला- **काल**,- यह तीनों “**ब्रह्म**” है- यह ‘**मैं ही हूँ**”। भगवान् ही अपनी लीलाके लिये अपने धाम अक्षरब्रह्मके रूपांतर प्रकृति- पुरुष- काल-रूपसे करते हैं। सबका मूल है- स्वयं भगवान्- पुरुषोत्तम-श्रीकृष्णः !-

सांख्यशास्त्रका विषय भगवान् नहीं हैं। तत्प्रवर्तक-नियामक- अक्षरसे नीचे ही वह शास्त्रकी प्रवृत्ति हैं। सांख्यका सर्वकारण है- प्रकृति- पुरुष। ये दोनोंका कारज- सर्वकारण कारण है- अक्षरब्रह्म। पुरुषोत्तम, अक्षर, काल, प्रकृति- पुरुष-यह पाँच अनादि है, यह मतसनुरूप यहाँ सांख्यसिद्धांत- प्रवृत्ति है, प्राकृतका आश्रय करके नहीं। भगवच्छक्तिरूपा- प्रकृति भगवदंशरूप- भोक्ता- पुरुष, अनादि है। विकार सेवोपयोगि (देहेन्द्रियादि) और (सुख- दुःखादि-) गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होतें हैं। (पंचमहाभूत- पंचसूक्ष्मभूत) कार्य- कारण- देहेन्द्रिय- अंतः करण) कर्तृत्वमें हेतु हैं- प्रकृति! सुख- दुःख- भोगमें हेतु है- पुरुष ! प्रकृतिस्थ (देहस्थ) पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुण (सुख- दुःखादि) भोगता है। गुणोंमें आसक्तिसे अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्मता है। यह देहमें परम पुंरुष (पुरुष रूपसे प्रकट भगवान्) साक्षी, अनुमोदिता, धारक, भोक्ता, महेश्वर (सर्वनियामक), परमात्मा, (प्राण- जीवादि) है। यह जानने वालाको पुनर्जन्म नहीं होता है।

विविध लोगोंका भगवद्भजनः

कई- ज्ञानी- ध्यान- परिकल्पनासे अपने हृदयमें मनसे आत्मरूप भगवानको देखते हैं। अन्य नित्यानित्य- वस्तु-विवेक रूप सांख्यसे योगसे देखते हैं। अन्य कर्मयोगसे कर्ममें कर्मरूपसे प्रकट प्रभुको देखते हैं। अन्य अज्ञान लोग न जानते हुए गुरुजनसे सुनके अनुभवके बिना ही भजते हैं। वह सब श्रवणादिके श्रुत्युक्त प्रकारसे श्रद्धासे मृत्युको तैरते हैं, मुक्त होते हैं। भगवान् शास्त्र, वचनपालनके लिये सबको तारते हैं, स्नेहसे नहीं।

जो कुछ जड- चेतन- प्राणी उत्पन्न होते हैं, वह सब क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ- संयोगसे होते हैं। यह सब नश्वरमें भूतलीलार्थ-समतासे रहे ईश्वरको जो जानता (देखता) है, यही यथार्थ जानता (देखता) है। यह यथार्थ जानने (देखने)वाला आत्मघात (अन्यथा- प्रतिपादन) नहीं करता है। परमगति (वैकुंठ) वा अक्षरात्मिका)को प्राप्त करता है। प्रकृतिसे ही (लीलोपयोगि) कर्म होते हैं, जो अपनेको अकर्ता (हरीच्छा बिना कुछ न कराता)

जानता है, वही जानता है । जब भिन्न भिन्न (जड–चेतन) सबको एक आत्मामें (संहारलीलास्थ भगवानमें) रहे जानता है, उससे ही सब (उत्पत्तिकालमें) विस्तार जानता है, तब ब्रह्मको प्राप्त होता है। शरीरमें रहा हुआ वह (अनादि–साक्षि) अविनाशी परमात्मा कुछ करता नहीं है, लिप्त होता नहीं है, जैसे आकाश सर्वव्यापक होने पर भी सूक्ष्मतासे लिप्त नहीं होता है, जैसे एक सूर्य विश्वको लीलार्थ प्रकाशित करता है, ऐसे (भगवदंश होनेसे) क्षेत्री क्षेत्रको ! क्षेत्र– क्षेत्रज्ञ– भेद (लौकिकसृष्टिमें भी) ज्ञान दृष्टिसे जो जानता है, भूत– प्रकृति– मोक्ष (अविद्यासे छूटनेके उपाय) भक्ति– ज्ञान– ध्यानादि जो जानता है, वह परम (मोक्ष)– (भगवत्प्रापक तत्त्वज्ञान)को प्राप्त होता है ।

अध्याय – १४ : गुणत्रयविभागयोगः श्लोक – २७ :

निर्गुण भगवानके अनंतगुण :

अनंतगुण है– भगवानके । एक एक गुणकी विशालता– गंभीरताका भी अंत नहीं है और कुल गुणोंकी गिनती भी शक्य नहीं है– गिनतीका भी अंत नहीं हैं। उनका अंत नहीं देशमें, अंत नहीं कालमें, अंत नहीं वस्तुमें, यह है– अनन्त ! अनंतगुण होते हुए भी भगवान् है,– निर्गुण !!– प्राकृतगुण– रहित और अप्राकृत गुण– सहित, है,– निर्गुण ! प्रकृति (माया– अजा– निद्रा) के तीन ही गुण ! है तो प्रकृति (माया) भगवानकी शक्ति। स्वतंत्र नहीं है वह ! है– भगवानकी वशमें ! परंतु वश करती है– विश्वको ! अपने तीन ही– गुणोंसे ! वह गुण भी मिले हैं– भगवानसे ! निर्गुण भगवानके हैं– तीन गुण !!

निर्गुण भगवानके तीनगुण :

"सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः ।
स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभोः ।।"–

–श्रीभागवत (२–५–१८)

निर्गुण भगवानके तीन गुण हैं,– सत्त्व, रजः और तमः । ऊर्णनाभि– (मकडी) जैसे अपना जाला बनानेके लिये मुँहमेंसे तंतु बहार निकालता है, ऐसे भगवानने भी स्वलीलार्थ त्रिविध– सृष्टिके लिये तीन गुण अपनेमेंसे ही प्रकट किये । भगवान् सच्चिदानंदरूप है। उनके सद्रूयमें से सत्त्व, चिद्रूपमेंसे रजः, और आनंदांशमेंसे तमः प्रकट अपने आप भगवान् ही करते हैं । वे तीनों गुण भी भगवद्रूप हैं, भगवानने ही उत्पन्न किये हैं । ये गुण पूर्वमें भगवानमें नहीं थे। इसलिये भगवान् है– निर्गुण ! संस्कृतमें "गुण"का अर्थ है– रज्जु– बंधन करनेवाला ! सत्त्व, रजः और तमः बंधन करते हैं, इसलिये "गुण" कहे जाते हैं । कपासमें तंतु तो नहीं होते हैं। योग्य प्रक्रियासे कपासके अवयय (अंश) पूर्वोत्तरक्रममें हो जाते हैं, कपास ही स्वयं (रज्जु) तंतु रूप हो जाता है । निर्गुणमेंसे गुण निकलते हैं ऐसे स्वयं निर्गुण– भगवानने अपनी– लीलेच्छासे ही अपनेमेंसे गुण प्रकट किये! आप अविकृत ही रहते हैं। प्रभु तो सर्वसमर्थ हैं । प्रभु गुणरूप हुए । अतः गुण भगवद्रूप हैं । माया (प्रकृति)ने वह तीन गुण भगवानसे लिये !! मायाके ये स्वतंत्रगुण नहीं है । – भगवानने दिये– मायाने लिये! यह माया जगद्–रचनामें साधनारूपा है। मायाके नियामक है– भगवान् ! यह मायाके गुणोंमें भगवान्

कालसे क्षोभ कराते हैं ।

भगवानकी सृष्टिलीला– प्रक्रिया :

काल– कर्म– स्वभाव वे तीनों अक्षरब्रह्मके रूपांतर हैं । स्वयं पूर्णानंद भगवान्– परब्रह्म जब अनेक रूप होनेकी इच्छा करते हैं, तब आपका आनंद स्वल्प तिरोहित जैसा होता है । वह स्वरूप होता है– अक्षरब्रह्म ! वह है– सृष्टिमूल ! भगवानका धाम, चरण, पुच्छ, आसन– प्रभृति– रूप ! अक्षरके ही रूपांतर काल– कर्म– स्वभावका भगवान् सृष्टिलीलाके लिये स्वीकार करते हैं । तब कालसे मायाके गुणोंमें क्षोभ होता हैं । स्वभावके संबंधसे गुण परिणामयुक्त होते हैं । उसमें जन्मनिमित्तक कर्मका संबंध होनेसे महत्त्– तत्त्व– उत्पन्न होता है। सांख्यमें उसे बुद्धि कहते हैं। जहाँ कालसे ही गुणसंपर्क है– वह भूत– भविष्य– वर्तमान– रूप संवत्सर– काल हुआ । स्वभावके अधिक प्रवेशसे परिणाम प्राप्त होता हुआ सत्– जडरूपमें घटादि– पदार्थरूप हुआ ! इसमें भी कर्मके अधिक– प्रवेशसे देहादि–संघातका जन्म हुआ ।– सबमें विराजते हैं– भगवान्। लीला है– भगवानकी ! स्थूलरूपसे उत्पन्न "महत्तत्त्व"में कालकर्म– स्वभावसे विकृति होने पर उसमें– से अहंकार हुआ। मायाके तीन गुण महत्तत्त्वमेंसे उसमें आये । अहंकार त्रिवृत हुआ,– तीन गुणवाला हुआ,– सात्त्विक, राजस, तामस । क्रमशः ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और द्रव्यशक्ति भी कहा जाता हैं । "भूतादि" – कहे गये तामस– अहंकारमेंसे क्रमशः पंचमहाभूत,– आकाश, वायु, तेजः, जल, पृथ्वी, हुए ! राजस अहंकारमेंसे दश इन्द्रियों हूई । सात्त्विक अहंकारमेंसे मनः और इन्द्रियके देव हुए।

सबमें भगवानने प्रवेश किया । सब भगवद्रूप है भगवानने इनको आज्ञा– प्रेरणा– शक्तिसे इकट्ठे करके अंड बनाया । हजारों साल तक जलमें रहे हुए वह अंडको आपने ही जीवाया। प्राणसहित आपने प्रवेश किया । ब्रह्मांड हुआ ।– विराट् पुरुषरूप हुआ । तब इसमें हजारों अवयवादि प्रकट हुए।

भगवानने प्रकट किये थे– तीन गुण ! प्रकृतिने लिये थे । उसके भी क्षोभसे हुए सर्जनमें ! सर्जनके प्रत्येक पदार्थमें वे तीन गुण है ही ! इसलिये होता है– सबको बंधन ! उसमेंसे छूटकारा होता है– तीनों गुणोंसे पर होनेसे !– निर्गुण– गुणातीत– होनेसे ! गुणातीत भगवानकी कृपासे ही गुणातीत हो सकते हैं। "मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम् ॥" –श्रीभागवत (११–२५–२४)– भगवन्निष्ठा ही निर्गुण बनाती है। वह संभव है– भगवत्कृपा–पूर्वकके यह ज्ञानसे वा भक्तिसे !

वक्ता– गुरु–की प्रतिभा :

यह बात ही भगवान् प्रकारान्तरसे कह चूके हैं । फिर फिर भी कहते रहते है, परंतु कहनेके तरिके नये नये होते हैं । एक ही सिद्धांत विविधरूपमें, विविधरीतिसे, विविधदृष्टान्तोंसे, कहना यह तो वक्तकी– गुरुकी– प्रतिभा होती है । प्रभुकृपासे ही निखरती है । स्वयं प्रभुकी तो फिर बात ही क्या होती है?! प्रभुने अर्जुनसे कहा,–

सबज्ञानोंका उत्तमज्ञान :

"परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥" (१)

भगवानने,– "**भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।**" –(१३–३४)में कहा है। वह "**परं**"– पुरुषोत्तम– प्रापक तत्त्वज्ञान है। यहाँ भगवानने यही "**परं**"– से प्रारंभ कर दिया ! गुण भगवानके !– दिये प्रकृतिको– लिये प्रकृतिने– किये उपयोगी विश्वसर्जनमें। सर्जनके प्रत्येक पदार्थ प्राकृत– त्रिगुणात्मक– हो गये। गुणोंने बंधन कराये ! बंधनमेंसे मुक्तिके लिये अब भगवान्– कृपा– ज्ञान ही आवश्यक है,– "**परं**"। स्पष्ट कहा, "**भूयः – प्रवक्ष्यामि**"– पुनः कहता हूँ। पहले तो साधारण रूपसे कहा था, अभी तो ससाधन कहता हूँ।– सब ज्ञानोंका उत्तमज्ञान ! निरीश्वर सांख्यमें तो प्रकृति– पुरुष (क्षेत्र– क्षेत्री) संयोग स्वतंत्र माना है ! यहाँ तो संयोग भगवदिच्छासे है। श्रीमद् भागवत (१०–८७–३१) में "**वेदस्तुति**"में स्पष्ट है,–

"**न घटत उद्भवः प्रकृतिपुरुषयोरजयो–**
रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुद्वत्।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥"–

"**अजयोः**" – जन्मरहित (अनादि), "**प्रकृतिपुरुषयोः**" – प्रकृति और पुरुषसे, "**उद्भवः**" – उत्पत्ति, "**न घटते**" – शक्य नहीं है। जगतमें जीव तो विस्फुलिंग – जैसे, ब्रह्ममेंसे ब्रह्मोच्छासे व्युच्चरित हुए हैं। इसलिये प्रकृति–पुरुषसे उनकी तदात्मकता नहीं है। तदात्मकता तब संभव है कि जो जिस रूपसे – आविर्भाव होने योग्य है। मिट्टीके रूपसे घटका आविर्भाव होता है, इसलिये घट मिट्टी रूप है, – तादात्म्य –

संबंध है। जगद् ब्रह्मरूप है, प्रकृति (रूपसे ब्रह्म) निमित्तकारण है। जीव तो ब्रह्मांश है। संघात तो न प्रकृत्यात्मक (प्रकृतिके–उपादानकारणवाला) है, न पुरुषात्मक है, न उभयात्मक है, दोनों अज (उत्पत्तिरहित) होनेसे कार्यरूपसे आविर्भाव नहीं है। तो फिर संघात उत्पन्न कैसे होता है ?! "**उभययुजा**" – (प्रकृति–पुरुष) उभयके संयोगसे, "**असुभृतः**" – (देवादि) संघात उत्पन्न होते हैं। "**जलबुद्बुद्वत्**" – पानीके बुद्बुदेकी तरह। पानीमें बुद्बुदे पानी–पवनके संयोगसे होते हैं। न केवल पानीसे, न केवल पवनसे। ऐसे, प्रकृति–पुरुष दोनोंके संयोगसे संघात उत्पन्न होते हैं। दोनों उत्पत्तिरहित (अज) का संयोग नहीं होता है, दोनों व्यापक तथा क्रियारहित होनेसे संयोग नहीं होता है। ऐसे दोनोंका संयोग असंभव होने पर भी, भगवदरूप वा भगवानसे सिद्ध होता है। अद्भुतकर्मा है – कृष्ण ! इससे भगवदात्मकता ही होती है, – सब संघातोंकी ! अतः भगवानमें ही वे सब लुप्त होते हैं, अन्यत्र नहीं। "**विविधनामगुणैः**" – ये संघात तो विविध– नाम–रूप– गुणसे परस्पर विलक्षण है। इससे ज्ञात होते है, – संघात भगवानसे ही होता है। भगवान् तो अचिन्त्य अनंत – शक्ति और अनंतमूर्ति–वाले हैं। "**परमे**" – परम–पुरुषोत्तम ही है, अन्य नहीं है। वे तदात्मक होते हैं, – जो जहां एकता प्राप्त होते हैं, जैसे– "**सरितः इव अर्णवे।**" – सरिताएं समुद्रमें मिलकर एकरूप हो जाती हैं। समुद्रमेंसे मेघ द्वारा नदियाँ उत्पन्न होती हैं, समुद्रमें मिलती हैं। जलात्मक समुद्रकी नदियाँ जलात्मिका तदात्मिका– तादाम्य संबंधवाली होती हैं। ऐसे सच्चिदात्मक सब जीव संघातादि सच्चिदात्मक

भगवान्में ही प्रतिष्ठित होते हैं। जैसे सब पुष्परस शहदमें लीन होते हैं, फिर भी भिन्न रूपसे नहीं होती है, परंतु वह एकता प्राप्त- "मधु" रूपसे ही प्रतीत होते हैं, ऐसे भगवानमें भी सब सूक्ष्मरूपसे रहते हैं, भिन्नरूपसें प्रतीत नहीं होते हैं।

यही है - "**ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्**" ।- (१) ज्ञानोंका उत्तम ज्ञान ! "**ज्ञायते इति ज्ञानम्**" जाना जाता है - वह ज्ञान है, - व्यर्थ नहीं - "**स्वयं भगवान्**" !- ज्ञानोंमें उत्तम - ज्ञान। अचिन्त्य शक्ति - महिमा - वाला पुरुषोत्तमज्ञान ! - तत्त्वज्ञान - ज्ञानोंमें यह ज्ञानकी तो उत्तमता है। परंतु भक्तिसे तो उत्तमता नहीं ही है। जो जानके सर्व मुनिलोक- "**परां**" **गुणातीतां**,- "**सिद्धिं**" - मुक्ति- लीला- योग्य स्थिति, "**इतः**" "यहांसे, लौकिकदेहमेंसे, त्रिगुणात्मकतामेंसे। त्रिगुणात्मक- स्थितिमेंसे यह तत्त्वज्ञानसे मननशील मुनिलोग गुणातीत - स्थिति (मुक्तिको प्राप्त हो गये। यह ज्ञानके आश्रयसे मेरी-सधर्मता - गुणातीतता, ऐश्वर्यादि षड्गुणवत्ता,- को प्राप्त होकर सृष्टिमें पुनः जन्मते नहीं, प्रलयमें पीडा भोगते नहीं, - मेरी निकटमें रहते है। यहां बहुवचनसे, अनेकलोग मुक्त हो गये हैं, यह सूचन भी है।

"**महत्**" - देशकाल वस्तुकी सीमामें न समाजानेवाला, "**ब्रह्म**" - बृहत् - बृंहणवाला - पुरुषोत्तमलीलानुरूप वस्तुकी वृद्धि करनेवाला, "**महद्ब्रह्म**" - प्रकृति, - "**मन योनिः**"- पुरुषोत्तमका लीलानुरूप, विचित्र, अनेक वस्तुप्रकटनरूप गर्भाधानस्थान है। इसमें, "**गर्भ**" - बीजभूतसूत्र लीलेच्छात्मकभाव, मैं (अक्षरात्मक) स्थापन (इक्षण द्वारा) करता हूँ। इससे होता

है - विराट् पुरुष ! इसमेंसे होते है - भगवच्चेतनांश अणुप्राय, प्राणधारण- प्रयत्नपरायण जीव ! यह गर्भाधानके बाद सर्वभूतोंके उत्पतिस्थान - महद्ब्रह्म (प्रकृति)- माँ - है, मैं इच्छाज्ञानात्मक बीजपद पिता हूँ ! यह माता-पिताकी भावनासे पुराणोमें लक्ष्मीनारायण भवानीशंकर वगेरह को स्त्री-पुं-भावापन्न निरूपित किये हैं। सत्त्व, रजः, तमः - प्रकृतिसे उत्पन्न गुण हैं। वे भगवानके चिदंशात्मक जीवको वश करते हैं, गुणभोग-रसानुभवलीला ऐसे भगवान् करते है।

स्वेच्छासे भगवानने अपनी विचित्र सच्चिल्लीलाके लिये चौदहलोककी बंधनलीलार्थ त्रिगुणात्मक सर्जनमें, त्रिगुणोंकी प्रधानता की ! सबमें होते है - तीनों गुण ! एक मुख्य होता है, दो गौण। मुख्यकी असर मुख्य होती है, गौणकी कभी प्रसंगवशात्। एक गुण दूसरे दो कों दबाके उपर आता है, तब उसका असर बलावत्तर हो जाता है। ये कार्यसहित आत्मा के गुण नहीं है, प्रकृति के है, संभूत- चेतनको वह वह शरीरमें गुण ही बांधते हैं। प्रकृतिका धर्म वहां तो हीनता-संपादक, देहमें अहंताकी वृत्ति करानेवाला है। भगवदंश-शक्ति-रूप प्रकृतिमें आये हुए गुण तो भगवानके ही है - सच्चिदानन्दरूप ही है। मूलतः परिणत होते हुए, जडगत होनेसे, बंधन करनेवाले हो गये हैं। बंधन करते हैं - इसलिये "**गुण**" है। प्रकृतिसे उत्पन्न - वह गुण - सत्त्व, रजः, तमः, देहाभिमानी अणुरूप भगवानके चिदंश अव्यय जीवको भी बांधते हैं। क्रमशः गुणोंके लक्षण, बंधन प्रकार बताते हैं, -

त्रिगुण – संग्रह :

सत्त्वगुण	रजोगुण	तमोगुण
१. निर्मलतासे प्रकाशक । अनामय (दुःखरहित) सुखसंग–ज्ञानसंगसे बंधनप्रद ।	रागात्मक, कामना–तृष्णाजनक । कर्मसंगसे बंधनप्रद ।	अविद्यासे (अज्ञानसे)– उत्पन्न । जीवोंका मोह करानेवाला । प्रमाद आलस्य–निद्रासे बंधनप्रद ।
२. सुखमें योजता है ।	कर्ममें जोडता है ।	ज्ञानको ढकके प्रमाद–आलस्य–निद्रामें जोडता है ।
३. रजस्तमः को दबाकर होता है ।	सत्त्व–तमःको दबाकर होता है ।	सत्त्व – रजः को दबाकर होता है।
४. जब वृद्धि होती हैं तब देह, इन्द्रिय, अंतःकरणमें प्रकाश–ज्ञान – सुख होते हैं ।	जब वृद्धि होती है तब लोभ, प्रवृत्ति, कर्मोका आरंभ, अंतःकरणकी अशांति – अस्थिरता, लौकिक– भोग–लालसा होते हैं ।	जब वृद्धि होती है तब अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद, मोह – होते हैं ।
५. गुणवृद्धिमें देह छूटनेसे जीव उत्तम ज्ञानोपासक पवित्र स्वर्गादि लोकको प्राप्त होता है ।	गुणवृद्धिमें देह छूटनेसे जीव कर्मासक्तिवाले मनुष्यमें जन्म प्राप्त करता है ।	गुणवृद्धिमें देह छूटनेसे जीव मूढ्योनि (पशु वगेरे) को प्राप्त होता है ।
६. कर्मफल सात्त्विक – निर्मल होता है ।	कर्मफल दुःख होता है ।	कर्मफल अज्ञान होता है ।
७. ज्ञान उत्पन्न होता है ।	लोभ उत्पन्न होता है ।	प्रमाद, मोह, अज्ञान उत्पन्न होते हैं ।
८. जीवका उर्ध्वगमन स्वर्गादिमें होता है ।	जीव भव्य– मनुष्यलोकमें रहता है ।	जीवको अधोगति मिलती है ।

जब दृष्टा गुणोंसे अन्यको कर्ता नहीं देखता (जानता) है, तथा गुणोंसे पर परमात्माको जानता है, तब वह भगवद्‌भावको प्राप्त होता है । जीव, देहोत्पादक वह तीन गुणोंको पार करके जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु– आदिसे छुटा हुआ अमृत (मोक्ष) प्राप्त करता है ।

गुणातीत – लक्षण – उपाय :

अर्जुनने तीनगुणोंसे पर – गुणातीत (निर्गुण)– जीवके लक्षण, आचार, तीन गुणोंसे पर होनेकी रीति (उपाय) – पूछे ।

भगवानने प्रेमसे बताया । द्वितीयाध्यायके "स्थितप्रज्ञ" – लक्षणको मिलते झुलते लक्षण हैं ।

१. सत्त्वगुणका कार्य–प्रकाश, रजोगुणकार्य – प्रवृत्ति, तमोगुणकार्य – मोहको बराबर प्रवृत्त हुए जानके भी द्वेष (राग भी) नहीं करता है, निवृत्त (गअे) हुएकी कामनाभी नहीं करता है।

२. उदासीनकी तरह, आत्मामें स्थिर, सुख–दुःख – मोहादि – गुणके परिणामोंसे विचलित होता नहीं है । गुणों ही गुणों में (इन्द्रियाँ ही विषयोंमें) प्रवृत्त होते है । ऐसा समझके जे परमात्मामें स्थिर रहता है, वह चलित नहीं होता है ।

३. सुख–दुःखमें समान, स्वरूपमें स्थित (स्वस्थ), लोह–पथ्थर – सोनामें समतावाला, अपने ध्येयमें दृढ–धीर, प्रियाप्रियमें चित्तकी समतावाला, निन्दास्तुतिमें समानचित्तवाला, मानापमानमें – समान, मित्र–शत्रु–पक्षमें समान, सर्वारंभ–परित्यागी, जो है उसको गुणातीत कहते हैं ।

४. जो मेरेको लोक–वेद– फलापेक्षारहित, अन्याश्रयरहित, भक्तियोगसे भजता है, वह उन प्रकृतिके गुणोंको लोंघके ब्रह्मभाव योग्य होता है – प्राप्त होता है ।

परब्रह्मका मूर्तस्वरूप मैं (श्रीकृष्ण) हूँ, अमृत, अविनाशी, शाश्वत, धर्मका फल और अेकान्तिक सुख भी मैं (पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण) हूँ । यह सब मिथ्या नहीं है, प्राकृत – गुणलीला है, – भगवान् – श्रीकृष्णकी !

भगवान्–आनन्दमय :

भगवान् है, – आनन्दमय ! – आनन्दप्रचुर ! आपके चरण–आनन्द ! आपके उरू–आनन्द ! आपके हस्त–आनन्द ! आपके कटि–उदर–उरःस्थल–है, आनन्द ! आपका मुख–कर्ण–नासिका–नेत्र–भाल–कपोल–अधर–केश–वेष है,–आनन्द ! लीला भी है,–आनन्द ! भक्त भी है, आनन्द ! सब आनन्द ही आनन्द ! मात्र मनसे माना हुआ नहीं, कानोंसे सुना हुआ नहीं, बुद्धिसे सोचा हुआ नहीं, आँखोसे ग्रंथमें पढा हुआ नहीं, शास्त्र से समझा हुआ नहीं, समाधिका सौभाग्य मात्र नहीं, कर्मठोंका कठोर कर्मफल नहीं, ज्ञानीओंका ज्ञानगंभीर फल नहीं, संसारीओंकी स्वार्थ–सिद्धि नहीं, भावाभासमें भटकते लोंगोका भ्रम नहीं, कृष्णेच्छात, सर्वेन्द्रियोंका अनुभव–विषय है– आनन्द ! हरीच्छासे सुलभ है–आनन्द ! अज्ञ–विज्ञ–सुज्ञ– प्राज्ञ– बहुज्ञ–सर्वज्ञ–सबका स्वानुभव–संमत है–आनन्द ! अनन्य भगवद्–भक्तोंका सर्वेन्द्रियगोचर, जीवनका बल फल है–आनन्द !

सबको जीवाता है–आनन्दबिन्दु :

प्राणी–मात्रको जीवित रखता है–आनन्द ! जीवित नहीं रखता है–अन्न !–न जल, न हवा, न दवा, न पैसा, न पद, न प्रतिष्ठा, न परिवार, न ज्ञान, न विज्ञान, न स्थान ! न मान ! न कर्म, न धर्म, न योग, न याग, न राग, न विराग !

न द्वेष, न क्लेश, न देव, न देवी, न मंत्र, न यंत्र, न तंत्र, न पाप, न पुण्य ! जीवाता है– आनन्द ! – “**को ह्येवान्यात् क : प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ?** एष एवान्दयाति ।” श्रुति है । कौन ही जीवाता, कौन पोषण करता, अगर यह आकाश–आनन्द न होता तो ? ! यह भगवान् ही सबको आनन्द देते हैं–सब कुछ होने पर भी अगर आनंद नहीं होता तो मानवका जी नहीं भरता, जीवित रहना पसंद नहीं आता, जीवन बोझिल होता जाता ! जाने–अनजाने प्राणीमात्र प्रयत्न करते हैं–आनन्द के लिये ! एकाध बिन्दु मिलता होगा–जीवन– भरमें–आनन्दकी ! इतनेसे सारा जीवन व्यतीत हो जाता है ! नहीं तो व्यथित होजाता है ! प्रथित यह बात है । श्रुति प्रसिद्ध है,– "**एतस्यैवानन्दस्या–न्यानि भूतानि मात्रा मुपजीवन्ति !**" वह भगवानके आनन्दकी एक मात्रा (स्वल्पांश) बिन्दुसे अन्यसब प्राणीके जीवन टिकते हैं !

वेद–सच्चिदानन्द – प्रतिपादक :

आनन्दके यथार्थ स्वरूपको जाने–पहिचाने बिना, आनन्द प्राप्तिके लिये प्रयत्न तो सब करते रहते हैं ! अपने देश–काल अधिकारानुसार ! परंतु बहुत कम लोगको यथार्थ आनन्द ज्ञात होता है ! इसमें से बहुत कमको यह आनन्द प्राप्त होता है ! यह आनन्दका यथार्थ स्वरूप और सुलभता बताते हैं– वेद !–भारतीय धार्मिक संस्कृतिमें सर्वमान्य है–वेद ! “वेद” शब्द तीनधातुओंसे बनसकता हे

“विद्–सत्तायाम्”, “विद् ज्ञाने”, “विन्दृ लाभे” सत्ता–अस्तित्त्व–“सत्” ! विद्–ज्ञान–“चिद्” । और लाभसे होता है–आनन्द ! वेद प्रतिपादन करता है,–सच्चिदान्दरूप–ब्रह्मका ! सच्चिदानन्द है–श्रीकृष्ण !

सच्चिदानन्द–श्रीकृष्ण–आनन्दसिन्धुः

“**सच्चिदानन्दरुपाय विश्वोत्यत्त्यादिहेतवे !**
तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः ॥”–श्री भा. मा. पमपु. मा. (१–१), सच्चिदानन्दरूप, विश्वोत्पत्तिके आदिहेतु अथवा विश्वके उत्पत्ति–स्थिति–लयके हेतु, आधिभौतिक– आध्यात्मिक–आधिदैविक–त्रिविघतापों के विनाशरुप,–श्रीकृष्णके लिये हम स्तुति करते हैं । “हमको श्रीकृष्ण ही चाहिये कृष्णके पाससे कुछ भी नहीं चाहिये ।” इसलिये कृष्णकी स्तुति नहीं की है, परतुं श्रीकृष्णके लिये ही कृष्णकी स्तुति करते हैं । “**साकारत्वात्तु सौन्दर्यं श्रीशब्देनाभिधीयते॥**” – साकार होनेसे “श्री” शब्दसे सुन्दरता कही जाती है । कृष्णकी सुन्दरता है–तनकी–मनकी! –स्वरूपकी ! – स्वभावकी ! स्वरूप और स्वभावकी संपूर्ण सुन्दरताका सर्वोत्तम समन्वय है–श्रीकृष्ण ! यह–सर्वसुन्दर साकार–परब्रह्म– परमात्मा– पुरुषोत्तम– स्वयं भगवान्–श्रीकृष्ण हैं– वेदोंके प्रतिपाद्य ! –सब सर्जन और सर्जक ! “**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।**” (१५) –सब वेदोंसे मैं ही वेद्य हूँ”–कहते हैं गीतामें स्वयं–कृष्ण ! “ एव” कार तो अन्ययोगव्यवच्छेदक है । सब वेदोंमें कृष्णके विना कोई

वेद्य नहीं है, प्रतिपाद्य नहीं है । वैदों में अन्य नाम-रूप-कर्म दिखाई देते हैं तो यह भी कृष्णके ही हैं । “ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति ।” वृ.उ.(१-६-१)। ब्रह्म ही सर्व नामोंको धारण करता है, ब्रह्म ही सब रूपोंको धारण करता है, सब कर्मोंको धारण करता है । “त्वं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि।” श्रुति-तो स्पष्ट ही- “औपनिषत्-पुरुष”-कहती है, साकारका ही प्रतिपादन है । श्रुति है-“कृषिभूवाचको शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तथोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ।।” कृष्-सत्तावाचक है,-ण-आनन्दवाचक है । दोनोंका ऐक्य है-परब्रह्म !-कृष्ण ! - सदानन्द ! सच्चा-आनन्द ! - संपूर्ण आनन्द ! भगवान श्रीकृष्ण है,-आनन्दसिन्धु ! प्राणीमात्रका जीवननिर्वाह करता है,-आनन्दबिन्दु !

वेदमें आनन्दकी गिनती : अक्षरब्रह्म-गणितानब्द : श्रीकृष्ण- पूर्णानन्द :

आनन्दबिन्दुसे आनन्दसिन्धु तककी गिनतीका प्रयास वेदमें दिखाई देता है । - सुजन - विद्वान - महेच्छापूर्ण - दृढ - खूबलवान : युवकको वित्त- विभवसे पूर्ण यह पृथ्वीका राज्य मिल जाय, इससे उसको जो आनंन्द मिलता है, वह मनुष्यका एक आनन्द (होता) है । इससे सौ गुना आनन्द मनुष्यगंधर्वोंका होता है । यह श्रोत्रिय अकामहतको

होता है । इससे सौगुना आनन्द देवगंधर्वों,-का, इससे सौगुना आनन्द पितृओंका, इससे सौगुना आनन्द आजानज देवोंका, इससे सौगुना कर्मदेवका, इससे सौगुना देवोंका, इससे सौगुना- इन्द्रका, इससे सौगुना - बृहस्पतिका, इससे सौगुना प्रजापतिका, इससे सौगुना ब्रह्मका आनन्द है। यह सब आनन्द अकामहत श्रोत्रियको सुलभ होते हैं । अकामहत श्रोत्रिय है लौकिक- वैदिक- कामनाओंसे कुचड न जाय, दब न जाय, ऐसा (शास्त्ररहस्यज्ञ) माहात्म्यपूर्वक भगवत्स्वरूपको जानने-वाला- भगवद्भक्त ! यद्यपि अधिक है,- अगणित है, परब्रह्मका आनन्द ! गिना गया, -वह आनन्द- गणितानन्द,- वह है,- अक्षरब्रह्मका ! पूर्णानन्द- सदानन्द है- भगवान् श्री कृष्ण !- भगवानके कृपापात्र- “पुष्टि”- भक्त पूर्णानन्द भगवानकी आनन्दमयी लीलाका आनन्दानुभव करते हैं ! जो मुक्तिसे पर है, मुक्तोंको भी दुर्लभ है ।

रसार्द्र वेदान्तसिद्धान्त- श्रीकृष्ण :

एक सखिने गोकुलमें दूसरी सखिको कहा,- “**श्रृणु सखि कौतुकमे कम**-”हे सखि ! तू एक कौतुक सुन ! सुनाई बात नहीं अपनी आँखोंसे देखी करती हूँ, अविश्वास मत कर ।“**नन्दनिकेतनांगने मयादृष्टम्**” । नन्दभवनके प्रांगणमें देखा ! “क्या ?” सखिने पूछा । “**गोधुलिधूसरांगो नृत्यतिं**-”गोधूलि-धूसरअंगवाला नृत्य करता है!” -सखिने पूछा --“कौन ?” “कृष्ण !” उतरमिला” “नहीं” !

"तो बलराम ?"; "नहीं" ! "तो कौन?"– वेदान्तसिद्धान्तः।।"– "मूर्तिमंत वेदान्तसिद्धान्त ।" – श्री –कृष्ण !" वेदान्त कोई रुक्ष–शुष्क वातें तो नहीं है, भक्तिकी स्निग्धतासे तो वही हो जाते हैं– रसाद्र–कृष्ण ! भक्ति बिना तो वेदान्त रुक्ष–शुष्क रहता भी है ।

अक्षरब्रह्मकी प्रतिष्ठा–श्रीकृष्ण :

यही कृष्णने (१४–२७) में कहा है,– "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्–" सर्वाधार रूप–अक्षरब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा–मूलस्थान–आधार तो यह– अक्षरस्थ परब्रह्म कृष्ण है । "**शाश्वतस्यधर्मस्य**"–सनातनधर्म– मोक्षार्थक तथा" **सुखस्यैकांतिकस्य**"– एकान्तिकसुख– भजनानन्द–अगणितानन्द– क्षराक्षरातीत– पुरुषोत्तम– लीलाकी–प्रतिष्ठा– आश्रय हूँ । यही अपना–सर्ववेदान्ततात्पर्यभूत– मूलस्वरूप भगवानने स्वतः ही बतानेका आरंभ कर दिया, –

ऊर्ध्वमल–अश्वत्थः उसकोजाननेवाला– वेद्विद् :

"ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्चत्थंप्राहुरव्ययम् ।।"
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।।" –(१)

वेद– मंत्रपाठ मात्र कर लेनेसे किसीको "**वेदवित्**" नहीं कहा जाता है । "निरुक्त"में मुनि यास्कने कहा है,–"**स्थाणुरिवायं किल भारहारी, अधित्य वेदान् यो न विजानाति अर्थम् ।**" –वेद पढके जो अर्थको नहीं जाने, वह तो प्रसिद्धरूपमें भारवहन करनेवाला है, स्थाणु (खंभ) जैसा है । वेद– शब्द– मात्र नहीं, अर्थ भी निःसंदेह

समझना जरूरी है । यहाँ, भगवान् तो वेदशब्दके आर्थिक–मात्र बोध नहीं, परंतु "**यस्तं वेद स वेदावित्**"–वेदविद् तो वो है जो उसको जाने ।।"–किसको जाने ? "**तं**"– "**अश्वत्थं**"– वह अश्वत्थको । –जो जगदात्मक है । वेदका विषय, वेदवेद्यतो, "**अहमेव**",–स्वयं कृष्ण कहते हैं,– "मैं ही हूँ ।" "**एव**" कार से–(ही से), तो भगवान् के बिना वेदमें ओर कुछ भी वेद्य नहीं है, ऐसा स्पष्ट कहते हैं । अब, वहां तो, जगद्रूप अश्वत्थको जो जाने, उसको "**वेदविद्**" कहते हैं ! अपनेको जाननेका यहाँ तो उल्लेख नहीं किया है ! अंतमें पुनः,– "**यो मामेवमसंमढो जानाति पुरुषोत्तम् । स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ।।**"(११)–कहा है ।

वेदविषयहै–सपरिकर–पुरुषोत्तमः

"**एवं**–" इस प्रकार–"**पुरुषोत्तमं**–पुरुषोत्तम को–से पूर्वोक्त सर्वका संग्रह पुरुषत्तमके अंतर्गत ही करते हैं । पुरुषोत्तम सामानाधिकरण्यसे सबका सन्निवेश हो जाता है । आरंभ में,–"**अश्वत्थं**"– (१) "**प्रवृत्तिः** प्रसृता पुराणी" (४) "**निर्मानमोहा :**–" (५) –"**तध्दाम परमं मम**"–(६),"**शरीरं यदेवाप्नोति**–"(८), "**यदादित्यगतं तेजः**–"(१२) "**गामाविश्य**–" (१३), "**अहं वैश्वानर :**" (१४), "**सर्वस्य चाहं**– ।"– (१५), "**द्वाविमौ पुरुषौ**–" (१६), " **प्रथित : पुरुषोत्तम् :**–(१८), अंतमें,–"**जानाति पुरुषोत्तमम्**" (१९)–से, तो यह सब पुरुषोत्तमके ही

विविध लीलानुंरूप प्राकट्य है ; जगत्, उत्पत्ति (आदि), भक्त, धाम (अक्षर, वैकुंठ), शरीर, सूर्य, पृथ्वी, जठराग्नि, अंतर्यामी, क्षर–अक्षर–उतम (परमात्मा),– ये सब पुरुषोत्तमके परिकररूप हैं । पुरुषोत्तमके ही यह सब रूपान्तर होनेसे, पुरुषोत्तमसे अभिन्न है, अनन्य है । इसलिये, “**सपरिकर– पुरुषोत्तम**”– ही वेदोंके विषय हैं ॥ अभिधावृत्तिसे स्वरूपलक्षणा श्रुतियाँ (ब्रह्मका) पुरुषोत्तमका तथा तटस्थलक्षण । श्रुतियाँ, यही पुरुषोत्तमके परिकरका निरूपण करती हुई, तात्पर्यवृतिसे, पुरुषोत्तमका ही निरूपण करती है । परिकर प्रभुका; प्रभुका माहात्म्य भी प्रकट करता है । माहात्म्यज्ञानसे सुदृढ–सर्वाधिक स्नेह होता है । वही भक्ति है । है–पुरुषोत्तमका विहार! – नहीं है,– कुछ – विकार !

“**अश्वत्थ**”– (जगत)को जाननेवाला ही **”वेद–विद”** है, वही “**सर्वविद्**” है :

“**वेदविद्**”– आरंभमें है, और “**सर्वविद्**”–अंतमें है,– सिद्धान्त हुआ, – “**वेदविद्**” ही “**सर्वविद्**” है, वेदज्ञ है वोही सर्वज्ञ है । वेदमें वेद्य है,–“**सपरिकर पुरुषोत्तम्**”। पुरुषोत्तमकी सत्यतासे– सब परिकरकी सत्यता है । ब्रह्म–सत्य है, जगत– सत्य है। सब सत्य है । विश्वको आनंद देनेके लिये जीवकी पुरुषार्थसिद्धिके लिये, अपनी लीलाके लिये, सर्व–समर्थ, एक और अद्वितीय, ब्रह्म–परमात्मा– भगवान्, अंशमात्रसे ही विश्वात्मक होते हैं, विश्वमें अवतारभी लेकर क्रीडा एवं विश्वहित भी करते हैं, विश्वसे पर–विशिष्ट–रूपसे भी विराजते हैं । वही प्रभु भक्तिमार्गमें घर–घरमें भी भक्तेच्छानुसार सेव्यस्वरूपसे विराजते हैं, वह भी लीला ही है । यही जाननेवाला “सर्वविद्” है । नहीं तो,– “तेने ब्रह्म हृदाय आदिकवये मुह्यन्तिमत्सूरयः।”– भगवानने ब्रह्माजीको कृपापूर्वक सविस्तारवेद दिया, –श्री भागवत (१–१२) जिस वेदमें, वेदार्थमें, वेदप्रतिपाध कृष्ण स्वरूपमें,(वासनावश) विद्वानोंको मोह होता है ! फिर यथार्थ समझ चली जाती है । सब तो फिर अन्यथा ही समझते हैं । पदार्थ तो भगवद्रूप है, अन्यथा नहीं होते हैं । मायामोहित बुद्धि ही अन्यथा समझती है । “अश्वस्थ” और “पुरुषोत्तम” अभिन्न है, अपनी ही इच्छासे लीलार्थ भगवान् होगये ! – जगद्रूप !

वृक्षकी–परोपकारकता : वृक्षके चार पुरुषार्थ :

परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण– आधिदैविक–रूप है । उसका ही आध्यात्मिक– रूप है–अक्षरब्रह्म ! उसका ही आधिभौतिक– रूप है–जगत् ! यहाँ, ज़गत्को वृक्षरूपसे बताया गया है । वृक्षकी तो महत्ता स्वयं प्रभुने बताई है, –

“पश्यैतान् महाभागान् परार्थैकान्तजीवितान् ।
वातवर्षातपहिमान् सहन्तो वारयन्ति नः ॥
अहो एषां वरंजन्म सर्वप्राण्युपजीवनम् ।
सुजनस्येव येषां वै विभुखा यान्ति नार्थिनः ॥
पत्रपुष्पफलच्छाया मूलवल्फलद्वारुभिः ।

गन्धनिर्यासभस्मास्थितोक्मैः कामान् वितन्वते ॥
एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु ।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय एवाचरेत् सदा ॥"
—श्रीमद्‌भागवत (१०–२२–३२ से३५)

वेदमें, "**वैष्णवा वै वनस्पतयः।**"– "वैष्णव है सच मुच– वनस्पति ।,"– कहा है । वृक्ष है, वह तो वैष्णव है ! प्रभुसेवाके लिये ही है । विश्वलीलामें विश्व भी प्रभुसेवाके लिये ही है । जीवके भोगार्थ नहीं है–कल्याणके लिये ही है । जड–चेतन,– सब, जो कुछभी विश्वमें है, वे सब भी प्रभु हैं, प्रभुसे हैं, प्रभुका हैं, प्रभुके लिये हैं । अतः प्रभुकी प्रसन्नता; प्रभुके सुखको ही मुख्य रखके, प्रभुपरायण होकरके, प्रभुके लिये ही, हम जीयें। वृक्ष परेच्छासे उत्पन्न होता है, परेच्छासे बढता है, परेच्छासे ही मरता भी है,– कट. जाता है । यह उत्तमधर्म है । स्वार्थसे, स्वेच्छानुसार, जीनेवाला संसारी– जीव– तो सामान्य है । स्वार्थसे होते हुए व्रत– उपवास– ध्यान– जपादि सब धर्मक्रियाएं मध्यम है । अन्नादि अन्यको देकर राजा रंतिदेवकी तरह उपवास हो तो उत्तम है । शास्त्रविधिपूर्वक अन्यको कष्ट न कराते हुए, उपवासादि करना मध्यम है । अन्यथा तो क्लेशरूप है । कामनारहित श्रेष्ठ है । सकाम मध्यम है । अन्यको स्वार्थसे वा अकारण पीडा करानेवाला तो तद्दन हीन है । परार्थ (भगवदर्थ तथा अन्यकेलिये) जीनेवालोंका तो महाभाग्य है । "देखो !– दर्शन करो इन महाभागोंका !"– भगवान्

हते हैं !

वृक्ष स्वयं पवन– वर्षा– आतप– हिम सहन करते । निकटमें आनेवाले लोगोंके वह दुःख रोकते -वृक्ष !–स्वयं सहन करके ! किसीके पाससे भी वे त्युपकार नहीं चाहते हैं । यह उनका तपः है । अनशन– आदि तो प्रायश्चित्त – रूप है । भगवानकी लीला यद्यपि बका कल्याण करती है, आनंद देती है; परंतु लोक तो स झते हैं कि उसमें भगवानको आनन्द है ! वक्षमें तो ऐसा नहीं ही है । इसलिये तो भगबानने भी आश्चर्यसे,–"**अहो षां वहं जन्म!**"–अहो उनका श्रेष्ठजन्म है,– कहा है ! यह अर्थ **पुरुषार्थ है । सबंको उपयोगी हो, आधार– रूप हो,** अनेकको जीवावें, उसका जीवन धन्य है ! सुजन पीडा करानेवालोंकों भी पीडा नहीं कराते हैं, मंगल करते हैं ! ऐसे वृक्ष पथ्थर मारने–वालोंको भी फल देते हैं। यह उत्तम काम पुरुषार्थ है, –सर्वांगसे वृक्ष परोपकार करते हैं । वृक्षोंकी (फलादिकी) समृद्धि बढती है, वैसे वैसे नम्रता बढती है,–नीचे झुकते हैं । बारह–अंसे परोपकारक है,–वृक्ष ! १. पत्र–वृक्षके नख, दांत– वैसे– मंगला–कार्यमें– बंदरबार में – उपयोगी है । २. **पुष्प**–रजोरूप– शोभा– पूजा– सेवामें उपयोगी है । ३. **फल** – पुत्रादि जैसे– स्वाद, सुधातृप्ति, सेवादिमें उपयोगी है । ४. **छाया** – घर जैसी– वृष्टि–ताप–आदिमेंसे बचाती है । ५. **मूल** – धर्मरूप– ओषधादिमें उपयोगी है। ६. **छाल** – चमडी रूप– बल्कल

वगेरह में उपयोगी । ७. शुष्ककाष्ठ – घरकी वस्तु जैसे– मकान वा अनेक वस्तु बनानेमें उपयोगी । ८. गंथ – कीर्ति जैसा– सुगंध, शांन्ति, सुखमें उपयोगी । ९. अंदरकी छाल – वाणी रूप – सानुकूलतासे सुखमें उपयोगी है। १०. **भस्म** – अंतिम–स्थितिरूप– पूजामें, बरतन मांजने में उपयोगी है । ११. **स्कन्धादि** – अस्थिरूप– कोयले, देवता– आदिमें उपयोगी है । १२. **छोटे पौधे**, डालियाँ– वगेरे– नौकर जैसे– इच्छानुकूल काम देने– वालें।

मानवमें यह बारह कदाचित् प्रायः–स्वार्थमें, स्वल्प–परोपकारमें,वा निकम्मे वा अपकारक भी होते हैं । – १. नख – दांत उनके स्थानसे गिरेंगे, बादमें निकम्में ! २. रजः – रजस्वलास्त्री घरमें– देवकार्यादिमें उपयोगी नहीं होती है । ३. प्रतिकूलतामें पुत्रादि पीडा– रूप लगते हैं । ४. कोई अपने घरमें सबका पैढने– बैठने– देते नहीं हैं । ५. धर्म करने में किसीको पीडा भी करा देता है । ६. शरीरसे उतरी चमडी कोइ कामकी नहीं रहती है । ७. घरकी वस्तुएं स्वार्थ कराती है, परंतु कभी संघर्ष भी करा देती है । ८. कीर्तिसे प्रायः अभिमान आता है । ऐसे व्यक्तिके नामसे किसका कल्याण होता है ? ९. वाणी किसीको कष्ट कराती है, असत्यमय भी हो जाय । १०. चिताभस्म – स्पर्शसे तो स्नान करना पडे ! उत्तरक्रिया न होने से भूत–प्रेत रूप भी मिलता है । ११. अस्थि–स्पर्शयोग्य नहीं माने हैं । १२. नौकर प्रभृति कहा न माने, नुकशान भी कर दें । संसारीकी समृद्धि बढे

ऐसे प्रायः अभिमान भी बढें वृक्ष तो मात्र परोपकार ही नहीं करते हैं,स्वार्थ भी उनका तो परमार्थ ही हो जाता है । विरक्तज्ञानी तो प्रायःस्वार्थ ही करते हैं । वृक्षमें तो यह मोक्ष रूप है ।

विभु–वृक्ष, वेद–वृक्ष : विश्व–वृक्ष :

भगवानने विश्व बनाया, अपने लिये नहीं ; सब जीवोंके– सुखके लिये ! –स्वार्थ नहीं , परमार्थके लिये ! वृक्षोंके ये धर्म, भगवानने जगतमें प्रकट रखे हैं । सर्वोपकारक जगत् है,– इसलिये उसको वृक्षात्मक बताया है,– वेदमें– गीताजीमें– भागवतजीमें भी !

“वृक्ष इव स्त्बधो दिवि तिष्ठति–एकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।” –श्रुति है ।

आकाशमें वृक्षकी तरह भगवान् स्थिर रहते हैं, उससे यह जगत्– पूर्ण है । वृक्षरूप भगवानमेंसे हुआ जगत् भी वृक्ष–रूप है । भगवदाश्रित है ।

श्रीभागवतमें वेदको वृक्षरूप भी कहे हैं ! **“निगमकल्प–तरोर्गलितं फलम्”** –(१–१–३)– निगम (वेद) कल्पतरू है । वेद भी कामनापूरक है–जीवोंके लिये ! प्रभुने परोपकारार्थ ही बनाये हैं ।

श्रीभागवतजी (१०–२–२७) विश्ववृक्ष भी बताते हैं ;–

“एकायनोडसौ द्विफलस्त्रिमूल –
श्चतूरसः पंचविधः षडात्मा ।
सप्तत्वगष्टविटो नवाक्षो

दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्ष ः ।। "

यह विश्व – वृक्षका बीज है, भगवान् ! – "एकायनः"– कहा है । उसको सुख (स्वर्ग) और दुःख (नरक) दो फल है । स्वरूप–ज्ञान–लाभ–स्वर्ग है। नरका (क) विषयसुख – नरक है । सत्त्व, रजः, तमः– तीन गुण उसके मूल हैं । घर्म– अर्थ– काम –मोक्ष–ये चार–पुरुषार्थ उसका रस है । वृक्ष पंचविध है । ऊँचे फेंकना, दूर फेंकना, प्रसारना, संकोचना, गमन, यह पांच कर्म है, यह उसके प्रकार है । अथवा अन्नमय– मनोमय– प्राणमय– विज्ञानमय– आनन्दमय,– यह पांच पुरुष भी गिन सकें । उसके आत्मारूप छः इन्द्रियाँ हैं । सात उसके आवरण है, – त्वक्, मांस, रूधिर, मदे, अस्थि, मज्जा, शुक्र– यह सात धातु बल्कल रूप हैं । भूमि– जल– अग्नि– वायु– आकाश– मनः बुद्धि– अहंकार,– यह आठ प्रकृति रूप उसकी शाखाएं हैं । नव इन्द्रिय छिद्र उसमें कोटर (बखोल) है । प्राण– अपान– व्यान– उदान– समान– नांग– कूर्म– कृकल– देवदत्त– धनंजय – यह दश– प्रकारका वायु उसके पत्ते–रूप है । (जीव) आत्मा और अंतर्यामी – ये दोनों, उसके पर बैठे हुए दो पक्षी हैं । यह ब्रह्माण्डात्मक वृक्षरूप भगवान् हैं ।

यह विश्व सद्रूप (चिद्रूप) है, – मायामय, मिथ्या नहीं है । उसके उत्पत्ति, स्थिति– लयके कारण भगवान् है ! मायासे मोहितलोग उसमें अनेक रूप देखते हैं । ज्ञानी

अनेक रूपसे भी भगवान को ही पहचानते हैं ।

भगवानने विश्व – वृक्ष भी परोपकारके लिये ही बनाया है । सबके लिये जगतमें सबकुछ बनाया है । वृक्ष जैसे बारह अंगोसे प्रत्युपकारककी इच्छाके बिना ही स्वाभाविक रूपमें, परोपकार करते ही रहते हैं ; ऐसे ही यह विश्ववृक्ष– भी स्वाभाविकतासे बारह अंगोंसे परोपकार किया ही करता है, – **१. पानी**– पानी का बील तो पानीकी व्यवस्था करनेवाला लेगा ही– विश्वमें भगवानने समुद्र, नदी, तालाब, सरोवर, अनेक जलाशय बनाये,अरे ! सब तो ठीक ! उन सबको भेदभाव बिना पानी–तक देने–वाला बरसात भी बनाया ! विश्वने वा भगवानने कौन सा बील भेजा– पैसा मांगा – किसीके पास भी ?! **२. प्रकाश** – प्रभुने सबको सूर्य–चन्द्र दिये, प्रकाश–भेदभाव बिना सबको अेकसमान देता हैं – विश्व– वृक्ष– भगवान् ! प्रकाश–उष्माको बील तो उसीकी संस्था व्यवस्था करके लेगी ही ! कौन बना सकता है – विश्वमें सबके लिये जल की– प्रकाशकी– व्यवस्था ?! विश्व– भगवानजल–प्रकाश– व्यवस्थाका बील कौन को भेजते है ?! **३. पवन**– हवा – चलानेमें पंखा –ए.सी.– कूलर– उपयोगी तो लगते है । परंतु हवा तो कौन देगा ? डोकटर प्राणवायु देनेका पैसा लेते हैं । भगवान् विश्व तो देते ही रहते हैं । कौन देता है, बील ?! स्पष्ट परोपकार ही है न ?! **४. अनाज** – बाझारमें मिलेगा–दाम से ! किसानसे लेकर बडे बडे व्यापारी– दा

मसे बेचते हैं– अनाजको ! विश्वने– भगवानने खेतोंमें अनाज एकके अनेक दानें बनाकर दिया, कौनसा दाम लिया है ? ५. **फल** – विविध फल बनायें ! – दिये मुफ्तमें ! लोगों– को ! विश्वने, भगवानने ! कितना बदला लिया है ? जगतमें कौन और मुफ्तमें देगा ? ६. **फुल** – विविघ फुल बनायें ! – शोभा– मंगल– के लिये ! दिये सबको ! –कौन सा मूल्य रक्खा है– विश्व–विभुने ! बाजारमें मूल्यसे ही मिलेगें ! ७. **ओषधि** – विविध ओषधि–वनस्पति– बनाई – भगवानने ! लोग सब ही ले– वेच करते होंगे, पैसोंसे ! बदलामें भगवानने विश्वने क्या – लिया है ? औषधियाँ (दवाईयाँ) विविध बाजारमें द्रव्यसे मिलती होंगी ! उनमें जो असरकारक शक्ति है, रोगप्रतिकारता है, वह तो पैसेसे कोई पदार्थमें– औषधिमें– नहीं रखी जाती है ; – नहीं उत्पन्न की जाती है; विश्व–भगवान् ही यह तो पदार्थमें उत्पन्न कर सकते हैं ।, पदार्थमें रख सकते हैं ! क्या द्रव्य लेते हैं – उसके लिये ?! ८. **घर** – सबको रखनेके लिये अपना घर चाहिये, – मुफ्तमें तो नहीं मिलता है! विश्व– भगवाने पृथ्वी सबको रहनेके लिये दी, सब जीवोंका यह घर है । किसने कुछ दिया इसके लिये विश्व भगवान–को ? केवल मानवोंके लिये ही नहीं, प्राणीमात्रके लिये विश्व– भगवानने तो व्यवस्था सब कुछ की है । सोचते नहीं, पहचानते नहीं, समझते नहीं, स्वीकारते नहीं ! भगवानकी– विश्वकी– अपार उदारताका पता

लता नहीं, आदर– एवं आत्मीयता विश्व–भगवानमें होते नहीं !–आनंद आता नहीं !–उद्वेग जाता नही ! ९. **वस्त्रादि** – शरीरके रक्षण के लिये ऋतु – अनुकूल वस्त्रके लिये कापूस, ऊन वगैरह भगवान्–विश्व देते हैं । बाजारमें तो मूल्यसे मिलें और भगवानने उत्पन्न करनेका क्या मूल्या लिया है । १०. **देहेन्द्रिय** – शरीरमें सर्वकार्यानुकूल इन्द्रियाँ प्राणीमात्रको यथोचित दी है,– विश्व– भगवानने ! बाजारमें क्या मुफ्त में मिलती है ? डाकटरके वहाँ – अगर रीपेर वा रीप्लेस (उपचार अथवा प्रत्यारोपण (ट्रान्सप्लान्टेशन)के लिये जाय तो कितनेमें होगा ?! पैसे खर्चनेके, कष्ट भोगनेका, समय भी लगानेका, अवज्ञा सहन करनेकी, फिर भी परिणाम तो अनिश्चितासे जो आवे वह स्वीकार लेने का !?! विश्व– भगवानने तो जन्म के साथ ही सरलतासे देदी है– इन्द्रियाँ ! कीमत कौन– कर सकता है ! क्या दी है ? ११. **शक्ति–बुद्धि–शास्त्र**– शरीरमें विश्व–भगवान–ने कार्यशक्ति कर्मेन्दियोंको और ज्ञानशक्ति ज्ञानेन्द्रियों को दी ! अनुग्राहक मन दिया ! नियामिका चैतन्यविलासरूपा बुद्धि दी ! मार्गदर्शक शास्त्रग्रंथ–मुरुजन दिये ! बाजारमें– खेतमें– कारखाने में– अस्पतालमें– ये सब मिलेगा क्या ? कितनेमें ? विश्व भगवानने क्या लिया है ? मुफ्तमें मिला है – इसलिये ही कीमत नहीं हैन ?। १२. **जीव** – शरीरको– बुद्धिको, मनको इन्द्रियों को–कार्यान्वित करने वाला, भगवानके चिदंश– जीव मिला !

भगवानके बिना कौन दे सकता है ?! कितने मूल्यमें ? विश्व भगवानने देनेका मूल्य क्या लिया ?! सब मुफ्तमें –स्वाभाविक– मिल गया, इसलिये कोई कीमत नही ?!! मानवमात्रको नहीं– मिला है सब– प्राणीमात्रको– पशु–पक्षी–कीडादिं सबको ! देव– दानव– ऋषि– मुनी– सर्प– गंधर्व– राक्षस– भूत–प्रेत– सबको इतना ही नहीं, स्वयं भगवानके साथ द्वेष करें, क्लेश करें, अस्तित्व भी नहीं स्वीकारे, अपराध–अवज्ञा– करे, उन सबको भी विश्व– भगवानने ये सब नहीं दिया है क्या ?! यह सच्चे परोपकार है– प्रतुयुपकार, यश, स्थान, मानादिकी अपेक्षा के बिना ही ।

वृक्षरूप वेद भी भगवाने दे दीये ! जो मानवके प्रेयः – श्रेयः के साधन– फल बताते हैं । – मार्गदर्शन देते हैं । –क्या कीमत लेते हैं वेद विश्वभगवान् ?! वाकील वा डाकटर वा अन्यनिष्णात मार्गदर्शन सबको मुफ्तमें ' देते हैं ?! वेद वृक्षभी परोपकारक है न ?! इसलिये,– प्रभुने श्रीभागवतजीमें परोपकारक वृक्षोंको बतायें ! धन्यवाद दिये । वेदने– श्रीभागवतने– स्वयं भगवानको परोपकारकता से वृक्षरूप में बताया है,– "**उर्ध्वमूलमध : शाखमश्वत्थ प्रादुरुध्ययम्**" (१)

किसीका भी कल्याण करनेमें अपनी जीवन – सफलता है :

सर्वोपकारक भगवानकी यह उदारता– आत्मीयताको

मूलतः छेदने का प्रयत्न है– " विश्व तो विवर्त है, मिथ्या है, वास्तवमें है ही नहीं !" –ऐसा कह देने में तो ! भगवानने विश्वका सबके लिये सर्जन किया है । अगर, मानव भी अपना सब कुछ सबके लिये बनादें, तो वह मानव भगवान् जैसा लगे !– भगवदतारके समान माना जाय ! –जन्म सफल हो जाय ! अन्यथा जन्म– मरण– प्रवाहमें घिसट जाय ! प्राण–घन–बुद्धि–वाणीसे किसीका भी कल्याण करनेवाला कृतार्थ हो जाता है । प्राण–घन–बुद्धि–वाणीसे सदा सबका श्रेयः करें, इतना ही शरीरधारण करनेका– जन्मका– साफल्य है । स्वार्थके लिये जीनेवालोंका तो जीवन ही व्यर्थ है । तो फिर स्वार्थके लिये अनर्थ करनेवालोंके जीवनकी व्यर्थताकी तो बात ही क्या ?! सबको सुख हो ऐसा– यज्ञात्मक– जिसका जीवन नहीं, वह तो व्यर्थ ही जीता है । आजीविकाके लिये अनर्थ करनेवाला– अनीति करनेवाला– भ्रष्टाचार चलानेवाला,– स्वच्छान्दसे जीनेवाला तो जीवन पापमय ही है । जनहितके– मानवीय– कार्योमें भी कल्याण दृष्टिसे ही सब कुछ करना चाहिये । केवल रोटी कपडेके दुकमेंसे ही कल्याण नही हो जाता है !–

त्रिदेवके वृक्षः पिप्पलकी कुछ महत्ता :

जगत् कल्याण–कारक होनेका निर्देश–भगवाननेदे दिया–"**ऊर्ध्वमूलमध : शाख– मश्वत्थं–**" कहके!– "**अश्वत्थ**" वृक्ष है, वृक्ष कल्याणप्रद है, परोपकारी है ।

हमारे शास्त्रोमें–ब्रह्मा–विष्णु–शंकर–यह त्रिदेवके तीन वृक्ष माने गयें हैं । उदुम्बर–ब्रह्माजीका, अश्वत्थ–विष्णुजीका, वट–शंकरजीका ! अश्वत्थ–पिप्पल है। पिप्पलका महत्व बहुत दिखाई देता है । नारदजी दासीपुत्र थे, तब सत्पुरुषोंकी कृपाके बाद, ज्ञानप्राप्ति–मानसमूर्ति में–भगवद्दर्शन–पिप्पलके पेडके नीचे हुए थे । "**तस्मिन्निर्मनुजेडरण्ये पिप्पलोपस्थ अस्थित्तः** । –श्रीभागवत (१–६–१६). भगवान् श्रीकृष्ण भी स्वधाम पधारते समय प्रवासमें पिप्पलके पेडके नीचे विराजे हैं ।, "**अपाश्रितार्मकाश्वत्थमकृशंत्यक पिप्पलम!**" –श्रीभागवत (३–४–८). राजकुमार सिद्धार्थ गृहत्यामके बाद गयाजीमें पिप्पलके पेडके नीचे बैठे थे, –"**बोधि**" की वहाँसे प्राप्ति हुई थी । वेदमें भी है,–"**ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः**" ऊँचे मूल,– नीचे शाखा–वाला यह सनातन अश्वत्थ है । "**अश्वो रूपं कृत्या यहश्वत्ये–प्रतिष्ठत्** ।" –श्रुति है –अश्व रूप करके जिसमें रहता है– वह अश्वत्थ है । लोक तो अश्व पर बैठते हैं, यह तो रूप बनाके अश्वके होते हुइ भी गति–ज्ञान–रहित है ! शायद इसलिये, अपनेमें रहा हुआ ज्ञान निकट में छायामें रहने– वालोंको दे देता होगा !

गतिशील–परिवर्तनः परायण–जगत :

भगवदिच्छासे, यह नामरूपात्मक जगत् भगवान् सच्चिधानन्दके सच्चिदंशसे हुआ है। इसलिए भगवदंश बुद्धि से जगत्सेत्य नहीं है, सेव्य तो है।–सर्व मूलरूप भगवान् श्रीकृष्ण ! "**ऊर्ध्वमूल**"–उत्तम–मूलवाला ! "**उर्ध्व**" –शब्द के मुख तीन अर्थ लगते हैं । –उपर, आगे और उत्तम । यहाँ, सर्वव्यापक ब्रह्मको उत्तम ही कहना स्वाभाविक है, उचित है। सबको आगे – पहल–ओर ऊपर भी वही है । अपनी स्वतंत्रेच्छासे विचित्र लीला करनेके लिये ब्रह्म स्वल्पांशसे जगद्रूपमें अविकृत–परिणत होता है । भगवान् मूलवृक्ष रूप है, उसमेंसे हुआ जगद् भी वृक्षरूप है । यह "**अश्वत्थ**" "**जगवृक्ष**" है "अश्वत्थ"– "**न श्वोद्ऽपि तिष्ठतीति** ।" कल तक भी रहने वाला नहीं है, वह अश्वत्थ । बदल जाता है । ब्रह्माजीके दिवसेके अंत में "**दैनंदिनप्रलय**" होता है–रात्रिमें । दूसरे दिन पुनः यथापूर्व जगद है रचना ब्रह्माजी करते हैं । "**अश्वत्थ**" है न ?! भगवानकी विविध ब्रह्ममूलक होने से यह जगद्वृक्ष परिपुष्ट रहता है । पोषण प्रभु करतें है – जगतमें सबका ! प्रभु मूल होनेसे वह वृक्षके रूखसुख नहीं जाता है–नित्ये पलयित–प्रफुल– फलित रहता है । जगत व्यर्थ–क्लेशमय नहीं प्रभुने ही पाला–पोषा है प्रसन्न है । यह समझके प्रसन्नतासे जिये । "**गच्छतीति जगत्**" गतिशील है–! वह जगत! अश्वत्थमें अश्व–गति, स्थिर लगने पर भी गतिप्रद है । जगत् भी स्थिर दिखाई देता है, है तो सब उसमें गतिशील– परिवर्तनशील ! पिप्पल– वगैरह पेडके ऊपर असंख्य फल होते हैं । प्रत्येक फलमें असंख्य बीजमें होते

हैं । प्रत्येक बीजमे संपूर्णवृक्ष अव्यक्त रूप से होता है । इसमेंसे एक ही बीजका ब्रह्मांडात्मक यह वृक्ष है । वह भी एसा ही है ।

भगवान की विविध–जगत–सर्जन–लीला :

सर्वमूल भगवान् स्वेच्छासे विविध प्रकार से सृष्टि करते हैं । १. अजन्मा भगवान् कभीक साक्षात्सर्वोत्पत्ति करते हैं , २. कभीक पुरुष द्वारा, ३. कभीक चतुर्मूर्ति (वासुदेव–संकर्षण–प्रद्युम्न–अनिरुद्ध) प्रकारसे, ४. कभीक स्वयं आत्मसृष्ठि रूपमें, ५. कभीक माया द्वारा (इन्द्रजालवत्,– स्वप्नादिरूपसे), ६. कभीक आकाशदि–तत्वोंके सर्जनके बाद उसमें जीवान्तर्यानी रूपसे) अनुप्रवेश करके ! एसे तो अनेक सृष्टि–प्रकार होते हैं । अनन्त–अचिन्त्य–शक्तिवाले भगवानके लिये तो अशक्य है ही क्या ?! अद्‌भुतलीला है–भगवानकी ! युगपसृष्टि भी करते हैं, क्रमिक करते हैं। "तत्सृष्ट्वा तदनुप्राविशत्" – श्रुतिसे, तत्त्वसर्जन– करके पुनः भगवान् अनुप्रवेश करते हैं, अतः तत्त्व–जड नहीं है, भगवद्रूप है । इसलिये सृष्टिनिर्माण जडकी प्रक्रिया नहीं है, चेतनकी विक्रिया नहीं है । – भगवानकी विचित्र लीला ही है ।

श्रीमहाप्रभुजी जगतका स्वरूप बताते हैं, – " प्रपंचो भगवकार्यस्तद्रूपो मायया‌ऽभवत् ।" (प्रपंच – एक–अद्वितीय–ब्रह्मका बहु होनेकी ईक्षासे विस्तृत हुआ स्वरूप) ("पञ्च विस्तारे" धातुपाठ है ।)– भगवत्कार्य है,

भगवान् अपने सर्वभवनसामर्थ्य (माया)से जगद्रूप हुइ हैं, इसलिये "अव्ययं" –सनातन – है । भगवद्रूप – प्रपंचके पर्ण – छन्दाः है, वेद है । "चदिराह्लादे"– धातुपाठ है । तथा "चन्देरादेश्च छः ।" व्याकरणसूत्रसे – "छन्दयतीति छन्दः वेदः।" कामनाक्लिष्ट जीवोंको यथाधिकार ज्ञान–कर्म–भक्ति–साधनों द्वारा जो कामनापूर्ति से आह्लाद देते हैं,– वह है,–"छन्दांसि"–वेद । ये है जगद् वृक्षके "पर्णानि" पल्कव। पल्लव (वृक्षकी) छाया देते हैं – सुखद होते हैं । जीवोंको स्वर्गादि–कर्मफल अथवा आत्मसुख –फल वा ब्रह्मज्ञान– फल देकें सुख देते हैं– वेद ! "यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।।" स्वाभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वःपदास्पदम्" – वेद परिशिष्टमें है । जो दुःखसे मिश्र वा खंडित वा भिन्न नहीं है, जो दुःखसे अंतमें ग्रस्त नहीं है, स्वाभिलाष–प्राप्त है, वह "स्वः" शब्द वाच्य है–स्वर्ग है–आत्मसुख है । ऐसे अश्वत्थको जो यथार्थ जानता है, वही "वेदवित्"– वेदज्ञ है ।

जगद् ब्रह्मका विवर्त नहीं है, अविकृत–परिणाम है : जगत–संसार–भेदः रज्जुमें सर्पदंष्टांत वैदिक नहीं है :

वेद ही, भगवदिच्छासे अविद्यामोहित जीवको, भगवद्रूपात्मक– प्रपंच (जगत)में जीवके कल्पित अहंता–ममतात्मक, (भ्रम–असत्–मिथ्या), (कर्मादि–फल भोगसे परिवर्तनशील) संसारमेंसे मुक्त होनेका उपाय कहते हैं ।

ब्रह्ममें हुआ विवर्त जगत् नहीं है, – रज्जुसर्पवत् ! अतिस्वल्प–प्रकाश तथा विशेष अन्धकारमें पडे हुए रज्जुको, कोई भ्रमसे, साँप मान लेता है । वहाँ तो रज्जु ही सत्य है, साँप भ्रम है–विवर्त है । ऐसे जगत् तो ब्रह्मका विवर्त है, ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है ; ऐसी मान्यता है ! परंतु तथ्य विचारें तो, रज्जुमें तो सर्पकी आकार–समानतासे अंधेरेमें भ्रांति हुई, हाथी–घोडेकी तो नहीं ! पूर्वमें कहीं पर सच्चा साँप देखनेके संस्कार बुद्धिमें होनेसे उसे सर्पकी स्मृति थी । पुनः समानताके भानसे जागृत हो गई । सच्चे सर्पको देखे बिना तो उसका भास–भान कैसे होता है ?! तो सच्चा सर्प कहाँ तो है ही! तो ऐसे सच्चा जगत् कहाँ है ?! कहीं तो है ही! वेदमें ऐसे दुष्टान्त नहीं है । वेदमें तो ऊर्णनाभि, मिट्टी, सुवर्णके दृष्टांत है । रज्जुमें सर्पकी भ्रान्तिकी तरह ब्रह्ममें जगतकी भान्ति नहीं है, यह–जगत् ! यह जगत् तो ब्रह्मका अविकृत–परिणाम है, आधिभौतिक–स्वरूप है । ब्रह्मसे अलग नहीं–अनन्य है । इसलिये मिथ्या नहीं है, सत्य ही है, ब्रह्मके सत्य होनेसे ! श्रीमद् भागवत स्पष्ट क़हता है, – " **सएव हि पुनः सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपः सर्वेश्वरः, सकल जगत्कारणकारणभूतः सर्वप्रत्यगात्मत्वात् सर्वगुणाभासोपलक्षित एक एव पर्यवशेषितः।**" (६–९–३८) – विचारपूर्वक सप्रमाण–देखनेसे मालुम पडता है कि, "आप (ब्रह्म) ही समस्त वस्तुओंमें वस्तुस्वरूपसे

विराजमान हैं, सबके स्वामी हैं, और संपूर्ण जगतके कारण (ब्रह्मा, प्रकृति–पुरुष, अक्षरब्रह्म) के भी कारण हैं । आप सबके अन्तर्यामी हैं, इसलिये जगतमें जितने भी गुण (दोष) दिखाई देते हैं, उन सबकी प्रतीतियाँ अपने अधिष्ठानरूप आपका ही अनुमान (संकेत) कराती है, और श्रुतियोंने समस्त पदार्थोंका करते हुए हुए अंतमें निषेधकी अवधिके रूपमें केवल आप ही अवशेष रहे हो । ब्रह्म ही स्वलीलार्थ सर्ववस्तुके वास्तवरूपमें परिणत हुआ हैं ।

जगत् सत्य है; संसार मिथ्या है :

जगद् ब्रह्मका विवर्त नहीं है, अविकृत– परिणाम ही है । अगर साग्रह विवर्त ही कहना हो तो, जगतमें जीव –कल्पित संसार– विवर्त है–मिथ्या है– भ्रम है । जगत् और संसार की स्पष्ट भेदज्ञान न होनेसे सबको अर्थभ्रम हो जाता है । श्रीमद् वल्लभाचार्यजीने ही यह जगत् और संसारका भेद स्पष्ट बताया है । वैदिक ज्ञानादि– साधन यही अहंता– ममतात्मक संसारसे मुक्ति (जीवन्मुक्ति) तथा जन्म – मरणमें से मुक्ति (मुक्तजीव) के लिये बताये हैं। यहाँ आगे "**जगत्–छेदन**" नहीं "**संसार–छेदन**" अभिलाषित है क्योंकि "**प्राहुरव्ययम्**"– व्यासजी आदिने उस (जगत्–वृक्ष–अश्वत्थ)को "**अव्ययं**" अविनाशि– कहा है ।

संसार–(आंतरालिक–भ्रम–मिथ्या)का स्वरूपज्ञान उसके छेदन (निवारण) के ज्ञानमें उपयोगी है, "**यह**" जो

जानता है,– वह "वेदवित्"– वेदज्ञ– है । एकवचनसे दुर्लभता बताई है । भगवद्रूप जगत्में जीवकल्पित –संसारको अब बताते हैं,–

"अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः । अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानु बंधीनि मनुष्यलोके ॥"–(२)

वह "अश्वत्थ" (जगत्) वृक्षकी शाखायें नीचे–ऊपर फैली हुई है । उपर जानेवाली शाखायें हैं, सुकृतिजन! सत्त्वादिगुणोंसे (सिंचित) प्रवृद्ध शब्दादि–विषय–प्रवाल (कोमल–अंकुर) हैं । सत्त्वगुणसे उर्ध्वगति होती है । अथवा अवतार विभूतियाँ–देवादि सब उर्ध्वशाखा है । अधः–शाखा (ब्रह्मपदसे) नीचें – यह लोकमें जटामूल (जडें) वासना युक्त– दुष्कृतिजन हैं । पशु–कीटादि–सब नीची शाखायें हैं । व्यापक– फैली हुई– वासनारूप जडें मनुष्यलोकमें कर्मोंको उत्पन्न करती है तथा बांधनेवाली है । मनुष्यलोकमें भारत ही कर्मभूमि है । अन्यत्र भोगभूमि कही गई है । यहाँ ही स्वकर्मानुसार भगवदिच्छासे फल मिलता है । अच्छे कर्मसे उर्ध्वगति–देवागदिकी और बुरे कर्मसे अधोगति – पशु–पक्षी–आदि की होती है । "न रूपमस्येह तथोपलभ्यंते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा । अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥" (३)

यहाँ जगन्मिथ्यात्वका प्रतिपादन नहीं है–संसार–

मिथ्यात्व कहा है। जगत्संसारके भेदके अज्ञानसे लोग अन्यथा अर्थ करते हैं । "**मायामात्रतु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्त स्वरूपपत्वात्** ॥ ब्र.सू. (३–२–३) – में बहुत स्पष्ट है । "तु":– शब्द अन्यथा पक्षका निवारणके लिये है । जो स्वप्न–सृष्टि है, वह मायामात्र है । उसमें कारण है,– संपूर्णरूपसे अप्रकट उसका (स्वप्नसृष्टिका) स्वरूप होनेसे । जिसका जैसा स्वरूप है,– देशकाल वस्तु– सापेक्ष, तैसे अभिव्यक्ति होती है । ऐसा न होनेसे स्वप्न– सृष्टि संपूर्ण अभिव्यक्त नहीं होती है । स्वप्नसृष्टि ही मायामात्र है । भगवानकी स्वरूपभूत सृष्टि तो यथातथा व्यक्त ही है। जगत तो ब्रह्ममूल है ; मायामूल नहीं है । "**जगत्**" तो संपूर्ण व्यक्त है, अव्यक्ता है – अविद्यामोहित जीवका जगतमें अहंता– ममता– रूप "**संसार**" ! यह, ब्रह्मपरिणामात्मक, जगत् मिथ्या नहीं है! उसको तो "**अव्ययं**" सुस्पष्ट अविनाशी कहा है – स्वयं कृष्णने! व्यक्त है यह "**अश्वत्थः**" तो ! अव्यक्त नहीं हैं ! जीवसे उसका नाश अशक्य है । किंतु उसका पर्यावरणभूत जीवकल्पित–संसार ही मिथ्या है । "जगत्" के साथ "**संसार**" मिल गया है । वस्तु–व्यक्ति–जगद्रूप है–सत्य है; उसमें जीवकल्पित–मैं मेरा (मेरी) रूप संसार ही मिथ्या है । वस्तु–व्यक्ति तो यथावत् रहें, "**मैं–मेरा–**" निकल जाय, तो जीवन्मुक्ति हो जाय ! प्रारब्धकर्मफलभोगके बाद जीव जन्मादि– शरीर– बंधनसे मुक्त हो जाय !

"महाभारत"में "श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्" में है,– सुस्पष्ट यह स्वरूप, "**यस्य स्मरण मात्रेण जन्म–संसार– बंधनात् । विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे ।।**" जिसके स्मरण– मात्रसे जन्मबंधन तथा संसारबंधनमेंसे जीव विमुक्त हो जाता है, वह विष्णु–प्रभविष्णुको नमस्कार ! यहाँ दो बंधन कहे हैं;– १. **जन्मबंधन**– प्रारब्धकर्मफल भोगसे शरीर–संबंध होता है । वह निवृत्त होने पर मिलता है,–शरीर–जन्म (मरण) बंधनमेंसे–मोक्ष ! २. **संसारबंधन**– अविद्यामोहित जीवने ब्रह्मपरिणाम–भूत वास्तव–जगतमें अपनी कल्पनासे मानलिया हुआ–"मैं–मेरा"–"संसार" है । यह है बंधन! उसमेंसे "सब प्रभु है,– प्रभुका है,–"वह ज्ञानसे छूटता है अहंता–ममतात्मक–संसार–बंधन !

इसलिये, अत्यंत विरूढ (दृढ) मूल–जीवकल्पित–अहंता–ममता–रूप– संसार, वासना, दोषरूप जो हैं, उसको असंगशस्त्र (दृढ–वैराग्य–रूप) से, आसक्तिके बिना, छेदके, अलग करके, बादमें "परं पदं"–अक्षर ब्रह्मरूप भगवद्धामकी प्राप्तिके प्रयत्न करें । यह "संसार" (जीवकल्पित अहंता–ममता)का रूप, यहाँ (ज्ञानदशामें), मिलता नहीं है, जीवकल्पित होनेसे । उसका आदि–अंत–स्थिति– वास्तवरूपमें जगत्की तरह उपलब्ध नहीं है । इसलिये वासनारूप जडोंसे दृढ हो गये हुऐ, संसार–वृक्षको दृढवैराग्य–शस्त्रसे काट दें । तब भगवत्पद

(धाम) प्राप्तिके प्रयत्न करने चाहिये ।

नित्यलीलात्मक–आनन्दमय जगत् :

यहाँ, (सच्चिद्रूप) जगत् (अव्यय) है संसार (नश्वर) है । तदतिरिक्ति, नित्यलीलात्मक (आनंदात्मक) जगत् भी है, वह भी सत्य ही है । यहाँ लौकिक जगत तथा संसार में अलौकिक–नित्यलीलात्मक आनंदात्मक जगतका रूप उपलभ्य नहीं है । वह नित्य होने से अंत नहीं है । पुरुषोतम–मूलक होनेसे आदि नहीं है । पुनः स्थिति भी नहीं है । इसलिये लौकिक–जगत् तथा संसार–दोनोंको दृढनिश्चयात्मक लौकिक जगत् तथा संसारके दोषविचाररूप शस्त्रसे, संगाभावसे, छेदकर अलोकिक मूलभूत पुरुषोत्तम–प्राप्तिके लिये प्रयत्न करें ।

शरणागतिसे भगवद्धाम–प्राप्ति :

"ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।।– (४)

"**ततः**" – "संसार"– बंधनसे मुक्त होनेके बाद, "**तत् पदं**"–ब्रह्मपंद, अक्षरब्रह्मात्मक – भगवद्धाम, "**परिमार्गितव्यं**"–(गुरु–द्वारा) अन्वेषणीय है । जहाँ गये हुए (ज्ञानी) पुनः वापस नहीं आते हैं । यही आद्य पुरुष–पुरुषोत्तम–श्रीकृष्णकी शरणमें मैं जाता हूँ । "**यतः**" जिसके–अविकृतपरिणामसे, "**पुराणीप्रवृत्तिः**"–सनातन

जगद्रूपमें आविर्भावे- तिरोभावरुप लीला, सकल जगतकी कर्ममें प्रवृत्ति, सनातन भक्तिप्रवृत्ति, विस्तृत होती है । यहाँ शरणागति-(भक्तिप्रवृत्ति वस्तृत होती है । यहाँ शरणागति-(भक्तिके अंगरूपको) ही मुख्य-साधन बताया है ।

भगवद्धामगमन-योग्य लोग :

निर्मानमोहा जितसंगदोषा
आध्यात्मनित्याविनिवृत्तकमाः
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुख-दुःख-संज्ञौर्गच्छन्त्यमूढाः
पदमव्ययं तत् ।।" (५)

मानमोह-रहित, संगदोषरहित, अध्यात्मज्ञानका नित्य सेवन करनेवाले (प्रभुपरायण), जिनकी कामना-वासना-दूर हो गई है ऐसे, सुख-दुःख-नामक द्वंद्वसे मुक्त, ज्ञानी, वह अविनाशी पद अक्षरब्रह्म-(व्यापिवैकुंठ)-में जाते हैं । भगवद्धाम ज्ञानियों के लिये तेजोमय है, भक्तोंके लिये वैकुंठादिरूप भगवद्धाम !

भगवद्धामका स्वरूप :

"न तद्भासयते सूर्यो न शशांके न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।" (६)

भगवानका वह परमपद है, उसको सूर्य प्रकाशित नहीं करता है । स्वयंप्रकाश है, न चन्द्र, न अग्नि ! जहाँ जानेके बाद वापस नहीं लौटते हैं, वही मेरा परम धाम है । (अक्षरब्रह्म)-व्यापि वैकुंठ हैं । मुक्तजीव- भक्त वा ज्ञानी स्वेच्छासे तो वैकुंठमेंसे वापस नहीं आसकते हैं । भगवान् तो

स्वलीलार्थ वापस ला सकते हैं । सर्वसमर्थ है-भगवान् ! सर्वतंत्र-स्वतंत्र हैं । व्रजजनोंको वैकुंठ दर्शन कराके पुनः व्रजलीलामें लिये हैं । निरुपधि है - महिमा-प्रभु की !

जीवका स्वरूपः जीव भगवानका अंश हैः दास है :

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूत : सनातनः ।" (७)

मेरा ही अंश जीवलोकमें जीव हो गया-सनातन है ।

सच्चिदानन्द-पुरुषोत्तम-श्रीकृष्णकी ही लीलेच्छासे, प्रदीप्त अग्निमेंसे जैसे स्फुलिंग (चिनगारियाँ) उडते हो ऐसे संदश लोकादि तथा स्वांशचिदंशरूप आत्माओंको अपनेमेंसे व्युच्चरित करते हैं । यह सनातन है, ब्रह्मेच्छासे तिरोहितानन्द तथा तिरोहित ऐश्वर्यादि-ब्रह्मधर्मवाला, अविद्या संबंधवाला, लौकिककामनावाला-प्राणधारण प्रयत्नवान्, "जीवभूता" जीवलोकमें रहता हुआ, देवमनुष्यादि-प्रकृतिके परिणाम-विशेषरूप शरीरस्थ पांच-इन्द्रियों सहित छठे मनःको खींचता है । -कर्मानुगुण करता है ।

"अंशो नाना । व्यपदेशादन्यथा चापिदाशकितवादित्वमधीयत एके ।" -ब्र.सू. (२-३-४३) में, जीवको ब्रह्मका अंश कहा है । विविध व्यपदेश (निरूपण) होनेसे, यह निश्चित होता है । **"सर्व एवात्मानो व्युच्चरन्ति कपूयचरणा रमणीय चरणाः।"**- श्रुति है । सब ही आत्मा प्रकट होते हैं - ब्रह्ममेंसे, अधम - आचरणवाले (आसुरजीच) और उत्तम - आचरणावाले (दैवीजीव)! ब्रह्म निरवयव होनेसे जीवका अंशत्व कैसे हो

सके ? – ऐसी शंकाको स्थान ही नहीं है । ब्रह्म निरंश है वा सांश वह लोकमें कभी भी सिद्ध–निश्चित–नहीं है । ब्रह्म तो वैदैकसमधिगम्य है । श्रुति जैसे चरितार्थ हो ऐसे, उसका उल्लंघन किये बिना ही, वेदार्थ–जाननेके लिये युक्ति बतानी चाहिये । स्वयं न मिले तो तपः करना चाहिये । अथवा अभिज्ञोंको पूछना चाहिये । व्यर्थ कल्पनासे अनर्थतो नहीं ही करना चाहिये । वेदान्तमें जैसा ब्रह्म ज्ञात होता है, प्रतिपादित होता है, वैसा ही स्वीकारना चाहिये । अणुमात्र भी अन्यथा कल्पनासे तो महान् दोष होता है । युक्ति तो स्पष्ट है, – "**विस्फुलिंगा इवाग्नेर्हि जड–जीवा विनिर्गताः । सर्वतः पाणि पादान्तार्वतोऽक्षिशिरोमुखान् । निरिन्द्रियात्स्वरूपेण तादशा इति निश्चयः । सदंशेन जडाः पूर्व चिदंशेनेतरे अपि । अन्यधर्म–तिरोभावा मूलेच्छातोऽस्वतन्त्रिणः** ॥"–अग्निमेंसे चिनगारीआँ निकले ऐसे सर्वत पाणिपादान्त – सर्वतोऽक्षिशिरो मुख–सर्वत्र अवयववाले अप्राकृत साकार निरिन्द्रय ब्रह्ममेंसे स्वरूपसे तादश जड–जीव प्रकट हो गयें । यह निश्चय है । सदंशसे जड पहले हुए, चिदंशसे जीव भी हुए । मूलब्रह्मकी इच्छासे ब्रह्मके अन्यधर्म– (आनंद–ऐश्वर्यादि) उस (चिदंश) में से तिरोभूत हो गये । जड–जीव अस्वतन्त्र हैं । ब्रह्मवादमें तो अंशपक्ष ही है । ब्रह्मविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञासे दाशादिका भी ब्रह्मत्व है ।

आनन्दांशके तिरोधानसे साजात्य नहीं होता है । "**तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात् पावकात् विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ।**" –श्रुति स्पष्ट है । धगधगती हुई, अग्निमेंसे चिनगारियाँ निकले–ऐसे अक्षरब्रह्ममेंसे सब उत्पन्न होते हैं । ऐसे, स्पष्ट है, जीव ब्रह्मका अंश है । "**पुरुष एवेदं सर्वम्**", "**पादोस्य विश्वा भूतानि**" – वेदमें प्रसिद्ध है,– यहसब जगत् पुरुष ही है । जीवोंका पादत्व है, पादोंमें स्थित होनेसे अंशत्व है । "**मन्त्रवर्णात्**" ।–ब्र.सू. (२–३–४४) में स्पष्ट है । गीताजीमें भी "**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः** ।"–(७)–स्पष्ट कहा है । यहाँ "अंश इव अंशः "नहीं है । जीव ब्रह्म नहीं ही है । अंश ही है । जीवके अंशत्वसे, हस्तादिके दुःखसे शरीरको दुःख होता है –ऐसे, अंशी ब्रह्मको दुःख नहीं होता है । "**प्रकाशादिवन्नैवं परः** ।" – ब्र.सू. (२–३–४६)– प्रकाशादि की तरह ! "**नाग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत्स्यात्**" – श्रीभागवत (११–२३–५६) अग्निको ताप, हिमको ठंड नहीं लगते हैं । धर्मत्व बतानेके लिये प्रकाशग्रहण किया है । दुःखादि भी ब्रह्मधर्म है । प्रकाश प्राकाश्यधर्मसे दूषित नहीं होता है । "**स्मरन्ति च**" –ब्र.सू.(२–३–४७) –"**एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ।**" तथा "**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।**" –श्रुति है ।"

सर्वभूतोंका एक अन्तरात्मा बाह्यलोकदुःखसे लिप्त नहीं होता है । तथा हृदय गुहा-में दो पक्षी (जीव-अन्तर्यामी) है । उसमेंसे एक कर्मफल (पिप्पल) भोग करता है, दूसरा न करता हुआ प्रकाशता है । यहाँ, जीव कर्म फल भोग करता है, बह्म नहीं,-यह स्पष्ट है ।

अतः, जीव ब्रह्म नहीं है, ब्रह्मका प्रतिबिम्ब भी नहीं है, अंश ही है । प्रतिबिम्ब तो बिम्ब करे ऐसा ही करता लगेगा । यहाँ प्रतिबिंब जीव कर्मफल भोगता है, बिम्ब ब्रह्म तो नहीं भोगता है । इसलिये, जीव प्रतिबिंब-मिथ्या-नहीं है, ब्रह्मका अंश ही है । “**एषोऽणुरात्मा-चेतसा वेदितव्यः आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः**”-श्रुतिमें अंशत्व-अणुत्व कहा है । अथवा “**नानाव्यपदेशात्**” भेदनिरूपणसे,-भी, “**अंशः**” -जीव ब्रह्मका अंश है । “**य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्** ।”-“जो आत्मा (जीव)में रहता हुआ आत्माको दूसरा नियंत्रित करता है, जिसको आत्मा जानती नहीं है, जिसकी आत्मा शरीर है ।” -श्रुतिमें, जीव और ब्रह्मका भेदसे निरूपण स्पष्ट है । इसलिये जीव ब्रह्म नहीं है, ब्रह्मका अंश है ।

जीव-ब्रह्म-विभाग भी अविद्यासे नहीं है, ब्रह्मेच्छासे ही हैं । “**अविभक्तं विभक्तिमत्**”- “अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।” -गीता (१३-१६)- से, ब्रह्मकृत् यह विभाग है, अविद्यासे नहीं । इस तरह सर्व

श्रुति-स्मृति-प्रामाण्यसे, सब जीव ब्रह्मके अंश ही है, अणु जितने परिमाणवाले हैं, सनातन है, ब्रह्मेच्छासे ही विभक्त हुए हैं । यहाँ “**ममैवांशो-जीवभूतः**” में, एक वचन है । -यह एक ही अंश जीवभूत है । एक यह जीवभूत-जितने भी जीव है - तद्रूपतासे उत्पन्न हुआ है । समष्टिके अभिप्रायसे एकवचन है । वह ही “**जीवलोक**”-प्रपंच (जगत्)में क्रीडा करता है । वैकुंठ भगवानका लोक है, ऐसे जीवोंका लोक जगत् (प्रपंच) है । ऐसा भी जीव देहकी तरह आगंतुक नहीं है, “**सनातन**” है । वह जीव, मन जिसमें छठ्ठाहै ऐसी, पांचज्ञानेन्द्रिय (वासनामय- लिंगशरीरस्थ)को भोगोत्पत्यर्थ खिंचता है, विषयभोगानुकूल करता है । ये प्रकृतिस्थ इन्द्रियाँ हैं । उनको खिंच लेता है, और उत्क्रमणके समय साथमें लेकर जाता है, वायु गंधको ले जाय ऐसे । “**उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्**” ब्र.सू. (२-३-१९) तथा “**स्वात्मना चोत्तरमो** ।”-ब्र.सू. (२-३-२०) में भी यह है ।

भगवदिच्छासे ही जीवको बंधन और विपरीतता :

जीव भगवानका चिदंश है, फिर भी दुःखी दिखता है । उसका समाधान देते हैं, - “**पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ** ।” ब्र.सू. (३-२-५) भगवानकी ही इच्छासे जीवके भगवदधर्म तिरोहित हो गये हैं । ऐश्वर्यके तिरोभावसे दीनता-पराधीनता है । वीर्यके तिरोभावसे सर्वदुःख सहन करने पडते हैं। यशके तिरोधानसे सर्वहीनता होती है । श्रीके तिरोभावसे जन्मादि

सर्वविपत्ति होती है। ज्ञानके तिरोभावसे देहादिमें अहं (मैं) बुद्धि, सर्वविपरीत-ज्ञान होता है। वैराग्यके तिरोभावसे विषयासक्ति होती है। पहले-चार ऐश्वर्य, वीर्य, यशः, श्री के तिरोधानसे बंधन होता है; पीछले दो (ज्ञान-वैराग्य)के तिरोधानसे विपरीतता होती है। तिरोभावसे ही ऐसा होता है। एकांशके प्राकट्यसे भी ऐसा नहीं होता है। आनंदतो पूर्वसे तिरोहित होनेसे जीवभाव होता है। इसलिये जीव काममय हो जाता है। आनन्दतो अकाममय है।

भगवदिच्छासे हुए बंधनादि भगवदिच्छासे ही छूटे-ब्रह्मसंबंधसे ही पुनःब्रह्मधर्म प्राकट्य :

प्रदीप्त अग्निमेंसे चिनगारियाँ निकले वे कुछ समयमें उष्मा-प्रकाश-रहित काली हो जाती हैं। इस प्रकार ऐश्वर्यादि षड्धर्म विशिष्ट "ब्रह्म"मेंसे लीलेच्छासे पहले तो चिनगारी जैसे ब्रह्मधर्मयुक्त "आत्मा" प्रकट होते हैं- । तब ब्रह्म आत्माकी आत्मा होता है "**परमात्मा**" ! पुनः "**पराभिध्यान**"से आनंद एवं ब्रह्मधर्मके तिरोधानसे "जीव"-प्राणधारण-प्रयत्नवान् हो जाता है। चिनगारीमेंसे काली कोलसी हो गई, उसको किसी भी उपायसे पुनः चिनगारी बनानी हो तो मात्र अग्निका ही पुनः संबंध कराना पडे ! "**पराभिध्यान**"से तिरोहितधर्म "**पराभिध्यान**" से ही पुनः आविर्भूत हो सकें। अन्य कोई भी उपायोंसे नहीं। स्वयं ही यह "पर" पुरुषोत्तमने प्रकट होकर श्रीगोकुलमें जीवोंको "**ब्रह्मसंबंध**" करानेकी आज्ञा श्रीवल्लभाचार्यजीको दी।

तदनुसार "**ब्रह्मसंबंध**"से जीवको पुनः कृष्णसंबंध होता है। प्रदीप्त अग्निका संबंध काली कोलसीको पुनः चिनगारी बना देता है, ऐसी तरहसे, ब्रह्मसंबंध लेकर कृष्णसेवा करनेवाले जीवमें पुनःकृष्ण (कृपा) संबंधसे ब्रह्मधर्म प्रकट हो जाते हैं, जीवभाव निवृत्त हो कर, भगवद्भाव- प्रवृत्त और प्रवृद्ध हो जाता है। स्वांश-स्वसंबंधवाले जीवोंके लिये अब षट्धर्म प्रकट करके हो जाता है- ब्रह्म,-परमात्मा ही भगवान्! ब्रह्म- परमात्मा-भगवान् शब्द भिन्न है-त्तत्व तो एक ही है-कृष्ण !-स्वयं भगवान् ! है अब प्राणधारणके लिये नहीं, अपने प्रिय प्रभुकी प्रसन्नताकेलिये ही वह प्रयत्नपरायण हो जायगा। जीवन सफल हो जाता है।

शरीरमें रहा हुआ जीव, कान, आँख, त्वक, जिव्हा, नासिका और मनको आधार बनाके विषयोंका सेवन करता है। शरीर छोडके जाते वा रहे हुए अथवा सुख-दुःख-युक्त (देहेन्द्रिययुक्त) विषयोंका भोग करते हुए, आत्माको (देहाभिमानी) अज्ञानी लोग नहीं जानते हैं। (देह-देही) ज्ञाननेत्रवाले सर्वावस्थामें भिन्न देखते हैं। यत्न करते हुए-चित्तवृत्तिनिरोधवाला योगी उस आत्मा को देखता (जानता है) परंतु अशुद्धचित्तवाला अज्ञानी यत्न करने पर भी उस (आत्मा)को नहीं जानता है।

"यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नै तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥"(१२)

नेत्रादि-इन्द्रियोंको परार्थग्रहणमें सानुकूल सहयोग देते

हैं– इन्द्रियदेव और सूर्यादि–बाह्य–देव ! ऐसे सूर्यादिके भी प्रकाशसे निरपेक्ष भगवद्–धाम विभूतिरूप अक्षरब्रह्म, जो चिदंशसे जीवावस्थ है, भगवानका अंश है । ऐसे अचिन्त्यरिमाण–विशेष सूर्यादि भी भगवानकी विभूति है । भगवानका अंश जीवभूत है–जीवलोकमें ! ऐसे आदित्यादिमें भगवानकाअंश ही तेजोरूपसे है । "सोऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावह्म् ।" –श्रुति है । उपासनाविचारसे यह आधिदैविक है । भगवानने सबको ऐसे कृपातेजः दिये हैं ! सूर्य, चन्द्र, अग्निका जगत्प्रकाशक तेजः भगवानका ही है! धारण–पोषण पाचन–शक्ति भी भगवानके अंशसे ही है । "मैं पृथ्वीमें प्रवेश करके प्राणीओंको धारण करता हूँ ।" रसात्मक चन्द्ररूपसे भगवान् सब वनस्पतिको पोषते हैं ।

भोजन करता है–प्राणी–पचाते हैं प्रभु ः।

"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः
प्राणापानसमायुक्तं पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥" –(१४)

मैं (कृष्ण) ही वैश्वानर होके सर्व प्राणीओंके शरीरमें रहकर प्राणापानसे समायुक्त हो करके चतुर्विधि (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य) अन्नको पचाता हूँ । खाय–प्राणी, पचावे प्रभु ! कृपाही है न ?।

"वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥" –ब्र.सू. (१–२–२४) से वैश्वानर कृष्ण ही है । जीव–जगतके हितार्थ सबकुछ करते हैं–प्रभु ! व्यापक है, सर्वरूप है । वैश्वानर

वागधिपति है, जाठराग्नि भी है । शरीरमें उष्मा रहती है–जाठराग्निके कारण ! वही अन्नपाचनमें कार्यसमर्थ होता है । नहीं तो जीवननिर्वाह कठिन है । सर्वरूपसे, सर्वद्वारा, सर्वके नियामक–प्रेरकरूपसे, भगवान ही क्रीडा करते हैं । रूप–नाम–विभेदसे भगवान्–ही क्रीडा करते हैं । रूप–प्रकारकी लीला ऊपर बताई–अब नामप्रकारकी क्रीडा बताते हैं ।

सर्व वेदसे मात्र कृष्ण ही वेद्य हैं ः स्मृति–विस्मृति कराते हैं–कृष्ण ! नित्य निकटमें रहते हैं–कृष्ण ।

"सर्वस्य चाहं हृदिसन्निविष्टो मत्तः
स्मृतिज्ञार्नमपो–हनं च ।
वैदैश्च सर्वैरहमेववेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥" (१५)

"सबके हृदयमें भी मैं ही हूँ"–प्रवेश करके रहा हूँ । यहाँ "च"– "अपि"–भी वाचक है । स्वजन तो सबके, अत्यंत निकटके होने पर भी सतत साथमें तो नहीं ही रह सकते हैं । सर्वत्र–सर्वदा सबके साथमें रहता है, साथ सबपरिस्थिति में देता है, हृदयस्थ भगवान् ! शरीरके संबंधी, मनके माने हुए स्वजन भी, दूसरेजन्ममें तो न भी मिलें, हृदयमें बसे हुए भगवान् तो कोई जन्ममें छोडते नहीं है, प्रत्येक जन्ममें मिलते ही है । शरीरके स्वजन तो पति–पत्नी–पुत्रादि भी अमुक समयमें, अमुक उम्रमें, एक दुसरेसे प्राप्त होते हैं । जन्मसे तो कोई किसी को मिलता

नहीं है, मरण तक साथमें रहते नहीं हैं । एक मात्र भगवान् ही है,–जो जन्मसे लेकर मरण तक साथमें–पासमें–हृदयमें रहते ही हैं । रुधिराभिसरणमें कहा गया स्थूल हृदय वह नहीं है । वह तो है–सूक्ष्महृदय !

भगवान् ही सबको कठपूतलीकी तरह नचाते हैं :

सबकी सकल वृत्ति, संवेदन प्रायः हृदयमेंसे प्रकट होते हैं । हृदयस्थ भगवान् इन सबको प्रभावित करते हैं । स्मृति और ज्ञान सामान्यतः बुद्धिके कार्य माने जाते हैं । पूर्वमें अनुभूत विषयके बुद्धिमें जो संस्कार होते हैं, उससे जो ज्ञान होता है वह स्मृति है । इन्द्रिय–लिंग (लक्षण–चिह्न)–आगम–योगसे होता वस्तुनिश्चय–वह ज्ञान है । दोनों बुद्धि पर आधारित हैं, परंतु यहाँ भगवान् कहते हैं– **“मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च”** स्मृति–ज्ञान दोनोंका होना और दोनोंका **“अपोहनं”** न होना, दूर हटाना, भूल जाना, भी मुझसे ही होता है, बुद्धि से नहीं । “अपोहनं”का अर्थ तर्क भी होता है । स्मृति–ज्ञान–तर्क, याद रहना–समझाना–अनुमान करना, यह तीनों प्रभु ही कराते हैं । भगवान् अपनी लीलानुकूल ही स्मृति–ज्ञान–तर्क वा सब भूल जाना भी कराते हैं । स्वतंत्र तो भगवान् ही है, बाकी तो सब ज्ञानी–अज्ञानी–विज्ञानी–सब प्राणी–प्रभुकी कठपूतलियाँ हैं । जिसको जैसे नचाना चाहते हैं, वैसे ही नचाते हैं । इसलिये आखिरमें तो, जो कुछ भी होता है, सब है–भगवानकी लीला !

वेदोक्त सब देव–देवीके रूप– नाम विभेदसे, विभूतिरूपमें कृष्ण ही क्रीडा करते हैं :

सब वेदोंसे मैं ही वेद्य हूँ । –**“वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः”** –वेद (संहिता–ब्राह्मण) (ऋक्–यजुः–साम–अथर्व) वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष्, छन्दः), चार उपवेद (आयुर्वेद, धनुर्वेद गांधर्ववेद, स्थापत्यवेद), इतिहास, पुराण–आदि सपरिकर–वेदसे, मैं ही सर्वात्मना वेद्य हूँ । **“एव”** –अन्येयोगव्ययच्छेदक है । वेदोंमें कृष्णके सिवाय और कोई वेद्य नहीं है, किसीका भी वर्णन नहीं है । भिन्न भिन्न देवी–देवताके नाम दिखाई देते हैं, उन सब रूपनामसे विहार तो भगवान् ही करते हैं । भगवान् ही सब रूपनाम–कर्मको धारण करते हैं, सबभगवानकी विभूतियाँ हैं, सबके अंतर्यायमी (नियामक–प्रेरक) भगवान् ही है । इन सब वेद अमिधा और तात्पर्यवृत्तिसे भगवानका ही वर्णन करते हैं ।

यथार्थ वेदज्ञा भगवान् ही है : यथार्थ वेद सिद्धान्त है – गीता–भागवत !

“वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्”– वेदान्त सामान्यतः तो उपनिषत् हैं । परंतु अब तो प्रायः, कृष्ण द्वैपायन व्यासजी प्रणीत **“ब्रह्मसूत्र”** वेदान्तदर्शन (उत्तरमीमांसा)को ही प्रायः वेदान्त कहते हैं ! व्यासजी भी भगवानकी ज्ञानकलाके पूर्णावतार हैं । व्यासजीके रूपमें भगवान् ही वेद–वेदान्त–विभाग–व्यवस्थादि करते हैं । गीताजीसे भी

यथार्थबोध कराते हैं । भगवान् और भगवानके शरणागतके बिना कोई यथार्थ वेद–वेदांत–सिद्धान्त जानता नहीं है । वेद जिसका वर्णन करते हैं, वह स्वयं "**वेदविद्**" नहीं होगा तो और कौन होगा ?! अध्यायारंभ में–"**यस्तं वेद स वेदवित्**" कहा था ! अब अपने को "**वेदविद्**" कहते है ! भगवान्–भगवानकीलीला–भगवानका जगत्–सबके रहस्य तो भगवान् ही जानते हैं । अर्जुनने भी कह दिया है,–"**स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।**" (१०–१५)–हे पुरुषोत्तम । आपसे आपको स्वयं आप ही जानते हो ! जान सकता है वह, जिसको कृपासे भगवान् जनावे ! भगवान् ही "**वेदविद्**" है, अतः भगवानने कही बात ही वेदसिद्धान्त है,–यह है, गीता, ! यह है,–श्रीमद् भागवत !

जीवनकी सच्ची दिशा :

सब कुछ भगवान् हैं, सब कुछ भगवानसे हैं, सब कुछ भगवानके लिये है, सबकुछ भगवानका है,–यही शास्त्रसिद्धान्त हैं । तदनुसार विचारकरके जीनेका प्रयत्न करते चलें । जीवनकी यही सच्ची दिशा है, कृतार्थता है ।

सृष्टिमें सबकुछ भगवानकी लीला ही है :

ब्रह्मवादमें तो माया भी भगवानसे भिन्न नहीं है, भगवानकी शक्ति है–दासी है । क्षर–अक्षर–उससे अतीत यह सब भगवान् है । प्रवाह– मर्यादा–पुष्टि–सृष्टि रूपमें भी भगवान् है, भगवानकी लीला है । कहीं पर भी अन्यथा–बुद्धि–दूषितबुद्धि–न करें । सर्वत्र संग–प्रसंगसे भटकनेवाले चर्षणीजीव भी भगवल्लीलाके भाग रूप हैं । भगवानने स्वलीलार्थ स्वेच्छासे मनसे जो जीव–सृष्टि प्रकटकी, वह कालप्रवाहमें रहनेवाली प्रवाह सृष्टि है । ये जीव अपने मनके अनुसार ही जाते हैं । जन्म–मरणमें घूमते रहते हैं । स्वेच्छासे वाणीसे सृष्टि प्रकटकी–मर्यादा ! वे लोग भगवदवाणी–वेदको अनुकूल संयमसे जीते हैं । मोक्षावधि फल यथाधिकार मिलता है । स्वेच्छासे कृष्णने कायामेंसे प्रकटकी–पुष्टि सृष्टि ! वे भगवानके स्वरूपको अनुकूल रहकर सेवारत रहते हैं । उनका फल भगवान् ही है । तीनोंमें यथासंग–प्रसंग भटकनेवाले चर्षणीजीव हैं । उनकी स्थिर–रुचि कहीं पर नहीं होती है । खंडशः कुछ फल होता है । सब लीला है–भगवान की ! अपनी विचित्र लीलाके लिये ही भगवानने विविधता विरोधिता–विशिष्टता–विचित्रता प्रकटकी है ! देहभान है तब तक तो शास्त्र–मर्यादा ही है । पूर्णज्ञान वा पूर्णभाव–दशामें तो शास्त्रसे पर हो जाते हैं । देहानुसंधान नहीं होता है, स्नेहानुसंधान ही होता है ।

लोकमें दो पुरुष–क्षर और अक्षर :

"द्वामिमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षरमेवच ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोडक्षर उच्यते ।।" (१६)

लोकमें यह दो पुरुष है, "क्षर" और "अक्षर" ! तृणसे लेकर ब्रह्माजी तकके सब जड–चेतन, स्त्री–पुरुष, देव, दानव, मानव, प्राणीमात्र–पदार्थमात्रको दोनोंमें ही समाविष्ट

कर दिये हैं। दोनों पुरुष ही गिनाये हैं, स्त्री–प्रकृतिक नहीं। केवल जड–प्रकृतिक भी नहीं है। “**एव च**”–से, वास्तवमें “क्षर” भी स्वरूपतः तो “**अक्षर**” है– यह सूचित करते हैं। भगवदिच्छासे “**अक्षर**”में से ही जड–चेतन–सर्वभूत–क्षर–प्रकट होते हैं। ब्रह्मासे तृण तक सब भूत–जड–चेतन, समुदायमें समष्टि भूत; तथा व्यष्टिभूत– समष्टि जीवशब्द–वाच्य, भगवानके सदंश– विदंशसे प्रकट हुए सब “क्षर” है। “**अक्षर**” कूटस्थ है, विराट्–समष्टि–व्यष्टिके मूलभूत, शुद्ध, सच्चिदानन्दक, भगवद्धाम रूप है। –मुक्त–जीवोंका वासस्थान भगवानका कौस्तुभमणि भी है। ज्ञानीओंकी स्वरूपस्थिति भी है। दोनोंका आश्रयरूप, मुख्य–स्वरूप बताते हैं,–

उत्तम पुरुष–परमात्मा :

“उत्तमः पुरुषस्त्वत्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमायिश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥” (१७)

“तु”–शब्दसे, पूर्वमें कहे हुए, क्षर–अक्षरसे विलक्षणता बताते हैं। अपरिमित–पूर्ण–सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वकारणोंका भी कारण, अविकृत, अप्राकृत, अव्यय, ईश्वर, अद्भुत–ऐश्वर्ययुक्त, विरुद्ध–सर्वधर्माश्रय– “**परमात्मा**” है। गुणात्मक त्रिलोकमें आविष्ट होकरके अंतर्यामी रूपसे सबका भरण–पोषण–“**परमात्मा**” करते हैं। यह है–आत्माओंकी भी आत्मा ! इसके कारण ही सर्व–प्रिय लगता है। आत्माके कारण ही सबका प्रियत्व होता है। “**परम**”–

और “**आत्मा**”–“**परमात्मा**” ! –“**पुरुषोत्तम** –“**परम**”; “**आत्मा**” अक्षर ! दोनोंका आधिदैविक–आध्यात्मिक संबंध है। क्षर–अक्षरसे अन्य है–उत्तमपुरुष परमात्मा ! **“मेरा नाम पुरुषोत्तम है !” मैं लोक–वेदमें प्रसिद्ध हूँ ! :**

स्वस्वरूप–दर्शन कराते हैं –भगवान् !–

“यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदेच प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥” (१८)

मेरा नाम है, –“पुरुषोत्तम”। “क्षर”से मैं अतीत–पर–हूँ। “अक्षर”से भी उत्तम हूँ। अतः लोक और वेदमें प्रसिद्ध हूँ। मैं हूँ–“पुरुषोत्तम” ! स्त्रीका पति तो पुरुष माना गया होगा, यह तो क्षर–अक्षर–दोनों पुरुषों के पति हैं,– पुरुषोत्तम !

“**पुरि वसतीति पुरुषः** ।”– “संप्रसारण” और “षत्व” से–पुर–शरीर, उसकी अन्दर वसनेवाला–पुरुष। “पुरुषेभ्य उत्तमः पुरुषोत्तमः ।”– पुरुषोंसे उत्तम है– पुरुषोत्तम। कोई भी जीव, बद्ध हो या मुक्त, जिसकी समान नहीं है, जिससे अधिक नहीं है, जो स्वयं सब–जीवों–पुरुषों–से उत्तम है वह– पुरुषोत्तम ! भगवान् तो मुक्तोपसृप्य है।” “**मुक्तोपसृप्य व्यपदेशात्** ।“ ब्र.सू. (१–३–२). मुक्तोंको भी मिलते नहीं है,– पुरुषोत्तम ! मिलते है–निजभक्तोंको ! पीछे घूमते हैं,– निजभक्तों–की !

“**पुरमुषतीति पुरुषः** ।” “**उष दाह**”–धातुपाठ है। यहाँ अर्थ भगवान् है। पुरुषाकृति ब्रह्मांड है–तत्वोंसे बना

हुआ शरीर भगवान् स्वीकारते हैं । “पुरा आस्त इति पुरुषः ।”– “**व्यत्ययो बहुलम्**”–से “उ”कार होता है । यहाँ शरीर–संबंध नहीं हैं । यहाँ पुरुष भगवान् है । विराट् (ब्रह्मांड) पुरुष और वैराज–पुरुषसे भी उत्तम है – पुरुषोत्तम । “**पुराणि स्वप्रकृति–कार्याणि अवराणि तत्संबंधी क्षरस्तदुकृष्टोऽक्षरश्चराचरात्मा तदुत्तमः पुरुषोत्तमः।**” “**पुर**” –स्वप्रकृति कार्य, “**अवरादि** ”– तत्संबधी– “**क्षर**”, उससे उत्कृष्ट “**अक्षर**” (चराचरात्मा), उससे उत्तम–“**पुरुषोत्तम**” !

भगवानके तो अनंत रूप हैं, अनंतनाम हैं , अनंत लीला हैं । लीलाविशिष्ट–रूपसे नाम प्रसिद्ध होते हैं । गर्गाचार्यजीने नन्दालयमें नाम प्रसिद्ध किये,– “**कृष्ण ! वासुदेव !**” भक्तोंने नाम रखें – “**गोविन्द**” आदि ।

यहाँ गीतामें अर्जुन विविधहेतुसे कहता रहा,– “**अच्युत ! केशव ! कृष्ण ! गोविन्द मधुसूदन! जनार्दन !** –आदि । गीताके अंतमें–संजयने गीतावक्ता को कहा “**यत्र योगेश्वरः**–”(१८–७८) में, –“**योगेश्वर** ।” श्रीमद् भागवतमें तो नव योगेश्वर प्रसिद्ध है ! ब्रह्मज्ञानी भक्त श्रीशुकदेवजीने तो, “**योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत्त–एतद्विमुच्य ते** ।” –श्रीभागवत (१०–२९–१६) –रासविहारीजीको कहे हैं– “**योगेश्वरेश्वर**” ! –“योगेश्वरोंका भी ईश्वर !”

सब अपनी समझके अनुसार कहते हैं । विविधनाम

सबने तो दिये भगवानके ! परंतु स्वयं भगवानने तो अपना नाम कहा–“**पुरुषोत्तम** !” अन्य–लोग किसी व्यक्तिके कई नाम बतावें ये स्वीकार्य होते हैं, कि प्रामाणिक व्यक्ति स्वयं ही अपना नाम बताये वह प्रमाणिक नहीं होता है ?!! श्रीगीतामें ही संजयने कहा–“योगेश्वर !” स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपनेको कहा,–“**पुरुषोत्तम** !” स्वीकार तो सुज्ञ समझपूर्वक करें !

जो “स्वयं भगवान्” प्रकट पधारे हैं, –गीता सुनाते हैं, सबको स्वेच्छासे दर्शन देते हैं, वही “**आनन्दमय**”, “**परब्रह्म**”, “**परमात्मा**”–“**पुरुषोत्तम**” है । मायामोहित बुद्धिवालोंको अन्यथा भास होता है ।

मर्यादाफल–ब्रह्मरूप होनाः पुष्टिफल पुरुषोत्तमको प्राप्त होना :

“**अक्षरादपि चोत्तमः**”– अक्षरब्रह्मसे भी उत्तम है–पुरुषोत्तम ! श्रुति कहती है,–“**ब्रह्मविदाप्नोति परम्** ।” अक्षरब्रह्मको जाननेवाला– ब्रह्मज्ञानी–परब्रह्मको (कृपासे–भक्तिसे) प्राप्त करता है । ब्रह्मज्ञानका फल यहाँ ब्रह्म ही होता, तो “**परम**” न करते हुए, “**तत**” कहते ! परंतु यहाँ, पूर्वमें “**ब्रह्म**” कहकर, बादमें, “**परं**”–कहा है, इसलिये, सांनिध्यसे, पूर्वोक्त–ब्रह्मसे पर, अक्षरब्रह्मसे उत्तम, पुरुषोत्तम ही कहे हैं । ब्रह्मज्ञानका मर्यादा–फल है–“**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**” । –ब्रह्मज्ञ ब्रह्मरूप होता है । ब्रह्मज्ञानका पुष्टि(कृपा) फल है– “**ब्रह्मविदाप्नोत्ति**

परम् ।" –ब्रह्मज्ञ पुरुषोत्तमको प्राप्त करता है । ज्ञान–मार्गीयके लिये तो ज्ञानात्मिका ही प्राप्ति होती है । भक्ति मार्गीयके लिये ही वास्तव पुरुषोत्तम–प्राप्ति फल है । अगर, साग्रह कोई ज्ञानात्मिका–प्राप्ति ही अर्थ करें तो, "ब्रह्मप्राप्त ब्रह्मको प्राप्त करता है"– ऐसा असंगत–अर्थ होता है तथा साधन– साध्यभाव रहता नहीं हैं ।

अक्षरब्रह्म अनन्दरूप होने पर भी श्रुतिमें उसका आनन्द गिना–गया है,–गणितानन्द–है । परिच्छिन्नत्व होनेसे यह परम फल नहीं हैं । आनन्दमें अभरिच्छिन्नता ही परमफल है । केवल कृपासे अथवा कृपालभ्य सुदृढ–अनन्य–भक्तिसे ही यह फल संभव है । यह तो पुष्टिभक्तिमागीर्य निजभक्तको ही सुलभ होता है ।

श्रीभागवतमें स्पष्ट है–,

"मुक्तानामापि सिद्धानां नारायणपरायणः ।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥"
(६–१४–५)

"तस्मान्मद्‌भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥"
(११–२०–३१)

मुक्तसिद्ध–पुरुषोंमें भी नारायण–परायण अनन्य (भक्त)–प्रशान्तात्मा तो करोडोंमें भी सुदुर्लभ है । मेरी (पुरुषोत्तमकी) भक्ति–युक्त, भगवद्‌हृदय योगिजनको यहाँ (पुष्टि) भक्तिमें न ज्ञान, न वैराग्य, प्रायः श्रेयोरूप हो ।

निजभक्तोंका फल है,–"पुरुषोत्तम–प्राप्ति" !

"पुरुषोत्तमप्राप्ति" है – विविधरस भोगचतुर भगवानके साथ यथेच्छ सर्वकामोपभोग करना : यह सगुण नहीं, निर्गुण ही है :

"ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तदेषाभ्युक्ता । सत्यं ज्ञाानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं परमे गुहायां व्योमेन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता ।" –ब्रह्मविद् परको प्राप्त करता है । ब्रह्मविद् अनुभवयुक्तके मुँहसे अब व्याख्यान करते हैं । सत्य–ज्ञान–आनंद (परमानन्द) ब्रह्म है । जो निजभक्त–हृदयरूप परम गुहामें अलौकिक व्योम (भगवद्धातमक– अक्षरब्रह्म)में लीलानुकूलरूपसे विराजमान जानता है । वह (पुष्टिभक्त) अपने सब कामोंका भोग विविधरस भोग–चतुर ब्रह्मके साथ करता है । यह है,– पुष्टिभक्ति मार्गीयका पुरुषोत्तम– प्राप्ति–रूप–फल ! भक्त–स्वतंत्र है, भगवान्–परतंत्र ! भक्त–भोक्ता है, भगवान्–भोग्य ! यह लौकिककामोप–भोग नहीं है, अलौकिक है, रसात्मक है ।– सगुण–ब्रह्मकी कथा यहाँ नहीं है । –सकामभक्तकी बात नहीं है । यहाँ, ब्रह्मज्ञानके फलरूप कामोभोग है, प्राकृतवा लौकिक नहीं हैं । वेद्य–अक्षरब्रह्म ! वह निर्गुण ! और वेदनफल–वेद्यसे पर–सगुण !?!– कैसे हो सके?! वह तो असंगत ही है । साधनशेष–अक्षरब्रह्म– निर्गुण ! और उसका फलरूप परब्रह्म–पुरुषोत्तम–सगुण !?! –असंगत ही

है यह तो ? "**यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः ।**" –श्रीभागवत –(१०–२८–१५) –गुणतीत सावधान मुनियोंका वैकुंठ–दर्शनाधिकार कहा है; तो फिर उस वैकुंठ–अक्षरब्रह्मसे पर–पुरुषोत्तमके दर्शनमें तो निर्गुणकी बात बिना सोचे भी सिद्ध है ।

"यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ।।" (१९)

जो मोहरहित मेरेको इसप्रकार "**पुरुषोत्तम**" जानता है, वह "सर्वविद्" एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानवाला है, वह मेरे को अनन्यतापूर्वक सर्वभावसे भजता है,– मेरे वश होकर, प्रेमसे, मेरी सेवा करता है ।

इसप्रकार, यह सर्ववेदान्त– साररूप गुह्यतम शास्त्र– "पुरुषोत्तमयोग"– सर्ववेदवेद्य, वेदविद्–मैंने–पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने– कहा ! यह समझके कोइ भी बुद्धिमान् सर्वशास्त्रज्ञ तथा कृतकृत्य हो जाय ।

अध्याय–१६ : दैवासुरसंपदविभागयोग : श्लोक–२४:
दैव–आसुर–संपत्–प्रतिपादन :

भगवानने तो सबको दिया है,–शरीर ! सबको दी है–इन्द्रियाँ ! इसमें भी अपनेको तो मानव बनाये हैं–कार्यक्षमता दी है । जीवनविवेकके लिये बुद्धि दी है, – जिससे देह–इन्द्रिय–कार्यक्षमताका सदुपयोग करनेके लिये हम सावधतासे प्रयत्न करें । बुद्धि–संस्कारके लिये शास्त्र–सत्संगादि दिये हैं । शास्त्र–सत्संगसे संस्कृत बुद्धिवाले लोग सन्मार्ग पर चलते हैं । रुचि ही उनलोगकी ऐसी बनती रहती है । स्वाभिरुचिके अनुसार बुद्धि–मन–इन्द्रिय–शरीरकी वृति–प्रवृति होती रहती है । संकल्प–विचार– क्रिया–संग–प्रसंगादि–सब तदनुकूल होते रहते हैं । उत्पत्तिसे ही भगवदिच्छानुसार यह विभिन्नता होती है,–दिखाई देती है,–विकसित होती रहती है । "**सर्व एवात्मानो व्युच्चरंति कपूयचरणा रमणीयचरणाः ।**"– श्रुति है । भगवानकी लीलेच्छासे, सर्व आत्मा भगवानमेंसे व्युच्चरित होती हैं–कई होती हैं–रमणीय (उत्तम) आचरणवाली– दैवी ! कई होती हैं – कपूय (अधम) आचरणवाले–आसुर ! "**द्वया ह वै प्राजापत्याः ।**" – श्रुति है, – इन्द्रिय और अंतःकरण भी देवी और आसुर ! इसप्रकार, जीव–देह– इन्द्रिय–अंतकरण–दो प्रकारके दिखाई देते हैं– दैव और आसुर । उत्तम–अधम वृति –प्रवृत्तिसे ये ज्ञात हो सकते हैं । भगवानने भी (१५–१९) में, – "यो मामेव्रमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् । स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।"– कहा है । "**असंमूढ**":– मोहरहति, मेरेको जानता है, वह "**सर्वविद्**"–सर्वज्ञ है, वह मेरेको भजता है,–सेवा करता है । इसमेंसे, अर्थापत्तिसे स्पष्ट होता है, – सब तो नही भजते हैं, सब असंमूढ नहीं होते हैं । असंमूढ प्रभुको जाननेवाले, भजनेवाले–दैव ! संमूढ–प्रभुको–जाननेवाले–न भजनेवाले–आसुर । इस प्रकार दों तरहके लोग लगते हैं । (१५–२०) में भी – "एतद्

बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥" – यह ("पुरुषोत्तमयोग") जानके बुद्धिमान्–कृतकृत्य होते हैं । परंतु सब तो ऐसे बुद्धिमान् नहीं दिखाई देते हैं, न कृतकृत्य दिखाई देते हैं । यहाँ भी इससे बुद्धिमान् कृतकृत्य –होनेवाले– दैव ! अबुद्धिमान्– कृतकृत्य न होनेवाले–आसुर ! इस–प्रकार दैव और आसुर दो मिलते हैं,–प्रभुकी ओरसे, भगवदिच्छासे, कर्मानुकूल भी कभी ! सम्यक् प्रकारसे, (विचित्रलीलाके लिये प्रभुकी ओरसे), प्राप्त हुई है,– सिद्धि–दौलत–समृद्धि–प्रचुरता–वैभव प्राप्ति–है,– संपद् । वह है दो प्रकारकी–दैव और आसुर ! प्रसिद्ध है, दैव (दैवी) संपत् और आसुर (आसुरी) संपत् ! भगवान् यह लीलाविचित्रता बताते हैं ! दैवीके छब्बीसगुण बताये है ।

दैवीसंपत् :

दैव – शब्द संस्कृतमें "दिवु" क्रियापदसे होता है । दश अर्थ हैं। "दिवु क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति, गत्यादिषु" धातुपाठ है ।

१. क्रीडा – जीवन उसके लिये बोझ नहीं है, क्लिष्ट नहीं है, खेल है । प्रसन्नतासे सब स्थितिमें जीयेगा । सरल होगा ।

२. विजिगीषा– जगतमें तथा मनोदोषोंको जितनेकी इच्छा उसमें रहेगी । निराश– निष्क्रिय निष्फल वह कभी नहीं होगा । सदा कठोर परिश्रम करता रहेगा । उच्च ध्येय

रखेगा ।

३.व्यवहार – परस्परका व्यवहार भी लोकिक–हेतुसे नहीं, प्रभुने दिया है मानके मानसे करेगा । सर्वात्मा–सबके हृदयस्थ–भगवानकी प्रसन्नताको लक्ष्यमें रखकर सब जीवन–व्यवहार वह करेगा ।

४.द्युति – कर्म – ज्ञान– भक्तिका प्रकाश उसके कार्यमें निखरता होगा । मोहान्धकारमें बरबस होकर वह नहीं जीयेगा । स्वदोषोंका ज्ञान उसको होगा, उनको दूर करनेके प्रयत्न भी सदा करता रहेगा

५. स्तुति – सबमेंसे गुण देखकर वह प्रसंशा करेगा । गुणग्राहक होगा । भगवानकी सब रचना–लीलामानकर प्रभुकी स्तुति करेगा ।

६. मोद – आनंदयुक्त उसका स्वभाव होता है । हारमें भी वह हस सकता है । मुश्किल–स्थितिमें भी मीठास मानता है । कठिनतामें भी कोमलता मानता है । जीवन–कलाको जानता है ।

७. मद – " मैं प्रभुका हूँ ।" यह सौभाग्यमद उसमें होता है । वह कभी बेचारा–दयापात्र–किसीके पास, नहीं होता है ।

८. स्वप्न – ध्येय– महत्त्वाकांक्षा– जीवनस्वप्न उसका उन्नत होता है । "मैं कृष्णसेवा–कथा करूँगा" – ऐसा भगवत्संबंधी ध्येय होता है ।

९. कान्ति – आकर्षण– तेजः–शोभा – उसके

प्रत्येककार्यमें होते हैं । शरीर–मन–बुद्धिमें दृढता–कार्यकुशलता होती है ।

१०. गति– भगवानका–जीवन–फलका ज्ञान और उनके लिये गति–सक्रियता उसमें होती है। सफलता प्राप्ति उसको होती है ।

दैवी–संपत् ।–"**देव–संबन्धिनी**" – दैवी । देवदशलीलाविशिष्ट कृष्ण, भगवदाज्ञानुसार बर्तनेवाले,– धर्मशील, –भगवल्लीलानुरूप–दैवी– संपत्वाले, जिनकी साधन–सामग्री–योग्य जीवनव्यवहारवाले , भगवच्छास्त्रानुकूल होती हैं,– कर्म, ज्ञान, भक्तिकी दिव्यतासे भरे हुए जीवनवाले,–दैवी–। उनकी स्वाभाविक सुलभ है,–

१. "**अभयं**" – कालादि– सबके नियामक भगवान् अपने सर्वरक्षक है, – यह भानसे सर्वत्र– सवदा– भयका न होना । प्रभुमें निष्ठासे निर्भयता होती है ।

२. "**सत्त्वसंशुद्धिः**"– गुरुद्वारा प्राप्त भगवन्नाम–सेवादिसे भगवत्परतासे अंतःकरणकी सम्यक् शुद्धि ।

३. "**ज्ञान–योग–व्यवस्थितिः**"– भगवज्ज्ञान के उपायमें एकाग्रतासे स्थिति ।

४. "**दानं**"– भगवत्प्रसन्नताके लिये यथाशक्ति, फलापेक्षारहित, अन्नादि –विभाग (देना)।

५. "**दमः**"– इन्द्रियनिग्रह । भगवत्प्रसन्नताके लिये इन्द्रियोंका विनियोग– (उपयोग)।

६. "**यज्ञाः**"– यथाशक्ति, यथाविधि, यथाधिकार, अग्निहोत्रादिकरण, भगवत्सेवा, भगवद्विभूतिज्ञानसे यज्ञ द्वारा यजन,– फलापेक्षासे नहीं ।

७. "**स्वाध्यायः**"– स्वशास्त्राध्यायन, ब्रह्मयज्ञादि, भगवत्स्वरूपज्ञानार्थ ग्रंथादिसेवन ।

८. "**तपः**"– भगवत्सुखके लिये देहादि क्लेश – सहन करने । मार्गविवेकसे जीना ।

९. "**आर्जवम्** " – सरलता, कुटिलतादि न करना ।

१०. "**अहिंसा**"– किसीको अकारण–शास्त्रविरुद्ध–पीडा न कराना ।

११. "**सत्य**" – स्वार्थ–परार्थ– लोभादि–रहिततासे यथार्थभाषण ।

१२. "**अक्रोध**" – निष्कारण – ताडनादिसे भी क्षोभ न होना ।

१३. "**त्याग**" – अनासक्ति । भगवत्सुखार्थ स्वसुखवादिको छोडना ।

१४. "**शांतिः**" – चित्तकी स्थिरता, भगवद्भजनानुकूल मनःस्थिति ।

१५ "**अपैशुनम्**" – सर्वत्र भगवदात्मबुद्धिसे अन्यको अपवाद न देना । चूगली न करना ।

१६. "**भूतेषुदया**"– सब जड–चेतन–रूपमें भगवान् ही है, भगवदनुसंधान बिना ही दुःख है, भगवानसे अलग होनेसे दुःख है, यह समझाकर भगवत्स्मरणोपदेशादिसे

शान्ति देना ।

१७."**अलोलुपत्वं**"– लौकिक– भोगादि– लालसासे मनका चंचल न होना ।

१८. "**मार्दवं**"– मृदुता, अन्यके दुःखको समझके कोमल रहना ।

१९."**ह्रीः**"– लज्जा, प्रभुकी सेवा–कथा–सत्संगादि न होनेसे, लौकिकप्रवृत्ति होनेसे, प्रभुमार्गानुसरण न होनेसे, सिद्धान्त न जाननेसे लज्जा ।

२०."**अचापलं**"– चपलता न होना । लौकिक–क्रियादिकी आसक्तिसे भगवत्कार्यादिमें सीघ्रता न कर देना ।

२१. "**तेजः**" – भगवत्कृपा–प्रबलतासे किसीसे दब न जाना ।

२२. "**क्षमा**" – समर्थ होने पर भी अन्यके अपराधको सहन करना ।

२३ "**धृतिः**"– लौकिक– अलौकिक – दुःखादिमें चित्तकी स्थिरता ।

२४"**शौचं**" – स्नान– भगवत्स्मरणादिसे . बाह्याभ्यन्तर–शुद्धि ।

२५."**अद्रोह**" – अन्यके अनिष्टका विचार–आचार न करना ।

२६."**नातिमानिता**" – अपनेमें अन्यसे आधिक्य–मानसे आती हुई अभिमानवृत्तिका न होना । यह

है–दैवीसंपद ! भगवत्कृपासे होती है । भगवत्संमुखतामें उपयोगी है !

आसुर–संपत् : **असुर–संबंधिनी–आसुर** ! "**असु**"–इन्द्रियोंमें–"**र**"–रमणकरने–वाले, इन्द्रियभोगरत–आसुर है । जो अधर्मशील है । भगवद्‌धर्म–शास्त्रको न जानते–न मानते–हुए एशारामके लिये प्रयत्नरत । उनमें स्वाभाविक होते हैं,–

१."**दंभः**"–हृदयमें धर्मभाव न होते हुए, बाह्यरूपसे धर्मका दिखावा करना, जैसे हो–उससे अच्छे दिखानेका प्रयत्न करना ।

२."**दर्पः**"--विद्या–धन–कुल–स्थानादि–मदसे, भगवानको–अपनेको–भूलके, सबको दबाके, अपनी अधिकता बताते, हुए व्यवहार ।

३."**अभिमानः**"–अपनेमें अधिकताकी भावनासे होती हुई अधिक मानकी मनोवृत्ति ।

४."**क्रोधः**"–अपनेमें अधिकताकी भावनासे प्रतिकूलतासे, निष्ठूर–वाणी–वर्तन–विचार करना, काममें निष्फलासे आती हुई उग्रता–व्यग्रता ।

५."**पारुष्यम्**"– परदुःखका अज्ञान, कर्कशता–कठोरता–कटुता–करना ।

६."**अज्ञानं**"–सर्वस्वरूप, स्वस्वरूपको न जानना । यह है–आसुरसंपत् ! स्वाभाविकरूपमें यह छःदोष, सर्वथा आसुरजीवमें होते हैं । "**त्रयः प्राजायत्या देवा मनुष्या**

असुराश्च"। – श्रुतिमें देव–मनुष्य–असुर–तीनों प्रजा कही है । पंचरात्रमें कहा है ।–"उत्पन्नास्त्रिविधा जीवा देवदानवमानवाः ।"–"त्रिविध जीव उत्पन्न हुए,–देव, दानव, मानव ।" देव–मुक्तियोग्य, मनुष्योंमें उत्तम ।

मानुष–वारंवार मरणयोग्य, मध्यम ।

दानव–नरकयोग्य, अधम ।

दैवीसंपत्–विशेष–मोक्षके लिये हैं–पुष्टिमोक्ष, मर्यादामोक्ष ।

आसुरीसंपाद–दुर्स–अज्ञ–,ये जीव, बंधनके लिये हैं । दैवी–आसुरी दोनों भी हैं तो–भगवानकी लीलाके लिये ही ! भगवानने ही निर्माण किये हैं ।

अर्जुनको भगवानने सात्वन दिया,–"शोच न कर!" तू दैवी–संपदमें उत्पन्न हुआ है ।

दैवी–पुष्टिसृष्टि–मर्यादा"– आसुर–प्रवाह–सृष्टिः

"द्वौभूतसर्गो लोकेडस्मिन् दैव–आसुर एव च ।"–(६)

यह लोकमें प्राणीओंकी दो सृष्टि होती है–दैव–(मर्यादा–पुष्टि) और आसुर–(प्रवाह)! एकवचन–प्रयोगसे अभी दैवीमें भी आसुरोत्पत्ति होनेका अवसर आया लगता है ! "द्वौ भूतसर्गौ"–कहनेसे प्रवाहसृष्टि भी व्यवस्थित है । वेद विद्यामान होनेसे मर्यादासृष्टि भी व्यवस्थित है । भक्तिमार्ग शास्त्रमें कहा है, इसलिये पुष्टिसृष्टि भी व्यवस्थित है । दैवीसृष्टि तो विस्तारसे कही है । अब आसुरसृष्टि सुनाते हैं । भगवानकी लीलविचित्रतामें यह भी

उपयोगी है । स्वाभाविक–गुण बतानेके बाद, अब, स्वाभाविक गुणोंका असर क्रियादिमें बताते हैं,–

आसुरसृष्टिके क्रियादि–लक्षण :

१. "प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जमना न विदुरासुराः"– वेदोक्त प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग आसुर (इन्द्रियभोग–परायण) लोग नहीं जानते हैं । उनकी रुचि कहीं भी नहीं होती है । सेवा–कथादि–भगवत्कार्योमें योग्य प्रवृत्ति तथा प्रतिकूलमें निवृत्ति नहीं जानते हैं ।

२. "न शौचं"– सच्छास्त्रोंमें श्रद्धा तथा यथार्थ सत्संगादि नहीं है । मानसदोष है । मन–तनकी पवित्रता नहीं है । सेवानुरूप शुद्धि नहीं है ।

३. "नापि चा चारः"– कायिकदोष है ।–योग्य शास्त्र–भगवन्मार्ग–मार्गानुकूल आचार नहीं है ।

४. "न सत्यं" – वाचिकदोष है । सत्य नहीं है । असत्य ही है ।

५. "असत्यंमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्" – "अपरस्पर–संभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्–।।" सत्यरूप भगवानने बनाया हुआ जगत् सत्य ही है । परंतु असुर लोग जगतको असत्य कहते हैं । जगतको असत्य कहनेसे जगतमें रहे हुए वेद–वैदिकसाधन असत्य–व्यर्थ हो जाते हैं । मृगजलसे व्यवहार तो नहीं होता है, मृगजल असत्य, मिथ्या, होनेसे !! इस प्रकारसे, जगत् मिथ्या है, तो इससे व्यवहार भी नहीं हो सकता है । जगत् ब्रह्म रहा हुआ है,

इसके बदले जगत् ब्रह्ममें नहीं है, ऐसा–अप्रतिष्ठ कहते हैं। जगत् को अनीश्वर कहते हैं। भगवानका नियंत्रित नहीं कहते हैं। स्त्रीपुरुषके परस्परसंबंधसे उत्पन्न हुआ है– ऐसा मानते हैं। अन्य प्रयोजन क्या है ? जगत् कामके कारण–भोगार्थ है–ऐसा आसुर मानते हैं।

६.“**एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः**” जगतको असत्य माननेकी दृष्टिको आधार बनाके, ब्रह्मका अविद्यादिसे संबंधसे अपना जीवत्व मानके अंतःकरण नष्ट हो गया है–ऐसे अल्पबुद्धिवाले हैं।

७.“**काममाश्रित्य दुष्पूरं**–”काम भोगनेसे बढता चलता है। ऐसे–पुरा न हो सकता कामका आश्रय लेकर जीते हैं।

८.“**दंभमानमदान्विताः**”– यथार्थधर्मकरते हुए स्वलाभपूजार्थयत्नसे दिखावा करना वह दंभ है, अपनी अन्यसे अधिकताके भान से वाणी व्यवहारके अंहकारपूर्ण–हो जाना मद है। दोनोंसे युक्त है।

९.“**मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्ते**”– मोहसे असदाग्रहको पकडके जीवनव्यवहार, स्वमत–प्रचार, करते हैं–कराते हैं।

१०.“**अशुचिव्रता**” – अपवित्रव्रतवालें। अथवा कामदंभादि आत्मसात् व्रत जैसे हो गये हैं।

११.“**चिंतामपरिमेयां च प्रलयांतामुपाश्रिताः**–”

अमाप चिंता मरणपर्यंत बटोरनेवाले।

१२.“**कामोपभोग–परमाः**” – कामोपभोग ही परमफल है जिनका ऐसे।

१३.“**एतावदितिनिश्चिताः**” – इतना पुरुषार्थ कामोपभोग ही है ऐसे–निश्चयवाले।

१४.“**आशापाशशतैर्बद्धाः**”– कामादि–आशाओंके सेंकडों पाशसे बधे हुए।

१५.“**कामक्रोधपरायणाः**”– कामक्रोधमें ही परायण।

१६.“**इहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्**”– कामोपभोगकेलिये अन्यायसे भी अर्थसंचयकी इच्छासे प्रयत्न करनेवाले होते हैं।

१७.“**इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् !**” – आज मैंने यह प्राप्त किया, और फिर वह प्राप्त करूंगा ऐसे मनोरथवाले।

१८.“**इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्**” – यह मेरा है, यह भी मेरा होगा–धन–ऐसे मनोरथवाले

१९.“**असौ मया हतः शत्रु :**“ – यह शत्रुको मैंने मारा।

२०.“**हनिष्ये चापरानपि**”– दूसरे शत्रुको भी मारुंगा–ऐसे मनोरथवाले।

२१.“**ईश्वरोऽहे**” – मैं सत्ता–सामर्थ्यवाला हूँ–ऐसे अहंकारवाले।

२२.“**अहं भोगी**” – मैं भोग करनेवाला हूँ–ऐसे

अहंकारवाले ।

२३.**"सिद्धोऽहं"**– मैं सिद्धिप्राप्त हूँ–सफल हूँ–ऐसे अहंकारवाला ।

२४.**"(अहे) बलवान्"** – मैं बलवान हूँ–तन–धन–जनसे–मनसे–बुद्धिसे,–एसे अहंकारवाले ।

२५.**"सुखी"** – सिद्ध हो गये हैं जिसके इष्ट साधन–ऐसा । सानुकूलता–प्राप्त ।

२६.**"आढ्यः"** – समृद्ध, समृद्धि का अभिमानवाला ।

२७.**"अभिजनवानस्मि"**– मैं सत्कुलोत्पन्न हूँ,–ऐसा अभिमानवाला ।

२८.**"कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया"** – मरे समान ओर कौन है ?–ऐसे अभिमानवाला ।

२९.**"यक्ष्य (भक्ष्ये) दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः"** – मैं यजन करूँगा, दूँगा, हर्षक–ऐसे अज्ञानसे मोहित ।

३०.**"अनेकचित्तविभ्रान्ताः"** – अनेकव्रत–मार्गादिसे अनेक प्रकारसे चित्तके विभ्रमवाला । **"अज्ञाश्चाप्रबुद्धश्च ब्रह्माहमिति यो वदेत् । महानरकजालेषुपच्यते नात्र संशयः।।"** अज्ञ, अर्धदग्ध मैं ब्रह्म हूँ कहे, वह महानरक जालमें पीडाता है ।

३१.**"मोहजालसमावृताः"**– मोहजालमें फसे हुऐ ।

३२.**"प्रसक्ताः कामभोगेषु पतंति निरयेऽशुचौ"** – कामभोगमें अत्यासक्त, अपचित्र नरकमें गिरते हैं ।

३३. "आत्मसंभाविताः"– अपने आप अपनी प्रसिद्धि करके–करवाके–लोकमें मान्य हो गये हुए ।

३४. "स्तब्धाः" – नम्रतारहित ।

३५. "धनमानमदान्विता ": – धनसे मिलते हुए मानसे अभिमानमें छके हुए ।

३६. "यजन्ते नामयज्ञैस्ते दंभेनाविधिपूर्वकम्" – नाममात्रके यज्ञसे दंभसे अविधिपूर्वक पूजन करनेवाले ।

३७. "अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः" – अहंकार, बल, मद, काम, क्रोध– मत्सरादिके आश्रित ।

३८. "मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषंतोऽभ्यसूयकाः"– मुझे पुरुषोत्तमको जो अपने तथा अन्यके देहोंमें चेतनरूपसे विराजते हैं, उसका प्रबल द्वेष करनेवाला, निर्दोषमें दोषारोपण करनेवाले ।

(सर्वहृदयस्थ मेरा द्वेष करनेवाले सहजासुर क्रूर पापी नराधमोंको मैं वारंवार अशुभ–आसुर–योनियोंमें डालता हूँ । आवेशियोंको नहीं । आसुर–योनिको प्राप्त मूढलोग प्रत्येक जन्ममें मेरेको (भगवानको) प्राप्त न करनेसे (न भजनेसे) इससे भी अधम–योनिको प्राप्त होते हैं । भगवान् तो न मिलें, परंतु भगवत्प्राप्तिरूप सन्मार्ग भी नहीं मिलता है ।

नरकके विविधद्वारः अंदरजानेके, बहारनिकलनेके प्रकार :

"त्रिविधं नरकस्ये दं द्वारं नाशनमात्मन : ।
कामः क्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।। (२१)

काम–क्रोध तथा लोभ–त्रिविध आसुरभावरूप नरकके द्वार है, आत्मनाशक है, इसलिये यह तीनको छोड दीजिये । यह हितोपदेश है । आसुरभावके ये तीन दरवाजे हैं । दरवाजासे अंदर जा सकते हैं, बहार आसकते भी हैं । लौकिक– वस्तु–व्यक्तिमें किये हुए काम–क्रोध–लोभ नरकके द्वार हैं । परंतु अगर यह तीनों कृष्णसे संबंधित हो जाय, अवतारदशामें उनसे तन्मयता कृष्णमें हो जाय तो वह कृष्णको प्राप्त करादेगें, नरकसे बहार निकाल देगें । श्री भागवत में–

“कामं क्रोधं भयं स्नेहंमैकयं सौहृदमेवंच । नित्यं हरौ विदधतो–यान्ति तन्मयतां हि ते।।”– (१०–२१–१५)

अवतारदशामें तो, काम–क्रोध–भय–स्नेह–ऐक्य–सौहृद–भगवानमें नित्य करते हुए तन्मयताको निश्चितरूपमें प्राप्त करते हैं । यह तो भक्तिमार्गीय प्रकार है । शास्त्रोक्त उपाय तो है, नरकद्वारमें जाते हुए को बचनेके लिये । यथाधिकार सफलता मिले भी ! कामका अन्त भूख–प्याससे होता है । क्रोधका अन्त उसके फल आने पर होता है । अर्थके अनर्थोंके विचारसे लोभ शान्त हो सकता है । यह तीनों नरकद्वारसे विमुक्त पुरुष अपने कल्याणका प्रयत्न करता है । इससे परम गतिको प्राप्त होता हैं ।

“नरक” है – **“नर”का “कं” –“सुख”।** काम–भोगसे, क्रोधके सानुकूल परिणामसे, लोभमें यथेच्छ लाभसे होता है–नरको सुख, वही है–नरक ! होता है –अधःपतन ! अतः तीनोंको आत्मनाशक समझके छोड दें ।

जीवनव्यवहारमें शास्त्रका उपयोग :

“यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम्।।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं स्वधर्मं कर्तुमर्हसि ।।”
(२३–२४)

कामादि–दोषोंका त्याग शास्त्रोक्त सदाचारके बिना नहीं होता है । शास्त्रविधि–छोडके कामनानुसार अशास्त्रीय स्वछंद वर्तनवाले तत्वज्ञानात्मिका सिद्धि प्राप्त नहीं करता है, न सुख, न परम–ज्ञान–गति ! इससे फलित होता है कि जीवको क्या करना? क्या न करना ? इस विषयमें (हमारे) शास्त्र प्रमाण है”–हे अर्जुन ! तू शास्त्र विधानसे कहा हुआ जानके स्वधर्म–युद्ध–करने योग्य हो ।”

शास्त्र तो सफल–सुख–जीवनमार्गके निर्देशक हैं, असफल–दुःखमार्गका भी निर्देश करते हैं । एक है–विधि, दूसरा है–निषेध ! शास्त्रधर्म कहते हैं । धर्ममें विधि और निषेध दोनों होते हैं । दोनों हितके लिये बताये है । विधि–सफलताका निर्देश करके–प्रवृत्तिमें मनोवृत्ति को जोडता है । निषेध–असफलताका निर्देश करके–प्रवृत्तिमें से मनोवृत्तिको रोकता है । आधुनिक राजमार्ग पर जैसे सरल–सलामत–यातायातके लिये संज्ञाके रूपमें लाल हरी बत्तियॉ रखते हैं । हरी बत्ति हो तो सरलतासे पसार हो सकतें हैं –सफलता है–भय नहीं है ।–यह यात्रा जारी रखनेका विधि है । लाल बत्ती हो तो सरलतासे पसार नहीं हो सकते

हैं,–सफलता नहीं है,–भय है ।–यह यात्रा जारी न रखनेका सूचन है, निषेध है । यह यातायात–संज्ञाबत्ती वाहनव्यवहारको स्थगित करनेके लिये नहीं, परंतु सरल–सफल–सलामत वाहन–यात्राके लिये है । उसकी मर्यादामें चलनेसे सुख होता है, नहीं तो दुःख । ऐसे ही, शास्त्र जो करनेको कहते हैं–यह विधि है । उसके आचरणसे जीवनयात्रा सरल–सफल–सलामत रहेगी । शास्त्र जो करनेको ना कहें वह निषेध है । उसको पालनेसे जीवन– यात्रामें अस्कमात–संभव नहीं है, अनर्थ नहीं होगा । विधि–निषेधात्मक धर्म तो शास्त्र ही बताते हैं । तदनुसार विवेक बुद्धिसे मन को वशमें लेकर इन्द्रिय रूप अश्वों को चलानेसे जीवन–यात्रा सरल–सफल होती है । इसलिये देहानुसंधान हो तबतक तो शास्त्रविधानसे ही जीना ज़रूरी है । शास्त्र ही प्रमाण है । जिनको जीवनयात्राका यथार्थ परिज्ञान नहीं है, उन लोगोंके लिये, निःस्वार्थ ऋषियोंमें प्रभुप्रेरणासे प्रकट किये हुए श्रद्धालु समाजका शासन करनेवाले, शास्त्र ही प्रमाण हैं । प्रमाण है–यथार्थ ज्ञान का साधन । शास्त्र भगवन्मार्गमें यथार्थ जीवनोत्कर्षको राजमार्ग दिखाते हैं । उसका अनुसरण हितावह है ।

अध्याय–१७ : श्रद्धात्रयविभागयोग : श्लोक–२८

उपदेश–प्रकार : श्रद्धासे सफलता

शासन करता है–वह शास्त्र है । शास्त्रसे शासन शरीर पर हो सकता है । शास्त्रका शासन श्रद्धालुजनोंके मन–बुद्धि पर होता है । सर्वजनहितके लिये भगवदाज्ञा–रूप

शास्त्रोंकी प्रवृत्ति है । हितोपदेश तीन रीतिसे होता है । १. मित्रसंमित–पुराणादि मित्रकी तरह समझाते हैं । २. कान्तासंमित–काव्यादि कान्ताकी तरह मना लेते हैं । ३. ईश्वरसंमित–वेदादि–शास्त्र स्वामीकी तरह आज्ञा ही करते हैं । यह आज्ञा फरार हुए बिना निभानेकी होती है । इसमें तर्क–दलील–बहसका कोई अवकाश नहीं होता है । श्रद्धासे शासन सरलतासे निभाने का होता है । जन्मतः भगवान् सबको श्रद्धा तो देते हैं । सत्संग और शास्त्रसेवनसे श्रद्धा सुदृढ होती है । यथार्थ (लक्षणलक्षित) साधुजनोंका सत्संग–शास्त्रसेवन–कृष्ण कृपासे दीर्घकालपर्यंत आदरसे कथा सुननेसे श्रद्धा, रति और भक्ति क्रमशः बढते चलते हैं । "श्रद्धया सत्यमाप्यते ।" –वेदमें कहा है, श्रद्धासे सत्य प्राप्त होता है । भगवान् भी सकाम भक्तोंकोभी श्रद्धानुरूपा विभूति–रूपसे श्रद्धाका निर्वाह करते हुए प्रकट हो जाते रहते हैं । त्रिकालज्ञ–सिद्ध–पुरुष भी विश्वासको साथमें लेकर भी श्रद्धाके बिना तो स्वान्तःस्थ ईश्वरको नहीं देख सकता है । "श्रद्धामयोऽयं पुरुषः।" श्रद्धामय यह पुरुष है । श्रद्धा ही स्वस्थ–शांत–प्रसन्न रखती है । प्रभुकी पास पहोंचाती है–श्रद्धा ! सबकी श्रद्धाका निर्वाह करते हुए भगवान् भी श्रद्धानुरूप होते हैं । भगवानने स्वलीलार्थ सबको भिन्न भिन्न श्रद्धा दी है ।

शास्त्ररहित, श्रद्धासे भजनवालोंकी निष्ठाका प्रश्न :

भगवानने दैवासुरसंपद्विभागयोगमें शास्त्रानुरूप ही कार्याकार्य–व्यवस्था बतादी । शास्त्र तो शासन करता है, जीव श्रद्धासे उसका निर्वाह करता है ।–श्रद्धासे फल होता है । अर्जुनने पूछा,– शास्त्रविधि छोडके, श्रद्धा से, जो जो–लोग भगवानको भजते हैं, उन लोगोंकी निष्ठा (स्थिरता–श्रद्धा) कौन सी है ? सत्त्व, रजः, तमः, मेंसे कौन सी ?!

त्रिविध श्रद्धा :

भगवानने अर्जुनको स्नेहसे बताया,–देहधारीऔंकी श्रद्धा स्वभावमेंसे उत्पन्न हुई है । सात्त्विकी, राजसी और तामसी ! उसको सुन ! श्रद्धा सबको सत्त्व (अंतःकरण)के प्रमाणमें होती है । "सत्" का भाव है– "सत्त्व!" "**श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यंच्छ्रद्धः स एवसः** ।"– (३) जिसकी श्रद्धा जिसमें है, वह उसका ही स्वरूप है । क्योंकि पुरुष श्रद्धामय है । श्रद्धानुसार व्यवहार होता है ।

श्रद्धानुरूप जीवन–व्यवहार :

ज्ञानी–अज्ञानी–विज्ञानी–आदि सबके जीवन व्यवहारके मूलमें होती है– श्रद्धा ! श्रद्धा न हो तो जीवनव्यवहार चले ही नहीं ! भोजन करतें हैं, परीक्षा नहीं करते, भोजनमें विषादि नहीं है, निर्दोष भोजन है, ऐसी श्रद्धासे ! दवाईयाँ लेते हैं, रोग मिटनेकी श्रद्धासे ! पाठ–पूजा–सेवादि करतें हैं,–फल या प्रभुप्रसन्नता मिलनेकी श्रद्धासे ! पाठ–पूजादि यथार्थ होनेकी श्रद्धासे ! स्कूल–कालिजमें पढते हैं–पढाई यथार्थ होनेकी श्रद्धासे ! विज्ञान भी श्रद्धामूलक ही है । १+१=२ यह सर्वत्र स्वीकार्य है, कोई भी सबूत तो नहीं ही माँगता है ! है न श्रद्धा ?! आज काम्प्यूटर–में भी डेटा–आंख–बुद्धि–पर श्रद्धासे ही काम होता है न ?! श्रद्धा–विशुद्ध–बुद्धि ही सन्मार्गमें सुदृढतासे चलाती है । केवल बुद्धितो बहिर्मुख बनाती है श्रद्धाही सन्मार्गमें संमुख रखती है। श्रद्धा–रहित कर्म–ज्ञान–भक्ति–निष्फल है । श्रद्धा तो जीवनका बल है– संजिवनी है !

सात्त्विकी–श्रद्धा !

१. देवोंकी पूजा करती है ।

२. आयुष्य, धैर्य, बल, आरोग्य, सुख, प्रीति–बढा ने वाले, मधुर, स्निग्ध, स्थिर, हृद्य, भोजन–प्रिय है ।

३. "यज्ञ करना आवश्यक है"–ऐसा मनमें निश्चय करके, फलापेक्षा–रहित, शास्त्रविधिसे, यज्ञ करते हैं ।

४. ब्राह्मण, गुरु (पूजनीय), ज्ञानीओंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्म–चर्य, अहिंसा, यह शारीरतपः है ।

५. उद्वेग नकरावे ऐसा, सत्य,

राजसी–श्रद्धा :

१. यक्ष–राक्षसोंको पूजती है ।

२. कटु, अम्ल, लवण, अत्युष्ण, तेजः(तीखै) रुक्ष, दाहक, दुःख–शोक–रोगप्रद भोजन प्रिय है ।

३. फलके उद्देशसे, दंभार्थ भी यज्ञ करते हैं ।

४. सत्कार–मान–पूजार्थ, पाखंडसे किया हुआ, इस

तामसी–श्रद्धा ।

१. भूतप्रेतगणोंको पूजतीहै । (वासना–आसक्ति–दुराग्रह–दंभ–अहंकारयुक्त–शास्त्ररहित, घोरतपः करनेवाले अज्ञानीओंके शरीरस्थ पंचमहाभूत तथा अंतःशरीरस्थ मुझे भी कष्ट करानेवालें आसुर–निष्ठावालें जानो !)

२. प्रहर बीता हुआ, ठंडा, विकृतरसवाला, दुर्गंध–चाला, बचा हुआ (बासी), उच्छिष्ट, अपवित्र भोजन प्रिय है ।

३.शास्त्रविधिरहित,

प्रिय, हितकर–वचन, वेदादिशास्त्रोंका अभ्यास, यह वाङ्. मय–तपः है ।

६. मनकी प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, मनःसंयम–हृदय भावकी संशुद्धि, यह मानसतपः हैं ।

७. फलापेक्षा–रहित, प्रभुपरायण, पुरुषोंमें परमश्रद्धासे किये तीनों तपः।

८. "दान करना आवश्यक है," –इसप्रकारसे जो दान, देश–काल–पात्र–विचारसे, प्रत्युपकार न करे ऐसेको, दिया हुआ दान ।

लोकमें अनित्य–अल्पफल–प्रदतपः।

५. प्रत्युपकारके लिये, फलके लिये, क्लेशपूर्वक दिया हुआ दान ।

ओंकाररहित, मंत्रहीन, दक्षिणाहीन, (श्रद्धारहित) यज्ञ होते हैं।

४. अज्ञानसे, हठाग्रहपूर्वक, आत्मपीडासे, अन्यका अनिष्ट करनेकेलिये, किया हुआ तपः ।

५. देशकालपात्रके बिना, सत्काररहित, अवज्ञापूर्वक, दिया हुआ दान ।

ओ३म–तत्–सत्–निर्देश :

"ओ३म्" – "तत्", "सत्"–इसप्रकारसे ब्रह्मका निर्देश त्रिविध है । इससे सृष्टिके आरंभमें ब्रह्माजीने, ब्राह्मण–वेद–यज्ञादिका विधात्री किया है । इसलिये "ओ३म्"–ऐसा उच्चार करके शास्त्रोक्त वेदविज्ञोंकी यज्ञ–दान–तपः– आदि क्रियाएं (सफल) होती हैं । फलकी अपेक्षाके बिना, यज्ञ– तपः– क्रिया, विविध दानक्रिया, मोक्षकी अपेक्षावाले पुरुष "तत्"– वह परब्रह्मके लिये की जाती है । "सत्" के अर्थमें, साधुभावमें, प्रशस्तकर्ममें, "सत्"–शब्दका प्रयोग होता है । यज्ञ, तप, दानमें स्थिति, "सत्" है । "तत्"–परमात्माके लिये किया हुआ कर्म भी "सत्" कहा जाता है । श्रद्धारहित होम, दान, तपः कृत (कर्म), जो कुछ भी हो, (परमात्म भाव– रहित होनेसे) "असत्" कहा जाता है । वह इस–लोकमें –परलोकमें फलप्रद नहीं है ।

सामान्यतः वैदिकक्रममें पूजनादिके अंतमें "ओ३म् ततसत् । ब्रह्मार्पणमस्तु"– बोला जाता है । भक्तिमें "ततसत–श्रीकृष्णार्पणमस्तु" भी बोला जाता है । कर्म ब्रह्म–भगवान् श्रीकृष्ण–को समर्पित किये जाते हैं । यहकर्म में स्वार्थ नहीं है, फलकामना नहीं है, प्रभु–प्रसन्नता ही ध्येय है । "मेरा कुछ भी हो, मेरे प्रिय प्रभु प्रसन्न हो" । – यहीपुष्टिभक्त का तो जीवनलक्ष्य होता है । जीवनमें कुछ भी करेगा–अपने प्रियप्रभु प्रसन्न हो यही प्रकारसे ! अपने

लिये नहीं, अपने प्रभुके लिये ही जीने-वाला सफल जन्मवाला है । संकुचित स्वार्थके लिये जीनेवाला तो शूद्र-मनो-वृत्तिवाला है – प्रायः पशुतुल्य ही है । भगवानकी प्रसन्नताके लिये जीयें-सबकुछ करें-वे सर्वोत्तम है । समाजकी प्रसन्नताके लिये जीयें-सबकुछ करें-वे उत्तम है । स्वजन-स्वकीय-प्रसन्नताके लिये जीयें, – सबकुछ करें-वे मध्यम है । अपने स्वार्थमें, अपनी ही प्रसन्नताके लिये जीयें, उसमें अनेक कष्ट-क्लेश, अकारण भी, कराते रहें-वे तो अधम है । "ऊँ"-हाँ, "तत्"-वह, "सत्"-सत्य है । यही श्रद्धा तो जीवन संजीवनी हो जाती है । भगवत्सेवा-कथा-यज्ञ-दान-तप जो कुछ भी करे, वे सब "हाँ" वह सत्य है"-ऐसी सुदृढ श्रद्धासे ही करें, यह सफलताका सरलसन्मार्ग है । जन्म लेनेवाले जीते तो हैं ही ! जीनेके लिये खाना, खानेके लिये कमाना, कमानेके लिये पढना-पढाना, यह तो विचित्र जीवनक्रम-भ्रम-श्रम तो चलता ही रहता है । उसमेंसे कुछ उदात्त-ध्येयसे जीना तो कोई सद्भाग्यसे-सत्कृपासे ही संभव होता है । वेही लोग सुदृढ श्रद्धासे, "हाँ वह सत्य है,"- की समझपूर्वक, शास्त्रानुकूल सन्निष्ठ पवित्र जीवन जीते हैं । किसीका कल्याण हो, एसा कुछ करते हैं-यह यज्ञ है । कृष्णसेवातो आधिदैविक यज्ञ है । दान भी सर्वात्मा प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही देते हैं । प्रभु प्रसन्नताके ध्येयसे जीनेमें सब कष्ट सहन करनेका तपः, गीतादि-भागवतादि शास्त्रालोचनका

तपः, करते हैं । यही सब सत् है- सफल ! नहीं तो असत्-निष्फल !

अध्याय-१८ : मोक्षसन्यासयोगः श्लोक-७८ :

अठारहका कुछ महत्व :

गीताजीके अध्याय-अठारह ! महाभारतके पर्व-अठारह ! महाभारतका युद्ध चलनेके दिवस- अठारह ! महाभारत-युद्धमें कुल सेना – अक्षौहिणी-अठारह ! महापुराणोंकी संख्या-अठारह ! उपपुराणोंकी संख्याभी-अठारह ! श्रीकृष्णने जरासंघके आक्रमणोंको मार हठाये-श्रीमद्भागवतमें उनकी संख्या-अठारह ! भारतीय प्राचीन विद्या-अठारह ! (चार वेद-चारउपवेद-छः वेदांग-पुराण, न्याय, मीमांसा धर्मशास्त्र)। अठारहकी संख्याका संबंध हमारे प्राचीन धर्मशास्त्रके साथ कुछ विशिष्ट दिखता हे ।

शरणागतिसे सर्व सफलता :

गीताजीके अठारहवे अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णने अपने अत्यंतप्रिय अर्जुनको अत्यंत महत्वकी-गीताजीके चरमोपदेश जैसी-सरल-सफल-संपूर्ण जीवन-धन्यताकी-सर्वगुह्यतम बात भी बता दी, – "**मामेकं शरणंव्रज।**" श्रीवाल्मीकि- रामायणके युद्धकाण्डमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीवसे कहा है,- "**तवाऽस्मीति प्रपन्नोऽहं सकृद्यो ह्यभियाचते । अभयं सर्वभूतभ्यो ददाम्येतद्वरतं मम् ॥**"- "मैं तुम्हारा हूँ, प्रपन्न हूँ,- ऐसा

सर्वभूतोमेंसे जो एक दफा भी याचना करता है, तो मैं (उसको) अभय देता हूँ ।" "**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन ।**"– श्रुति है । ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला किसीसे भी भयभीत नहीं होता है, उसको अभय मिलता है । ज्ञानका जो फल है,–अभय! दैवीजीवका लक्षण है–अभय! यहाँ तो भगवानकी शरणागति– मात्रसे आरंभसे ही सुलभ हो जाता है,– अभय ! भगवान् दे देते हैं । भगवान् श्रीकृष्णन व्रजवासियोंकी इन्द्रवृष्टिमेंसे रक्षा करते समय कहा है,– "**तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम् । गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः॥**" –श्रीमद्‌भागवत (१०–२४–१८) "इसलिये मेरी शरणमें आया हुआ व्रज, मैं ही जिसका नाथ हूँ, मैंने जिसका अंगीकार किया है, उसकी रक्षा मैं अपने आत्मयोग से करुगा । "श्रीकृष्णने व्रजकी रक्षा तो अपने आत्मयोगसे की है,– श्रीगिरिराजीतो अपनी लीलाके लिये ही करकमलमें धारण किये हैं ! भगवान् शरणागत की रक्षाको अपना व्रत कहते हैं । उपकारके रूपमें शरणागत–रक्षा नहीं करते हैं–भगवान् ! करते हैं, – अपना व्रत समझकर, स्नेहसे ! शरणागतको तो अभय ही नहीं, अधिक तो भगवान् स्वयं अपने आपको सुलंभ कर देते हैं । शरणागत अपना जीवन भगवानको सोंप्र देता है, निश्चित ही निश्चिन्त हो जाता है ।

सब गतियोंमें शरणागतिकी उत्तमता :

समग्र गीतोपदेशके अंत में भगवानने सर्व–धर्म–सार–रूपमें यही बात बताई,– अपनी अनन्य शरणागति ! गति तो जगतकी स्वाभाविक है ही ! गतिशील हैं जगत् !'गतिमेंसे प्रगति चाहतें हैं–जगतके लोग ! फिर भी किसी को मिलती है,–अधोंगति !, किसीको मिलती है, उर्ध्वगति ! निश्चिततो कौन कह सकता है ?! अगर ब्रह्मज्ञान हो तो मिलती है,–ब्रह्म–गति !–निश्चित है,–शरणागति ! जिसमें मिलती है,–भगवन्मति, भगवदरति, भगवद्‌गति ! शरण भी सुलभ है, केवल कृष्ण–कृपासे ! जो गति नहीं मिलती है,–कर्म से, ज्ञानसे, वैराग्यसे, योगसे, यागसे, कोई भी साधनसे! वह मिलती है–शरणागतिसे ! सबमें गति (फलप्राप्ति) तो क्रियाके बादमें दिखाई देती है। शरणागतिमें तो आरंभसे साथ में ही गति है ! भक्तिके अंगभूत है,–शरणागति !

"संन्यास" और "त्याग" के तत्त्वकी पृच्छा :

"भक्तियोग"में भगवानने पुरुषोत्तम–भक्तिकी सर्वोत्तमता तथा भक्तलक्षण सुनायें । इसमें, "ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा,– (६) तथा "सर्वकर्म फलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्"– (११) में, जो लोग–सर्वकर्म मेरेमें संन्यस्त (समर्पित) करके, मेरेमें परायण (मेरे आश्रित) होते हैं । तथा, मन–इंद्रियादिके संयमपूर्वक सर्वकर्मोंके फलका त्याग कर ।" यहाँ "सन्यस्प" तथा "त्यागं" सुनके–भक्त अर्जुनने, भक्तिमें "**सन्यास**" तथा "त्याग" शब्दसे दोनोंकी स्पष्टता करनेके लिये कृष्णको कहा ! "**सन्यासस्य** महा

बाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् त्यागस्य च–।।" (१) अर्जुन सन्यास और त्यागमें शब्दार्थ नहीं, "**तत्त्वं**" (उसकाभाव) ही जानना चाहता हैं ।

कर्मसंन्यास और कर्मत्यागका निरूपणः कर्म–बंधन नही हो, ऐसे जियें–जीवनकला है :

भगवानने उत्तरमें,–"**काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः। सर्वकर्म फलत्याज्ञां प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।**" (२) –कहा । निपुणलोग वेदोके फलकी इच्छासे कीए जाते) काम्यकर्मोंके त्याग को "**संन्यास**" कहते हैं । विचक्षण–लोग (नित्य–नैमित्तिक) सर्वकर्मफलत्याग को "**त्याग**" कहते हैं कई लोग (सांख्य) कर्म–(हिंसादि) दोषयुक्त होनेसे कर्मका त्याग करनेको कहते हैं । कईलोग (मीमांसक) यज्ञ–दान–तपः–रूप कर्म न छोडने को कहते हैं । भगवानने अपना निश्चित मत कहा है, "**यज्ञादान–तपःकर्म न त्याष्यं कार्यमेव तत् ।**" (५) यज्ञ–दान–तपः–कर्म छोडने जैसे नहीं है, करने जरूरी हैं । मनः–संयमवाली बुद्धियुक्त लोगोंको ये पावन करनेवालें हैं । "**यज्ञो वै विष्णुः**"। –श्रुतिसे यज्ञ भगवद्रूप है । स्वसत्तानिवृत्ति–परसत्ता स्वीकार दान है, स्वधर्माचरण तपः है । कर्म श्रौत है । यह कर्म भी (कुटिलबुद्धि) आसक्ति और फलकी इच्छाके बिना ही मुमुक्षुओंको भी नित्य करने आवश्यक है । यह मेरा–पुरुषोत्तमको निश्चित उत्तम मत है– भगवानका निश्चित उत्तम मतः – भगवदीयों को भी

निष्कामभावसे कर्म शरणभावसे भगवत्प्रीत्यर्थ करने चाहिये । जीवन है तब तकतो अहंता–ममता है, और कर्म भी तो है ही। अतः कर्मबंधन भी निश्चित है । इसस्थितिमें कर्म भी करने और फल रूप (बंधन) फलोंसे बचना ही एक जीवनकला है । कलानिधि कृष्ण प्रसन्न हो–ऐसे सेवा–शरणभावसे जिये ।

"**एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्तवा फलानि च । कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।।**"– (६)

भगवानने अपना मत स्पष्ट बता दिया है । नियत (शास्त्रोक्त– नित्य–नैमित्तिक–) कर्मोंका त्याग योग्य नहीं है – मोहसे उनका परित्याग "**तामस**" है । जो कर्म है वह बहुयत्नसाध्य दुःखही है, ऐसा समझकर,– काया–क्लेश–भयसे, जो कर्मत्याग करते हैं, वह "**राजसत्याग**" ज्ञाननिष्ठ–त्याग फल नहीं है । "ये करना आवश्यक है – कार्य है" यह समझकर, (नित्य, नैमित्तिक, यज्ञादि, वर्णाश्रम) शास्त्रो–कर्म,– आसक्ति (अहंता–ममता)– एवं फलकी इंच्छाके बिना ही करो ! यह सात्विक है! पुष्टि–पुरुषोत्तमका आश्रय लेके सबकामना छोडके, निर्गुण भगवन्निष्ठ होके, भगवदाज्ञापालन रुप कर्मका अदुष्यरूप, दुःख रूप, कर्मका द्वेष तो नहीं है! पुण्यरूप–सुखरूप–कर्ममें आसक्ति नहीं होती है । वह सत्त्वगुण–युक्त, संशय–रहित, बुद्धि–युक्त, त्यागी है । शरीरधारीको संपूर्ण कर्मत्याग शक्य नहीं है । कर्म–फल, कर्तुत्व कामनादि त्यागीको ही त्यागी कहते हैं ।

कर्मके (नरकादि फलरूप) अनिष्ट, स्पर्धादि इष्ट और पुत्रादिप्रद मिश्र त्रिविध फल होते हैं । अत्यागी (सकाम) पुरुषको मरनेके बाद फल भोगने पडते हैं, कर्मफल तथा सर्वनियामक भगवत्कर्तृत्वबुद्धिसे स्वकतृत्वाभिमानका त्याग करनेवालोंको नहीं!

“एवं नृणा क्रियोयोगाः सर्वे संसृतिहेतवः ।
त एवात्म विनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे ॥”

–श्रीभागवत (१–५–३४) मानवके सब क्रियायोग संसारके संकेत हो जाते है, कर्मफल भोगना पडता, परंतु यही सब कर्म भगवानसे जोड दें । सेवा हो जायगी। कर्मफल भोगने नहीं पडते हैं । जो बढता है वह पडता है, ऐसा नहीं । सेवासे माँ–बाप–बच्चें सब नियत पवित्रताकी शिक्षा भी दें । सेवा फलेच्छासे होती नहीं। सेवामें कृर्तृत्वाभिमान नहीं होता है । सब भगवान् कराते हैं । संन्यास–त्याग तो सेवा करनेवालों में ही है ।

सर्व कर्म सिद्ध होनेमें पांच कारण है,– (शरीरवाणी–मनसे शास्त्रानुरूप (धर्मरूप)में तथा विपरीत (अधर्मरूप) सर्वकर्म में,–)

“अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधा च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥” (१४)

१. अधिष्ठान–आधार (शरीर),२. कर्ता–अहंकार, (साहंकार, जीवात्मा), ३. **पृथकविध–करण**–(ज्ञान–कर्म) भिन्न प्रकारकी मनःसहित श्रोत्रादि इन्द्रियाँ, **४.विविधा** –पृथक्–चेष्टा–प्राणादिकी विविध वृत्तियाँ ५. दैवं–(अदष्ट)– अंतर्यामी। (भगवान्)

सब–कर्तृत्व बह्मका ही है : जीवमें तत्संबंध से है :

सब कर्तृत्व तो ब्रह्मगत ही है, जीवमें तदंशत्व संबंधसे कर्तृत्व आता है । कर्ता–कारयितां सब भगवान् ही है । “**परात्तु तच्छ्रुतेः**” । –ब्र.सू. (२–३–४१) –तथा “**यमुन्नीषति तं साधु–कर्म कारयति** ।”–श्रुतिसे यह सब स्पष्ट है । “**आत्म कृतेः परिणामात**”। – ब्र.सू. (१–४–२६) भगवान् ही कर्म–कर्ता–कार्यरूप, परिणामरूप है । अतः अविकृत्त ही–भगवान् सर्वरूप होने से, सर्वभोक्ता, सर्वकर्ता, सर्वनियंता है, भगवानमें दोष नहीं है । प्रयत्न पर्यंत जीव कृत्य है, आगे तो स्वयं भगवान् ही कराते हैं ।

“**कृतप्रयत्नोपेक्षस्तुविहितप्रतिषिद्ध वैयर्थ्यादिभ्यः** ।”

– ब्र.सू (२–३–४२)–फलदानमें भगवान् जीवके कर्मकी अपेक्षा करते हैं । कर्म करानेमें भगवान् प्रयत्न की अपेक्षा रखते हैं । प्रयत्नमें भगवान् जीवकी कामनाकी अपेक्षा रखते हैं । बच्चोंको खिलौने दिलानेमें जैसे माँ बाप बच्चोंकी प्रयत्नकामना करते हैं । काममें प्रभु जीव प्रभृति लोकप्रसिद्ध जीव समुदायप्रवाह की अपेक्षा रखते हैं । भगवानने मर्यादाकी रक्षाके लिये वेद प्रकट किये हैं। इसलिये भगवानमें स्वल्प भी दोष नहीं है । अनीश्वरत्व (असामर्थ्य) भी नहीं है। मर्यादामार्ग ही भगवानने ऐसा बनाया है । जहाँ, भगवान् ऐसी मर्यादा न रखें, वहाँ पुष्टि है, स्वेच्छासे

स्वकृपासे स्वतंत्र फलदान है । इसप्रकार से, अधिष्ठानादि पांच कर्मके कारण होने पर भी, वास्तवमें तो, प्रकृति-पुरुषके प्रयोजक रूप-परमात्माकी अनुमतिसे ही जीवात्माका कर्तृत्व है । फिर भी कर्ममें जो केवल अपनेको ही (जीवको ही) कर्ता मानता है, वह अशुद्धबुद्धिवाला, दुर्मति यथार्थ रूपमें कर्ताको नहीं जानता है ।

“मैं कर्ता हूँ” -कर्तृभाव न होनेसे कर्मबंधन नहीं होता है :

“यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य नलिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥” (१७)

जिसके अंतःकरण में-“मैं कर्ता हूँ”-ऐसा भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि कर्मसे (फल वा राग-द्वेषसे) लिप्त नहीं होती है, वह पुरुष यह सब लोकोंको मार देने पर भी न मारता है, न (पापादिसे) बंधनमें आता है । “ प्रभु करते हैं, प्रभु कराते हैं-”समझ जीवनको प्रफुल्लु-प्रसन्न-प्रभुमय रखती है । “अहँ” आया तो अकुलामन, “मैं” आया तो मुश्किल है-जीवन ! अधिष्ठान - आदिमें, भगवानमें ही मुख्यकर्तृत्वके, भगवान् ही सब कुछ करते हैं, ऐसे, -अनुसंधानसे अपने में -“ मैं कर्ता हूँ” -ऐसा मानसविकार न हो, फलादिमें वा राग-द्वेषसे बुद्धि आसक्त (लिप्त) न हो, तो वह व्यक्ति यह सबको मार देने पर भी कर्मबंधनको प्राप्त नहीं होता है । “ब्रह्मण्याधाय कर्माणि।” -स्पष्ट है । ब्रह्मको कर्मसमर्पण आसक्तत्यागसे- उसको पाप-लेप नहीं लगता है, जलक-मंलवत्-निर्लेप रहता है ।

ज्ञाता (कर्मज्ञ) ज्ञान-ज्ञेय (साधन)- यह तीन प्रकार कर्मके प्रेरक है । इसके संयोगसे कर्ममें प्रवृत्ति होती हैं । कर्ता अनुष्ठाता करण- (साधन-इन्द्रिय) क्रिया, (यागादि) - यह तीन प्रकार कर्मके आश्रय हैं । इसके संयोगसे कर्म होता है । **सांख्यमें, ज्ञान-कर्म-कर्ता भी तीन प्रकारके है, - सात्विक, राजस-तामस-भेदसे !**

सात्विक

१. भिन्नभिन्न जड-चेतन (सब प्राणियों) में अभिन्न रूपसे एक अविनाशी परमात्माके स्वरूपको जिससे जानता है-देखता है-वह ज्ञान ।

२.फलेच्छा-रहित, राग-द्वेष-रहित, आसक्ति -अहंकार-रहित, किया हुआ शास्त्रोंक्त नियत कर्म ।

३. आसक्तिरहित, अहंकाररहित, धैर्य-उत्साह-वाला, सफलता-निष्फलतामें विकार (हर्ष-शोकादि) रहित, कर्ता ।

४. प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य, अकार्य (न करने जैसा), भय, अभय, बन्धन, मोक्षको जाननेवाली बुद्धि ।

५. मनः-प्राण-इन्द्रिय-क्रियाओंको, धारण (स्थिर) करनेवाली, योगसे अविचल धृति (धैर्य)

६. आरंभमें विष जैसा और परिणाम (अंत) में अमृत जैसा, आत्मज्ञानकी कृपासे, जीव-बुद्धि-की प्रसन्नतासे ! प्राप्त, सुख ।

राजस

१. भिन्न भिन्न प्राणियोंमें भिन्न भिन्न भावसे जाननेवाला ज्ञान ।

२. फलेच्छासे, अहंकारसहित, बहुत प्रयासवाला, कर्म ।

३. आसक्तिवाला, फलेच्छु, लोभी, हिंसात्मक, अपचित्र, हर्षशोकवाला कर्ता ।

४. धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य, अयथावत् जाननेवाली, यथार्थरूपमें नहीं जाननेवाली, बुद्धि ।

५. धर्म, अर्थ, काम को धारण (स्थिर) करनेवाली, आसक्तिसे फलकी इच्छावाली धृति ।

६. विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे उत्पन्न हुआ आरंभमें अमृत जैसा, परिणाम (अंत) में विष जैसा सुख ।

तामस

१. पंचभूतके कार्यरूप एक शरीरमें ही संपूर्ण (आत्मा) माननेवाला, आसक्तिवाला, युक्तिरहित तत्त्वार्थरहित (मिथ्या), तुच्छ ज्ञान ।

२. परिणाम, हानि, हिंसा, तथा सामर्थ्यविचार-रहित, मोहसे आरंभ किया हुआ ।

३. कर्म-योग्यता विवेकरहित संस्काररहित, नम्रतारहित, धूर्त, कृतघ्नी, खिन्न, आलसी, दीर्घसूत्री (विलंबी) (स्वल्प कार्यमें भी विलंब बहुत करनेवाला), कर्ता ।

४. अधर्मको धर्म जाने ऐसी, सब विषयोंको विपरीत

जाननेवाली बुद्धि ।

५. स्वप्न (निद्रा), भय, शोक, विषाद, मदको न छोडने देनेवाली दुर्बुद्धिवाला पुरुषकी धृति ।

६. निद्रा-आलस्य-प्रमादसे उत्पन्न हुआ, आरंभ में तथा परिणाम (अंत) में अंतःकरणको मोह करानेवाला सुख।

प्रकृतिके तीन गुणोंसे पर पृथ्वी वा स्वर्ग में भी कोई नहीं हैः स्वाभाविकगुणोंसे वर्णधर्म-विभागः- शूद्रका सेवाधर्म महान् है :

"न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुन ः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ।।"(४०)

प्रकृतिसे उत्पन्न हुए यह तीनगुणोंसे मुक्त हो, ऐसा कोई प्राणी पृथ्वीमें, स्वर्गमें, देवोंमें भी नहीं है !

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य और शूद्रके कर्म(उनके उनके) स्वभावसे उत्पन्न हुए गुणोंसे विभक्त (भिन्न भिन्न) हुए हैं ।

शम- (अंतःकरण-संयम), दम- (इन्द्रियसंयम), ब्राह्याभ्यंतर- पवित्रता है। तपः क्षमा, सरलता, आस्तिक्य बुद्धि (भगवान्-शास्त्रोंमें श्रद्धा), (शास्त्रविषयों का) ज्ञान, (परमात्माका अनुभव) विज्ञान,-यह ब्राह्मणके स्वभावमें से उत्पन्न होते हैं । ब्राह्मण अपने आप ऐसा होता है, यह स्वाभाविकता है ।

शौर्य, तेजः, धैर्य, चातुर्य, युद्धमेंसे पलायन नहीं करना, दान, (आश्रितोंका रक्षण-पोषण)-ईश्वरभाव, क्षत्रियोंके स्वभावमेंसे उत्पन्न होते हैं । यह कर्म स्वाभाविक रीति से होते हैं । खेती, पशुपालन, वाणिज्य (क्रय-विक्रय), वैश्यके

स्वभावसे होते हुए कर्म हैं । सर्ववर्णोंकी परिचर्या करना, यह शूद्रका स्वाभाविक कर्म है । चारों वर्णोंके सहयोगसे ही समाज–जीवन–सुचारु रूपमें चलता है । ब्राह्मणके गुणोंसे मोक्ष, क्षत्रिय धर्म से काम, वैश्यसे अर्थ और शूद्रके धर्मसे तो धर्म ही सिद्ध होता है, जो सेवारूप है । सब धर्मोंका पर्यवसान सेवामें होता है, शूद्रका तो धर्म ही सेवा है । यह तो आदरणीय है । अज्ञान समाजने उसका कुछ अनादर किया होगा, श्रीवल्लभाचार्यजीने तो "**अतोऽयं महान्**"– यह महान् है, कहकर सम्मान किया है । ऐसे वर्णधर्मसे चारों पुरुषार्थ समाजके सिद्ध होते हैं । वेदान्तमें – "शुच मन्चाद्रवतीति शूद्रः।" शोक करे वह शूद्र है । ऐसा कहा है ।

अपने वर्ण (आश्रम) धर्मके कार्यभी प्रमुपूजन है :

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः । –(४५)

अपने अपने (वह) स्वाभाविक–कर्ममें लगातार लगे हुए (निष्ठावाला)मानव–जीवन सफलताको प्राप्त करता है ।

जिस भगवान से सब प्राणियोंकी प्रवृत्ति (उत्पत्ति, स्थिति, लय, जीवनकी प्रत्येककार्य परंपरा) होती है, जिस परमात्मासे यह सब (जगत्) व्याप्त (परिपूर्ण–भरा हुआ)है, वह (ब्रह्म)का स्वकर्म (अपने–अपने स्वाभाविक वर्णधर्म–)से अर्चन करके मनुष्य जीवन सफलताको प्राप्त करता है । यथार्थरूपमें अपने अपने कर्मभी प्रभु–पूजन है । वर्णाश्रमधर्म व्यवस्था भारतीय शास्त्रका उत्तम प्रदान है ।

अन्यत्र विश्वमें प्रायः ऐसी सुसंकलित व्यवस्था नहीं है, जिससे समाजका व्यवहार सुख–शांति और स्वगौरव से चले ।

परधर्मके कई लाभसे भी कुछ न देनेवाला (लगने पर भी) स्वधर्म ही उत्तम है :

"श्रेयान् स्वधर्मोविगुणःपरधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियनंकर्म कुर्वन्नाप्नोति कलिबषम् ॥"–(४७)

गुण–रहित (लगने पर)भी अपना(स्वाभाविक कर्मसे प्राप्त) धर्म, अच्छी तरहसे आचारण किंये हुए पर (अन्यलोगोंके, अन्यस्वभाववालोंके) धर्मसे उत्तम है, स्वभावसे नियत (निश्चित) हुए (स्वधर्मरूप) कर्मको करनेवाला पाप (दोष) को प्राप्त नहीं होता है । भारतीय संस्कृतिमें व्यक्तिकी महत्ता धन से नहीं, धान्य से नहीं, राज्यसे नहीं, व्यक्तिकी स्वधर्मनिष्ठासे ही होती रही है । निश्चितधर्मसे सबनिश्चिन्त रह सकते हैं ।

सबकर्मारंभ दोषयुक्त है :

"सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारंभाहि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥" (४८)

दोषवाला (लगने पर) भी (जिसका जो) स्वाभाविक शास्त्रोक्त–नियत) कर्म (है वह) छोडना नहीं । क्योंकि, धूमसे अग्निकी तरह सब ही कर्म (किसी न किसी) दोषसे धिरे हुए हैं, ढके हुए हैं । एकमें दोषबुद्धिसे छूटने जायगा तो दूसरेमें फंसेगा ! ज्ञानी कर्म तो लोकसंग्रहके लिये करें । यहाँ

दोष–दुःखरूप है तो, आरंभमें दुःख, अंतमें तो सुख होगा। आरंभमें धूम बादमें अग्निप्रकाश की तरह।

तत्वज्ञानकी परानिष्ठा–अक्षरब्रह्म प्राप्ति :

(स्वधर्मसे) अंतःकरणकी शुद्धिको प्राप्त पुरुष जैसे ब्रह्मको प्राप्त करता है, वह ज्ञानकी परानिष्ठा, संक्षेपमें जान। तत्वज्ञानकी परानिष्ठा– सर्वोत्तमस्थिति है,–अक्षर–ब्रह्मकी प्राप्ति ! उत्तमस्थिति प्राप्त करनेकेलिये जीवनपद्धति भी उत्तम बनानी होती है। मात्र मनके तरंग और व्यर्थबातोंसे उत्तमता नहीं आती है। कठोर परिश्रम, –द्ढध्येय–पूर्वक–सतत ही करते रहना जरूरी है। वह भी काल्पनिक नहीं शास्त्रानुसारही !

संशय–विपर्याआदि–दोष–रहित बुद्धिवाला, धृतिसे अंतःकरणको वश करके, शब्दादि–विषयोंको छोडके, राग–द्वेष को दूर करके, ऐकांत–पवित्रस्थानका सेवन करनेवाला, स्वल्प–स्वानुकूल–भोजनकरनेवाला, वाणी–काया– मनको संयममें रखनेवाला, नित्य ध्यान–योग–परायण, वैराग्यका सुयोग्य आश्रयकरके रहा हुआ, अहंकार–बल–दर्प–काम–क्रोध–परिग्रहको छोडके ममता–रहित, शांतिवाला पुरुष (अक्षर) ब्रह्मभावके योग्य होता है। अपनेको "मैं ब्रह्म हूँ", ऐसा अनुभव करता हो जाता है।

ब्रह्मभूतका भी फल है–कृष्णकी पराभक्ति :

ब्रह्मभूतःहोनेसे भी उत्तम अधिक है ́ पुरुषोत्तमकी

भक्ति ! –प्रेमलक्षणा–पराभक्ति ! इसलिये ब्रह्मभूत होनेके बाद बताई है–पराभक्ति– प्राप्ति !

"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्‌भक्तिं लभते पराम् ॥"– (५४)

अक्षर–ब्रह्मज्ञान से, अक्षरब्रह्मभावको प्राप्त करके, अक्षरब्रह्मभूत हो गया हुआ जीव, प्रसिन्न अंतःकरणवाला, न शोक करता है, न आकांक्षा करता है, सर्व प्राणीमात्रमें सम होने पर, मेरी (कृष्णकी) परम भक्तिको प्राप्त करता है। अक्षरब्रह्मभूत होने के बाद भी अवशिष्ट है–पराभक्ति की प्राप्ति ! पुनः अवशिष्ट है,–पराभक्ति लभ्य पुरुषोत्तमकी प्राप्ति ! पुनः अवशिष्ट है,–पुरुषोत्तमकी नित्य लीलानुभूति–पूर्णानन्दकी पूर्णानुभूति–स्वरूपानन्दप्राप्ति ! अक्षरब्रह्मज्ञान–जन्य मोक्ष–(अक्षरब्रह्म–प्रवेश)से तो अत्यंत उत्तम है – यह,–पुरुषोत्तमकी लीलाका रसानुभव ! नित्यलीला प्रवेश।

पुष्टिभक्ति फल :

यहाँ इसी ही शरीरसे–इसी ही इन्द्रियाँ से, यही जगतमें, यथेच्छ, प्रकट परब्रह्म है– पुरुषोत्तमकी लीलाका रसानुभव और अंतमें आनंदमयं भगवानकी आनंदमयी नित्यलीलामें प्रवेश ! यह पुष्टि–भक्ति–फल है। पुष्टि भक्ति स्वयंही फल है। फलरूपा पुष्टिभक्ति तो भगवान् जब कृपा करके दें, तब ही मिल सकती है, नहीं तो परमहंस–सर्वत्र सर्वदा ब्रह्म भावानुसंधानवाला को भी दुर्लभ है।

परमहंसोंको भी दुर्लभ है– कृष्णकृपाभक्ति :

"तथा परमहंसानां मुनीनाममआत्मनाम् ।
भक्तियोग विधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियंः॥"

–श्रीभागवत (१–८–२०)

परमहंसोंको–मुनियोंको–निर्मल–हृदयवालोंको भी फलरूपा भक्ति दुर्लभही है । उस भक्तियोगके प्रदान के लिये स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए हैं । भगवान् का प्रदान है,–पुष्टिभक्ति तो ! वह जीवके प्रयत्नों से नहीं मिलती है । मिलती है–केवल कृष्णकृपासे! "विशेषं च दर्शयति !" –ब्र.सू. (४–३–१७) मैं महर्षि व्यासजीने स्पष्ट विशेषता बताई है,–ज्ञान–मार्गीय–प्राप्ति से अधिक ! ज्ञानमार्गीयको अक्षरब्रह्म (गणितानन्द) की प्राप्ति होती है, भक्तोंको होती है–अगणितानन्द पुरुषोत्तम की प्राप्ति !

निर्गुणमें निरत आत्माराम मुनिलोगभी अहैतुकी भक्ति करते हैं : है ही भगवानके गुण ऐसे : भगवानके गुणोंमें मनफँस जाने से तो श्रीशुकदेवजी श्रीभागवत पढे :

"प्रायेण मुनयो राजन् निवृता विधिषेधतः ।
नैगुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः ॥"
–श्रीभागवत–(२–९–७) आत्मारामाश्चा मुनयो
निग्रर्न्था अप्युरुक्रमे । कुर्वन्त्यहैतुकी भक्तिमित्थंभूत
गुणो हरिः ॥"–श्रीभागवत–(१–७–१०) परिनिष्ठतोऽपि
नैर्गुण्यत्तमश्लोकलीलया । गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं

न यदधीतवान् ॥" –श्रीभागवत (२–१–९)

विधि–निषेधसे निवृत्त (पर) हो गये मुनिलोग, भी मग्न हो जाते हैं – भगवद्रसमें ! भगवानका कीर्तन तो अत्याधिक आनंदप्रद है । जीवन्मुक्त गुणातीत मुनियों भी श्रवणके बाद होते भगवानके गुणगानमें–कीर्तनमें– परमानन्दका अनुभव करते हैं । साधनरूप कीर्तनमें भी परमानन्द मिले तो फलरूप कीर्तनसे कैसा सुख होगा ?! इस विचारसे गुणगानमें मग्न रहते हैं । धर्म समझके नहीं, रसपरवश होकर गुणानुवाद करते हैं । निर्गुणमें निरत रहे हुए आत्माराम मुनिजन गुणानुवादमें रसरत बनें, तो यह गुणानुवादतो निर्गुणसे भी आधिक उत्तम है ! तो स्वयं उत्तम–लोक भगवान् तो कितने उत्तम होंगे ?! ये भगवान् सगुण–मायाशवल–नहीं ही हैं । पर है – अक्षरब्रह्मसे ! निग्रर्नथ– आत्माराम मुनियों और अन्य सब अलौकिक–सामर्थ्यवाले उरुक्रम भगवानकी हेतुरहित – भक्ति करते हैं । भगवानके गुणप्रवृत्तिरूप होने पर भी निवृत्तिस्वभाववाले हैं,–परमानन्दरूप है । भगवान् श्रीशुकदेवने भी स्वानुभव कहा !–"मैं निर्गुणमें परिनिष्ठित था! पिताका घर छोडकर चला गया, –संगभयसे ! समाधि की ! समाधिमें शान्त–परमानन्द होता है, श्रीभागवतमें अप्राकृत प्रकट परमानन्दरसका अनुभव हुआ ! लीलाके लिये लीलात्मकरूपसे प्रकट हुए प्रभुका अनुभव हुआ ! प्रभुकी लीलाके अनुभवसे चित्तरस परवश हो गया !

रसात्मक भगवानकी रसालताके अनुभवमें निरंतर गुणगानमें लगगया ! ये सब– निर्गुण स्थितिमें तो थे ही ! परंतु निर्गुणसे पर रसात्मक भगवान् एवं लीलाके अनुभवसे मग्न हो गये उनमें शांकरमत के प्रकांडपंडित–मधुसूदन सरस्वतीजीने भी– "**कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं नजाने ।**" –कृष्णसे पर (उत्तम) कोई तत्त्वको मैं तो नहीं जानता हूँ ! कृष्णसे श्रेष्ठ कोई तत्त्व है ही नहीं ! निर्गुण निराकार भी नहीं ! सर्वश्रेष्ठहै,–सर्वगुणसंपन्न नराकार स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ! यहाँ, गीताजीमें भी, इसी तरह, "**ब्रह्मभूतः**"–कहनेके बाद "**मद्भक्तिलभते पराम् ।**" –कृष्णभक्ति–लाभ कहा है ! अर्थात्, श्रीभागवतोक्ति– वत् श्रीगीताजीमें भी अक्षरब्रह्मसे पर कहे हैं–परब्रह्म पुरुषोत्तमको !–इनकी लीलाको !– इनकी भक्तिको ! ब्रह्मज्ञानियोंके लिये भी यह तो है–फल ! श्रुतिमें भी, "**ब्रह्मविदाऽनोति परम्**"–से अक्षरब्रह्मविद्को फलरूपसे अक्षरसे–उत्तम "**पर**" की प्राप्ति कही है ।

"**गतेरर्थवत्वमुभयथान्यथा हि विरोधः ।**" –ब्र.सू. (३–३–२९) में विस्तृत प्रतिपादित है–पुरुषोत्तमकी परमता ! **फलभक्तिसे ही होता है–यथार्थ पुरुषोत्तम –ज्ञान ! कहते हैं–कृष्ण,**

"**भक्तयाः मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्व तः।**
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥" (५५)

प्रेमलक्षणा–फलात्मिका–पुष्टिभक्तिसे–अक्षरब्रह्म से उत्तम पुरुषोत्तमको (मुझको) "**अभितः**" –पूर्णरूपसे जानता है ! ऐसे भक्तोंकी दुर्लभतासे यहाँ एकवचन है ! सामान्यकृपातो सर्वत्र होती है,–अस्तित्व भी कृपा–से ही होता है, नहीं तो संभव ही नहीं है ! "**द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च । यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया ॥**" –श्रीभागवत (२–१–१२) –द्रव्य–क्रम–काल–स्वभाव जीव–यह पाँचों भगवद्रूप है । भगवानकी कृपासे ही यह सब अपने अपने कार्य कर सकते हैं । सृष्टिक्रम इससे व्यवस्थित चलता है । भगवान् क्रोध न करें, परंतु अगर उपेक्षा–मात्र भी करें, तो भी कोई कुछ भी न कर सके । अव्यक्त सबको खींचलें ! इस प्रकार सबका अस्तित्व भी संभव है,– केवल कृपासे–पुष्टि से ही ! वे मर्यादा–साधन फल भी होते हैं–भगवद्रूप !– सुलभ–सफल भी होते हैं ,– केवल कृपासे–पुष्टि से ! "**वेदो नारायणः साक्षात् स्वयंभूरिति शुश्रुम ॥**" –श्रीभागवत (६–१–४०) वेद साक्षात नारायण है, तो उनकी कृपाके बिना तो सुलभ क्या है–मर्यादा मार्गमें भी उसमें तो यथाधिकार–मर्यादित साधन, मर्यादित फल ! पुष्टिमें तो, "**यमेवैष वृणुते स तेन लभ्यैः**"–श्रुति से, भगवदिच्छा–जन्य–कृपा–जन्य–चरण से स्वयं ही आत्मीयतासे जिसको भी स्वयं पसंद करे उसको भगवान् सुलभ हो जाते हैं ! इस प्रकार, प्रवाह (अस्तित्व), मर्यादा (मोक्षादि) तथा पुष्टि (स्वयं प्रभु प्राप्ति)–सबमें केवल कृपा ही काम करती है–कृतार्थ कर देती है ! कृष्ण

को, कृष्णकी लीलाको, सुलभ कर देती है !

भक्तिका फल केवल ज्ञान नहीं है, पुरुषोत्तमज्ञान है, लीलानुभव है :

कृपाजन्य भक्तिसे ही पुरुषोत्तम का यथार्थ ज्ञान होता है । **"भक्तया मामभिजानाति"** –में तो, सामान्य भक्ति नहीं है, **"ब्रह्मभूत"** वा प्राप्त, ब्रह्मज्ञान का ब्रह्मभाव के बादकी **"परा–भक्ति"** है, फलरूपा भक्ति है । वह भक्तिसे ही अक्षरसे उत्तम भगवानका यथार्थ–ज्ञान होनेका कहा है । **"गीतया मामभिजानाति"**, **"शत्कया मामभिजानाति"**, **"बुद्धया मामभिजानाति"**, **"विद्धया मामभिजानाति"**, स्वयं गीतासे– शक्तिसे, बुद्धिसे, विद्या से मुझको जानते हैं–ऐसा नहीं कहा है–कृष्णने तो !!– नहीं जान सकता है कोई ऐसे भगवानको । लौकिक– वा शास्त्रोक्त,–सब कुछ करनेके बाद, गीतादि भी पढने–सुननेके बाद, सब साधनोंकी परंपराके–बाद, कृपालभ्य–फलात्मिका –पराभक्ति होने पर ही, पुरुषोत्तम का परिज्ञान होता है, और कोई भी साधन–सामर्थ्यसे नहीं ! मेरी (पुरुषोत्तम, स्वयं भगवान्, श्रीकृष्णकी) निर्गुण (ब्रह्मभावसे भी पर–उत्तम) भक्तिसे मुझे (निर्गुण पुरुषोत्तमको) तत्वतः जानता है । जितना मैं हूँ, मैं जो हूँ, जैसा हूँ (अनंतैश्वर्य, –अनंत–अलौकिकगुण, –अनंत– अलौकि–सामर्थ्यादि– विशिष्ट, अलौकिक–लीला–परिकरसहित, प्राकृतगुणसृष्टिरहित, ब्रह्म –परमात्मा– भगवान्,)–ऐसा यथार्थरूपमें मुझे जानता है । श्रीभागवतमें– (२–९–३१)– **"यावानहं यथा भावो यद्रूप–गुणकर्मकः । तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात् ॥"** ब्रह्माजीको भगवान ने कहा है ! "जितना मैं हूँ, जो स्वरूपवाला हूँ, जो रूपवाला हूँ–जो गुण–कर्म–वाला हूँ । ऐसा ही तत्त्वानुभव मेरी कृपासे तुमको हो !"–अनुग्रहसे ही ऐसा ज्ञान दिया है ! ऐसे भगवानको तत्त्वतः जानके, – **"ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम्"**–(५५)–बादमें, **"प्रवेश"** करता है !

अक्षरब्रह्मज्ञानका फल है, –अक्षरब्रह्ममें प्रवेश ! पुरुषोत्तमज्ञानका फल है,–पुरुषोत्तममें प्रवेश ! पुरुषोत्तम भक्तिका फल है–पुरुषोत्तम लीलाप्रवेश ! निर्गुण–मुक्ति होती है – इससे ! सगुण–मुक्ति होती है,–अन्य (अक्षर) सेवनसे ! पुरुषोत्तमभक्ति (पुष्टि–भक्ति–मार्गीयसेवा) के फल है,–१. अलौकिकसामर्थ्य, २. सायुज्य, ३. वैकुंठादिमें सेवोपयोगिदेह ! अथवा, **"विशते–प्रविशते"**–भक्तमें–पुरुषोत्तमप्रवेश, पुरुषोत्तम का आवेश–होता है ! श्रीशुकदेवजी दशमस्कंधकी कथा करते समय **"सभगवान"** है, श्रीशुकमें पुरुषोत्तम प्रवेश है, पुरुषोत्तमका आवेश है, स्वयं भगवान् अपनी कथा कह रहे हैं ।

"एवं निशम्य भृगुनन्दन साधुवादं, वैयासकिः
सभगवानथ विष्णुरातम् । प्रत्यर्च्य कृष्णचरितं
कलिकल्मषघ्नं, व्याहर्तुयारभत आभागवतप्रधानः॥"

(१०–१–१४)–ब्रह्मभूत श्रीशुकदेवजी, पुरुषोत्तम भक्ति

तत्वज्ञानसे पुरुषोत्तमाविष्ट ही, लीलाके दर्शन करते हुए, कथा करते हैं । इसप्रकार, अक्षरब्रह्म–ज्ञानमार्ग से भगवद्–भक्तिमार्गमें महदन्तर स्पष्ट है । प्रेमलक्षणा–भक्ति (सेवा) से ही भगवन्मार्ग–फल–लाभ होता है ।

भगवत्प्रीत्यर्थ कर्मः कृपासे ही विविध फल प्राप्ति :
भगवदाज्ञा न माने तो प्रकृति–प्रबलता से करायगी :

सदा मेरे दृढाश्रयमें रहता हुआ, सर्व (लौकिक – वैदिक– भगवन्मार्गीय) कर्मको सदा करनेवाला भी मेरी कृपासे (प्रसन्नतासे) शाश्वत–अविनाशी–पद (भगवद्–धामात्मक–अक्षरब्रह्म) को प्राप्त होता है ।

भक्तियुक्त–शुद्धमनसे सर्वकर्म मेरेको (पुरुषोत्तमको) अर्पण करके, मेरेमें अनन्य होके (मेरेको ही कर्ता मानके), समत्वबुद्धिरूप योगका आश्रय करके, मेरेमें निरंतर चित्तवाला हो । मेरेमें एकाग्र चित्तवाला तू मेरे प्रसाद (प्रसन्नता) से सर्व आपत्तियोंको तैर जायगा । भयंकर कौरवसैन्यसागरको पांडय तैर ही गये थे–कृष्णके चरणोंकी नावमें बैठकर ! चरण–शरणसे प्रभुकी प्रसन्नता होतो सब आपत्ति तैरना तो आसान है । अगर जो अहंकारसे (यह बात) नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा, मार्गभ्रष्ट हो जायगा ! जिस अहंकारकर आश्रय करके युद्ध नहीं करना तू मानता है, यह तेरा निर्णय मिथ्या है । तेरी क्षत्रिय प्रकृति तुझे युद्ध करायगी ही । तेरे स्वभावप्राप्त कर्मसे बधा हुआ तू, मोहसे जो करना नहीं चाहता है, वही अवश होकर करेगा !

सर्वभूतोंमें ईश्वर– अन्तर्यामी– का निवास : शरण से शान्ति :

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्
सर्वभूतानि यन्त्रारुढानि मायया ॥" (६१)

भगवान्–अंतर्यामी–सबके हृदयमें विराजते हैं .। प्राणीमात्रके हृदयमें जीवके साथ अंतर्यामी भी नियामक–साक्षि–रूपमें रहते हैं । जीव हृदयमें रहकर अपने प्रसरणशील चैतन्यसे सारे शरीरको चेतनप्रयुक्त कर देता है । साथमें रहा हुआ अंतर्यामी निर्लेप है । नियामकता उसका स्वभाव है, ईश्वर है । सब प्राकृत पदार्थों को लीलासे, उच्चनीच भावसे, अपने–मैंसे प्रकट करके, प्रकृति द्वारा सृष्ट (ब्रह्माजीसे लेकर तृणपर्यंत के) सब प्राणीओंके हृद्देशमें प्रभु रहते हैं । वह है–स्वयं प्रकाश ! नियतकार्य है–उसका ! – अपनी शक्तिरूप मायासे सबको भ्रमण कराते हैं । यंत्र पर चढे हुए घट जैसे घूमते रहते हैं, ऐसे प्राणी भी घूमते रहते हैं, –जन्म–मरणादि–चक्रमें । भगवानका प्रेरित–यंत्र है– देंहेन्द्रियादिरूप ! इसमें आरूढ–चेतनको अनुगुणतासे घूमाते हैं ।–"**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः** ।" (१५–१५)–कहा है–कृष्णने ! भटकानेवाले अंतर्यामी उसमें से अटकाते हैं,–भक्तिपूत होने पर ! "हदि **स्थितो यच्छति भक्तिपूतो ज्ञानं सतत्त्वाधिगमं पुराणम्**" श्रीभागवत (३–५–४)। उसकी ही शरणमें जाय तो वह न घूमावे । शरणागति करनेकी है,

– सर्वभावसे ! उसकी कृपासे(प्रसन्नतासे–प्रसादसे) पर मशान्ति, शाश्वतस्थान–(भगवद्धात्मात्मक– अक्षरब्रह्म)की प्राप्ति होती है ।

अनाग्रह वैचारिकक्रान्तिसे जीवन–परिवर्तन :

इस प्रकार, तेरेको गुह्यसे भी अतिगुह्यज्ञान मैंने कहा । “इति”–से यहाँ सामान्यतः ज्ञानोपदेशकी समाप्ति की है । यह ज्ञानका गान है !– सारे समाजके सामने कहनेवाले अनेक होंगे ! कृष्णने तो अपने एक मात्र प्रिय अर्जुनको कहा ! परंतु उपकार नहीं चढाया ! बोझा नहीं बनाया ! कहा हुआ कर, ऐसी कोई अपेक्षा भी नहीं रखी । हितकी बात यथाधिकार कहके, बताके, रुक जाना चाहिये । श्रोता तद्नुरूप करे, ऐसा आग्रह नहीं रखना चाहिये ! भगवानने कहा, “**विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।**” (६३) यह पूर्णरूपसे विचारके, जैसा इच्छता हो ऐसा कर ! श्रीशुकदेवजीने भी राजा परीक्षितको आरंभमें कहा है, “**श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम**” । श्रीभागवत (२–१–५)– अभय की ईच्छावालेको सुनना जरूरी है । आग्रह कोई नहीं किया है ! श्रीकृष्णने भी कोई स्नेहवश भी आग्रह नहीं किया है ! बुद्धि का फल है–अनाग्रह ! मुख्यता विचारकी है । विचार बदल जाय तो आचार भी बदल जायगे ! विचार–परिवर्तनसे होता है –जीवन परिवर्तन ! जरूर है, – योग्य – संपूर्ण – विचारनेकी । वैचारिकक्रान्ति ही सब भ्रान्ति को दूर करके,

श्रान्तिमेंसे शान्ति दे सकती है ! आज देतो आबाल–वृद्ध – युवक को नितान्त जरूरी है – यथार्थ विचारना, बादमें विचरना !

ज्ञान–गानकी समाप्ति करके, विचार–पर आचारको छोड दिये ! यह तो लोक–वेद–मर्यादा–शिष्टाचार की बात पूरी हो गई । अब अपने आत्मीय प्रिय अर्जुनके प्रति उत्कट स्नेह था वह उमडा,–पुन : आगे तो हृदय ही स्वयं बहने लग गया । “**सर्वगुह्यतम**” मेरे वचन सुन ! “तू मेरा अत्यंत प्रिय है, इसलिये तेरे हितकी बात कहता हूँ ।”

प्रभुके स्वजनके हितकी बात :

“मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामे वैष्यसि कौन्तेय प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥”–(६५)

सर्ववेदान्तवेद्य– तेरा रथ चलाता हुआ सारथि हूं – मैं ! मेरेमें तू मन रख । वेदके त्रिकांडार्थभूत – सर्वयज्ञफलभोक्ता – मैं ही हूँ । मेरा ही तू भजन कर। सर्वत्र “मत्” शब्द प्रयोग उपायोंकी अनन्यता एवं स्वतंत्रता का भी सूचक है । कोई एकसे भी भगवान् संतुष्ट होंगे । “**येन केन प्रकारेण मनः कृष्णे निवेशयेत् ।**” किसी भी उपायसे मन कृष्णमें लगादो । मन कृष्णमें लगे तो तो जीवन कृष्णमें लगे ! कृष्णसेवन मनकी स्वाभाविकता हो जाय ! यही तो भक्ति–सेवाका स्वरूप है। ऐसे करता हुआ तू मेरेको ही प्राप्त होगा । प्रतिज्ञा करता हूं मैं ! – तूं मेरा प्रिय है ! मुख्यभक्तिमार्गकी बात भगवान् कह रहे हैं।

यह भी न हो सके तो अनेकल्प बताया –

सर्वधर्मत्यागपूर्वक कृष्णकी ही शरणागतं :

अर्जुन–उध्दव–दोनोंगृहस्थोंको सर्वधर्मत्यागपूर्वक–शरणागतिकी आज्ञा :

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"–(६६)

सर्वधर्म छोडेके तू मेरी एककी शरणमें आजा ! में तुझे सब पापोंमेंसे छुडाऊँगा, शोच न कर !

शरणमार्गसे भिन्न–विरोधी– सर्दधर्मो का तू त्याग करके मेरी एक ही की शरणमें आजा धर्मिरूप स्वयं भगवान् मिल गये फिर धर्मकी उपयोगिता क्या है ?! **"सर्वधर्म"** – से, अन्यके भजनमें उपयोगी सब धर्मोंको छोडनेको कहा है, इससे अन्य–देवादि–भजन तथा उनके धर्म भी बाधक है,– पुष्टिभक्तिमें। अनन्यताकी बात तो वारंवार गीतामें अपने श्रीमुखसे कही है– स्वयं श्री कृष्णने ! सर्वधर्म त्याग से अगर पाप संभावना होगी तो उसमें से छुडाने का वचन श्रीभगवान् देते हैं। सर्व समर्थ भागवान् ही –स्वेच्छासे सब–पापमेंसे छुडाते हैं । कर्मफलभोग नहीं है–भगवानको ! नहीं है–भक्तको ! यह तो लोक – वेद – मर्यादासे पर, है – पुष्टि ।

भगवानने अपने प्रियमित्र भक्त उद्धवजी को भी एसी आज्ञाए दी है । **"तस्मात्त्वंमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव" ॥ मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् । याहि सर्वात्मभावेन मया स्याह्यकुतोऽभयम् ।"** – श्रीभागवत (११–१२–१४,१५) इसलिये हे उद्धव ! विधि–निषेध प्रवृति–निवृत्ति, श्रोतव्य–श्रुत, आदि सबकुछ छोडके सब प्राणीओंके आत्मा रूप मात्र मेरी ऐक की शरणमें सर्वात्मभावसे । मेरे स्वरूपबलसे तू सब ओरसे निर्भय हो जा ! अर्जुन – उद्धव दोनों प्रभुके प्रियमित्र, भक्त ! अधिकार है–मर्यादामें–अर्जुनका । पुष्टिमें– उद्धवजीका ! अर्जुनको–कही–आत्म (ब्रह्म) विद्या ! उद्धवको कहा हे–ब्रह्मवाद ! अंतमें तो दोनोंको अपनी अनन्य–शरणागतिसे ही कृतार्थता कही है ! दोनों भी हैं–गृहस्थ ही ! संन्यासी नहीं है। सूचक है यह बात !

"न्यासादेश" विचारः

यहां, "वेदान्तदेशिक" का पद्य "न्यासादेश" नामसे प्रसिद्ध मिलता है । श्रीमहाप्रभुजीने अपनेको पसंद आने पर श्रीहस्तसे लिख लिया होगा ! श्रीगुसाईजीने उसके उपर भी टीका लिखी है।

"न्यासादेशेषु धर्मत्यजनवचनतोऽकिंचमाधिक्रियोक्ता ।
कार्पण्यं वांगमुक्तं मदितरभजनापेक्षणंवा व्यपोढम् ।
दुःसाध्येच्छो वा क्तचिंदुपशमितावन्यसंमेलने वा
ब्रह्मास्त्रन्याय उक्तस्तदिह विहतो धर्म आज्ञादि सिद्धः॥"

"न्यासादेषेषु"– सर्वधर्मत्यागरूप "संन्यासादेश" में, – त्यागकी आज्ञाओंमें, **"धर्मत्यजनचनतः"**–सर्वधर्मत्यागके

वचन मिलते हैं, उनसे, "**क्वचित्**" कहीं पर, (१) "**अकिंचनाधिक्रियोक्ता**" –अकिंचनोंका अधिकार कहा गया है । – "**अकिंचन–अकिंचन**" में – "**अकारः वासुदेवः स्यात्**" से, वासुदेव (कृष्ण) किंचन – जिसका सबकुछ भगवान् कृष्ण ही है, वही अकिंचन है । कृष्ण के सिवाय जिसका और कुछ भी न हो वह है – अकिंचन! सर्वधर्मत्यागसे अब धर्मि–कृष्ण–के बिना,– उनके शरणके बिना, कुछ भी स्वीकार्य नहीं है। भगवान् जिसको अपने सर्वस्वलगे, उसकी सब क्रियाएं, सारा जीवन, कृष्ण मय ही हो जाता है । भक्त और कुछ चाहता भी नहीं है ! ऐसे भक्त श्रीगोपीजन हैं । "**सर्वधर्मान्**" श्लोकका तात्पर्य सर्वात्मभावमें है। धर्मत्यागके कथन से धर्महानी नहीं हुई है । इसके हेतु "न्यासादेशेषु" –पद्यमें बताये हैं। पुष्टिभक्तिमार्गमें संन्यासी तो यथार्थरूपमें केवल श्रीगोपीजन ही बन गई है !– गुरु– है– वे–पुष्टिमार्गकी ! लोक–वेदके सारे धर्मोंका त्याग करके उन्होंने प्रभुका ही आश्रय किया है । कर्म–ज्ञान–भक्तिके शास्त्रोक्तमार्ग तो मोक्षप्रद है, भगवानके धर्मों तक वे पहूँचते हैं। कोई भी मार्ग, इनमेंसे धर्मी – भगवान्–तक नहीं ले जाता है। यथाधिकार तीनों विहित–कर्तव्य–हैं। भगवानके धर्ममें पर्यवसित होते हैं । सर्वात्मभाव ही भगवान् तक पहूँचाता है। उसका ही यहाँ उपदेश है । उद्धवजीको भी ऐसा ही कहा गया है। श्रीगोपीजनने तो अपने प्रियतम प्रभुके लिये सब कामना

–विषय–वासना छोड दिये हैं । विवेक– धैर्यादि भी छूट गये हैं। सर्वात्मभावकी यह स्वाभाविकता है ! इसलिये "अकिंचन" शब्दसे अधिकार बताया है । सर्वात्मभावके पहले सर्वधर्मत्याग हो जाता है । अधिकार ही है –ऐसा ! (२) "**कार्पव्यं वाङ्गं मुक्तम्**"– अथवा दीनताको अंग कही गई है । रासमेंसे तिरोहित प्रेष्ठ न मिलने पर कृष्णदर्शनलालस श्रीगोपीजन क्लेशसे खोजती, रुदन करती, गान करती, प्रभुके न मिलने पर सुस्वर रो पडी ! निःसाधनता– उत्कट दीनताप्रकट होगई ! प्रभुके प्राकट्य में वह कारण बनगई ! (३). "**मदितर भजनापेक्षणं वा व्यपोढम्**"– मेरे (कृष्णके) बिना अन्य किसीका भी भजन वा उसकी अपेक्षाका निषेध किया गया है। भगवानने अपने सारे ब्रह्म–स्वरूप–धर्म भी छोडकर निजजनका प्रेष्ठ–आश्रय–बननेका स्वीकार लिया, तो जीवको भी उनकी शरणमें जाना ही चाहिये। सर्वात्मभाववाले भक्तोंको अपना आनन्ददान करनेके लिये अपना आत्माराम वा निरपेक्षताका स्वभाव–धर्म–भगवान् छोड देते हैं। भक्त और भगवान् अन्योन्यको छोडकर और किसीका भजन अथवा अपेक्षा करे, वह संभव नहीं है । (४) "**वा दुःसाध्येच्छोद्यमौ उपशमितौ**" – अथवा, जिसका साध्य होना कठिन हो ऐसी इच्छा एवं प्रयत्नका उपशमन किया है । यह सर्वात्मभाव कोई भी साधनोंसे तो सिद्ध नहीं हो सकता है, इसलिये ऐसे इच्छा एवं प्रयत्न व्यर्थ है।

साक्षात्स्वरूप – संबंध वालोंको सबकुछ स्वयं भगवान् ही कर लेते हैं । आधुनिकजीवों के साधनकी शंका भी "क्वचित" कहीं पर–से दूर कर दी है । (५) "**वा अन्यसंमेलने ब्रह्मास्त्यन्याय उक्तः**"–अथवा, अन्यंधर्मोंको शरणागति–के साथ मिलाने पर ब्रह्मास्त्रन्याय कहा गया है। (मेघनादने हनुमानजीको बांधनेके लिये ब्रह्मास्त्र चलाया, मर्यादा पुरुषोतमके सेवकने अपने स्वामीके संतोषके लिये ब्रह्मास्त्रमंत्रमर्यादा–रखी, बंधनग्रस्त हो गये ! सूतकी तंतुमें बांधे हुए वीरवानर को देखकर ब्रह्मास्त्रमें शंका हुई – मेघनादके मनमें । अविश्वाससे शस्त्र व्यर्थ हो गया ! हनुमानजीने जंजिरें तोड दी ! अविश्वास – अन्याश्रय नहीं करने चाहीये। सर्वात्मभाववालोंका अन्यसे संबंध भी नहीं चाहिये। ब्रह्मास्त्र जंजिरें मिलने पर अविश्वाससे ब्रह्मास्त्र–प्रभाव न रहा, ऐसे सर्वात्मभावके साथ कुछ अन्याश्रयादि मिल जाने न चाहिये । अन्य मर्यादादि भावोंसे भी यह भाव मिश्र नहीं होना चाहिये। सर्वधर्मोको भगवानके साथ ही जोड देने चाहिये। पुष्टिके बिना सब–ही मर्यादाको छोडकर भगवान् श्रीकृष्णकी ही शरणमें जाना चाहिये ।

"तदिह"– इसलिये, यहाँ "**सर्वधर्मान्**" श्लोकमें, "**आज्ञादिसिध्दधर्मः**" आज्ञादिसे सिद्धधर्म, "**न विहतः**"–नष्ट नहीं हुआ है ।, उल्लंघित नही हुआ है । भगवान् तो रहस्य बताते हैं । बोध तो यथाधिकार ही

होता है । भगवानके अतिरिक्त जो कुछ भी है, वह भगवद्‌भावमें विघ्नरूप–पाप–है । इन सब पाप–प्रतिबंध–मेंसे छूटकारा प्रभु ही दिलायेंगें । भाव दान तथा विघ्ननाश प्रभु ही करते हैं। अर्जुनको आगे ऐसा भाव होगा, "**इदं ते नातपस्कायसै**" कहेगा नहीं ! मोक्षसे भी अधिक है –सर्वात्मभाव ! कृपैकलम्य है ! तदर्थ अनन्य शरणागति ही कर सकते हैं–कृष्णकी ! शोच न करें ।। "**शरणंव्रज**" से तो स्वजनोंको शरणप्राप्ति का वरदान दिया है । "**मोचषिप्ये**" के बदले में प्रभुने "**मोक्षायिष्यामि**" कहा है । सकल लोक–वेद–चर्म–मर्यादा से आविष्ट अर्जुन को अल्किष्ट कर्मा, स्वजनपक्षपोषक प्रभु, अनुग्रह से शरण स्वीकाररूप मोक्ष दे देते हैं !!

यह ज्ञान तपोरहित, भक्तिरहित, अशुश्रुषु, भगवन्निन्दक को नहीं कहा जाय :

यह ज्ञान तपःरहितको, भक्तिरहितको, श्रवणेच्छा–स्वेच्छा–रहित अशुश्रुषुको, भगवन्निन्दकको, कहना नहीं । यह परम गुह्यज्ञान मेरे भक्तोंको कहेगा, मेरेमें परमभक्ति करके मेरेको प्राप्त हो जायगा ! इससे अधिक कोई प्रिय नहीं है। जो अपने संवादका अध्ययन करेगा, यह मेरा पूजन है। श्रद्धावाला, गुणमें दोष न लगाने–वाला–सुने यह लोकसे छूटकर पुण्यलोकमें जाय ! वत्सल प्रभुने पूछा । – "**कच्चिदेतच्छ्रुतंपार्थ** !" है पार्थ! क्या तूने । एकाग्रतासे सुना ? क्या अज्ञान–जन्य संमोह गया ?

अर्जुनने उमडे हृदयसे स्वकृतार्थता कही–आज्ञापालन करने से आत्मसमर्पण होता है : नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ! स्थितोडस्मि गतसंदेहः– करिष्ये वचनं तव ॥"(७३)

"मोह गया, स्मृति हुई, हे अच्युत ! न च्युत होते हो आप–न स्वभक्तोंको च्युत होने देते हो ! आपकी कृपा (प्रसन्नता)से संदेहरहित में स्थिर हो गया हूँ–आपकी आज्ञा का पालन करूँगा !" अर्जुनने अमुक करूँगा ऐसा नहीं कहा ! अढारहयोगमेंसे कौनसा योग करेगा, वह नहीं कहा ! "**करिष्ये**" – करूँगा, मेरा मन माना हुआ नहीं ! कर्मफल मैं भोगुंगा ! आपके पास, आपको श्रम देकर, पाप–दोषमें से बचनेके लिये दोडूंगा नहीं ! मेरे कर्म में ही भोग लूँगा ! –सूचक है–आत्मनेपद "**करिष्यै**"! मेरेलिये, मेरे प्रभुको, रिश्रम क्यों ? फल–परिणां से निरपेक्ष–आज्ञापालन ही ोना चाहिये – "**वचनं**"– वचन जो कुछ भी होगा ! मैं रूँगा । स्नेह– श्रद्धासे–सादर यथाशक्ति –आज्ञापालन, –यह आत्मसमर्पण है।

–"**करिष्ये वचनं तव**" – लोकवेदशिष्टाचार र्यादा नहीं, भगवदाज्ञा ही मुख्य है – शरणागतको, भक्त ो ! श्रोता–शिष्य – श्रेयोजिज्ञासु अर्जुन कुछ अस्पष्ट हीं, सुस्पष्ट हो गया, – मैं आज्ञापालन करुँगा, आज्ञा जो ुछ भी हो ! उसका परिणाम कुछ भी हो! मेरा कुछ भी हो! मेरे प्रेमाल प्रभु प्रसन्न रहो !" –शरणागति –समर्पण –

सेवा–भक्तिमार्ग–ही अर्जुनने प्रकट स्वीकार कर लिया ! इसमें ही अपना यथार्थ श्रेयः स्पष्ट दिखाई दिया ! गीताजीका स्वारस्य श्रोताके हृदयमेंसे स्वीकृत क्रियारूप में प्रकट हो गया !

संजय के संवेदनः

संजयने कहा,–रोमहर्षण यह अद्‌भुत संवाद वासुदेव और पार्थका सुना ! कृपा– व्यासजीकी– दूरश्रवण– दूरदर्शन– सिद्धि दी ! "**साक्षात्–कथयतः स्वयम्**"–(७५)–युद्ध के दशदिनके बाद भी प्रसंगक्रममें "गीता" कही, भूतकालिन रूपमें नहीं, देखी हुई घटनाके रूपमें, वर्तमानके रूपमें ! योगसामर्थ्यमें यह शक्य है । जैसे–आज वी.डी.ओ. केसेटसे कभी के भी प्रसंग देख–सुन–सकते हैं ! ऐसे वही भी है । संवाद–स्मृतिसे बारबार हर्ष होता है । भगवानका अत्यद्‌भुत–रूप ! विस्मय होता है–मुझे !

"यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवानीतिर्मतिर्मम ॥" (७८)

जहाँ योगेश्वर कृष्ण है, जहाँ धनुर्धर पार्थ है, वहाँ श्री– विजय–भूति–स्थिर–नीति होती है–यह मेरी मति है । भगवान् तो "श्रीपति" है ही ! और अर्जुन भी "विजय" है ही ! दोनो–है–वहाँ–यह सब है ही ! अन्यत्र नहीं !

गीताजीमें बताये हुए–अठारहयोगोंके ईश्वर–नियामक–फलद– योगेश्वर ! लोकहितार्थ कहे हुए– ज्ञान–कर्म–भक्ति–योगके ईश्वर ! भक्तोंके योग– क्षेम–वाहक,

योगके स्वामी ! भक्तोंसे अपना योग–सहयोग–करनेवाले–समर्थ–योगेश्वर ! भक्तकार्यमें अपना और अपने कार्यमें भक्तका –विनियोग करने–करानेमें समर्थ–योगेश्वर ! जहाँ होते हैं,–सशस्त्र नहीं, अशस्त्र ! ससाधन नहीं निःसाधन ! निःसाधन–भक्तजन ! निःसाधन सर्वसमर्थ–भगवान् भी ! विजय–निःसाधनका ! व्रजजन भी पुष्टिस्थ–निःसाधन ! प्रकटप्रभु–निःसाधन–फलात्मा ! "**प**"–परमात्मा, "अर्थ"–पुरुषार्थ, है जिसका वह है–"**पार्थ**" ! –भक्त ! जिसके लिये भगवान् ही अर्थ, बाकी सब व्यर्थ ! अनर्थ ! वह पार्थ–भक्त ! भक्तके लिये, सब योग लेकर, सहयोगमें खडे हैं,– समर्थ– भक्तवत्सल योगेश्वर ! दोनोंका संयोग–फल–गीता ! वह जहाँ पर भी है, वहाँ श्री–जीवनशोभा, लक्ष्मी संस्कार–श्री, विजय–अंदर बहार–सफलता, भूति–विभूति–भगवदनुभूतिवहभी ध्रुवा-स्थिर, ध्रुवा– नीति– निश्चित भगवन्मार्गीय– जीवन व्यवहार– विवेक– भक्ति ! यह सब होते हैं । यह मेरी मत्ति है– ओर कोई माने या न माने !

"श्री कृष्णः शरणं मम ॥"

श्रीहरिः

श्रीमद्भगवद्गीता
गुंजन

शुद्धिपत्र

पृष्ठ नं.	पंक्ति नं.	अशुद्ध	शुद्ध
अनुक्रमणिका			
,, (३)	१	– नः	–मनः
,, (७)	६	अधिकृत	अविकृत
,, (१२)	३	अपरोक्ष–परोक्ष	परोक्ष–अपरोक्ष
,, (१२)	६	अपरोक्ष–परोक्ष	परोक्ष–अपरोक्ष
,, (१२)	१४	श्रीभागवतमें	श्रीगीता–श्रीभागवतमें
,, (१३)	१६	दृष्टिोण	दृष्टिकोण
(१७)	१८	भगवानो	भगवानको
X⟩(१९)	६	आदत	आदृत
X(१९)	१९	अमुल्य फल	अनुकल्प
,, (२०)	६	भक्त को	भक्त तो
,, (२१)	१३	प्रतिमा	प्रतिभा
,, (२२)	४	पुर्णानन्द	पूर्णानन्द
,, (२२)	१५	किसीका थी	किसीका भी
,, (२२)	१५	करनगमें	करने में
,, (२३)	१२	विपज्ञीतता	विपरीतता
,, (२३)	३४	ब्रह्मबंधसे	ब्रह्मसंबंधसे
,, (२५)	१	विवादयोग	विभागयोग
,, (२६)	७–८	(८) बच्चों ——— करतें हैं	वाक्य ही नहीं है
,, (२८)	८	"न्याज्ञादेश"	"न्यासादेश"
उत्कट अभिलाषा			
,, (१)	१७	प्रद्वानेंके	प्रश्नोंके

„ (२)	४	भगती	भागती
„ (२)	७	कविज्ञोंसें	कई विज्ञोंसे
„ (४)	७	मर	मेरे
„ (४)	१५	उद्दृत	उद्धृत
„ (४)	१६	मल	मूल

प्राथमिक परिचय

„ II	१५	–गीत !	–गीता।
„ III	२	गुंकित	गुंफित
„ IV	१४	अविधा	अविद्या
„ V	५	गीताजीनें	गीताजीमें
„ V	७	अलंकादादि	अलंकारादि
„ V	८	संयुक्ति	संयुक्त
„ VIII	१	भगवद्यत	भगवद्दत्त
„ VIII	२०	खाल	ग्वाल
„ IX	५	जीव–	जीवन्–
„ IX	१९	शूद्रस्ते	शूद्रास्ते
„ X	१	दुख्यय	दुरत्यय
„ X	१५	भ्रियते	म्रियते
;; X	१६	शाम्वतोऽयुं	शाम्वतोऽयं
„ X	१७	चन्मन्यते	यन्मन्यते
„ X	१८	कढोपनिर्षत्	कठोपनिषत्
„ X	२०	जयते भ्रियते	जायते म्रियते
„ X	२१	भूयाः	भूयः
„ X	२२	पुराणां	पुराणो
„ X	२२	हन्यते शरीरे	हन्यमाने शरीरे
„ XI	३	परसस्तुसः	परतस्तु सः
„ XII	८	शास्त्रीति	शास्तीति
„ XII	१९	एतद्विदुद्धं	एतद्विरुद्धं
„ XVIII	१	दिखारट	दिखाई
„ XVIII	१६	भोगबलसे	योगबलसे
„ XVIII	१७	संज्य	संजय
XIX	८	भाइटका	भाईका
XXII	१८	शिष्यस्तेऽहिं	शिष्यस्तेऽहं
XXIV	४	मां मंमे	मां स मे
XXV	८	त्वनन्य	त्वनन्यया
XXVIII	११	नास्त्व	नास्त्यत्र
XXIX	२	कृष्णप्रा प्तकृष्णप्रेम	कृष्णप्राप्त, कृष्णप्रिय
XXXII	२	वात्मा	वाला
XXXII	१५	छत्रलिंगसे	छः लिंगसे
„	१३	वासुश्रासौ	वास्‌चासौ
XXXX	२	भजन्त्यनन्य	भजन्त्यनन्य
„	५	शक्य मेवं	शक्य अहमेवं
„	१९	इक्षतेनशिष्दम्	ईक्षतेर्नाशिब्दम्
XXXXII	१९	गीताद्वीकामें	गीताटीकामें
XXXXIII	७	कोठ	कोऊ
„	८	मली	माली
„	२१	घम्	घञ्
XXXXIV	५	भारत	संप्रदाय
XXXIX	१९	मुक्ति–भुत्तिमें	भुक्ति–मुक्तिमें
LIII	१४	सतको	सतत
LIV	११	मामके	नामके
LV	११	कामाऽस्नि	कामोऽस्मि
„	७	भक्तयाः	भक्त्या
„	८	भक्ता	भक्त्या
LVIII	११	जोगका	योगका
LXIV	१२	ज्ञेयव	ज्ञेय
„	८	विभुक्तो	विमुक्तो
LXVIII	८	रहस्तम	रहस्यतम
„	१०	भीतार्थ	गीतार्थ
LXXVII	९	धर्मपयीत	धर्म पर्याप्त
LXXVIII	१०	शरजमार्ग	शरणमार्ग
„	१६	श्रीवाल्ममतमें	श्रीवाल्लभमतमें

LXXXI	२०	न्वेद	वेद
„	६	कालिस्तरय	कलिस्तस्य
„	७	कृपा	कृष्ण
„	९	भगद्व च सामपि	भगवद्वचसामपि
„	१०	श्रौतोऽसर्थो	श्रौतोऽर्थो
„	१०	कलायो	कल्प्यो
LXXXII	५	(कृपा)बलासे	(कृपा)बलसे
„	९	दूर्लभयता	दुर्लभता
„	१४	फस	इस
LXXXVI	४	धर्म–मय	धर्म भय–
„	७	उध्वजीको	उद्धवजीको
LXXXVIII	२–६	निजमृयवर्गको	निजभृत्यवर्गको
३	७	परंपागत	परंपरागत
९	१९	वैद्य	वेद्य
१८	१३	त्यक्त्वोत्तिष्ठ	त्यक्त्वोत्तिष्ठ
२१	११	(१९–२०–६)	(११–२०–६)
२६	१४	दूससा	दुसरा
२७	२	पुरुर्षम्भ	पुरुषर्षभ
३९	११	निस्त्रिैगुण्य	निस्त्रैगुण्य
५७	३	संदेशमें	सदंशमें
६२	२	Sन्यिंत्र	Sन्यत्र
६७	२०	कुहतार्थता	कृतार्थता
८४	२२	ब्रह्माविर्भूवाति	ब्रह्माविर्भवति
८९	१९	चातुर्वर्ण	चातुर्वर्ण्य
९३	५	सन्ष्ठा	सन्निष्ठा
११२	३	जया	जप
११३	१८	भगवच्छास्त्रथ	भगवच्छास्त्र
१३१	१३	यः	पः
१३७	२२	है,तो सर्जक	है। सर्जन
१४०	६	अच्छिाष्ट	उच्छिष्ट
१४६	१५	कुछ "असमथेः"	अकर्तुं समर्थः
१४६	२०	वज्रवाम	वज्रनाभ
१५८	२२	अनव्यतिरेकाभ्यां	अन्वयव्यतिरेकाभ्यां
१६१	९	निर्दोर्ष	निर्दोष
१६२	६	करते	कहते
१६४	११	अपरोक्ष–परोक्ष	अपरोक्ष–अपरोक्ष
„	१८	अद्भूतः	अदभुतं
„	२१	आत्मोंकी	आत्माओंकी
१६५	२१	परा	परः
१७२	४	और यज्ञकर्मरूप	(निकाल दें)
१७४	१२	जवनकी	जीवनकी
१७७	„	ब्रह्मण	ब्रह्मणः
१७८	४	अनन्यचितावाला	अनन्यचित्तवाला
१८०	२	व्यक्तक्रमसे	व्यस्तक्रमसे
१८२	१७	विधामार्थ	विधानार्थ
„	१८	स्त्रिर्यः	स्त्रियः
१८३	५	यक्षिणायामके	दक्षिणायनके
„	१६	मुह्यतम	गुह्यतम
१९१	२	बैलक्षण	वैलक्षण्य
„	२३	उच्चनीचमकारसे	उच्चनीचप्रकारसे
१९२	१०	आधिकृत	अविकृत
१९३	१	निषेषर्प्तप्ता	निषेवतृप्ता
„	२०	शक्तुयव	शक्त्यव
१९६	१०	भूतमहेश्व्ररम्	भूतमहेश्वरम्
२००	१	स्तोत्र	स्तोम
२०१	१७	पाना वह	पाना इच्छना वह
२०५	८	लभतेभ्सा	लभतेञ्जसा
२०६	१३	अनुनर्भव	अपुनर्भव
२०९	१७	ये लोगका	ये अज्ञलोगका
२१२	९	कलचन्ते	कल्पन्ते
„	१४	यज्जहोषि	यज्जुहोषि
२१८	५	व्वक्त	व्यक्ति

२२०	८	ईर्नद्रयोंके	इन्द्रियोंके
”	२३	दुर्लभा।”	दुर्लभा।”–श्रीभागवत (१०–४७–२५)
२२१	८	अहमादिर्दि	अहमादिर्हि
२२७	१२–१६	रुप	रूपाय
२२८	२१	अविलंपयोग	अविकंपयोग
२५२	२३	अधिकृत	अविकृत
२५६	१	फूटस्थ	कूटस्थ
”	१५	मदादी	गदादी
२५९	१	विद्वन्	वदस्व विद्वन्
”	११	भगवय्मिमुख	भगवदभिमुख
२६०	२०	भगवाने न	भगवानने।
”	२१	जोताऽसि	जेताऽसि
२६२	११	सेवक होता	सेवा होती
२६७	१९	पूछता है।	पूछता है। पूछता है,
२६९	२०	भक्तया भक्ति	भक्त्या
२७०	८	नीचगृहोवपि	नीचगृहेष्वपि
”	१९	जीसकी	जिसकी
२७१	११	सर्वतोकधिकम्:	सर्वतोऽधिकः
७४	२	पाप–पुण्य	पाप–पुण्य–जला दे
”	२०	ही भक्तिने।	है भक्तिसे।
७९	९	मामभिजनाति	मामभिजानाति
८१	१०	श्री कृष्ण ही	श्रीकृष्णकी ही
८२	२	थे युक्ततयाः	मे युक्ततमाः
८४	५	श्री आचरण	ही आचरण
७	१६	वर्णन	वर्जन
१	२१	भगवानसे	भगवानको
३	४	कलका	फलका
६	१२	भक्तको	भक्त तो
	८	अद्वैष्त	अद्वेष्टा
	१९	ये जाय	हो जाय, ऐसा करनेवाला

३०७	५	प्रभुदत्त, अपने	अपने
३०९	३	एक	एव
३१२	७	नाऽपुष्टः	नाऽपृष्टः
”	९	गुह्मप्युत	गुह्यमप्युत
३१७	९	सुर्वक्षेत्रेषु	सर्वक्षेत्रेषु
३१९	१	“ज्न्माद्यस्य	“जन्माद्यस्य
३२७	२२	तदेजवति	तदेजति
३३०	६	सतोऽभिव्यंकः	सतोऽभिव्यंजकः
”	१५	कारज	कारण
३४१	३	मूय्योनि	मूढयोनि
३४८	१६	ऊर्ध्वमल	ऊर्ध्वमूल
३४९	३	वेंदावित्	वेदवित्
३५१	२३	मूलवल्फलद्वारुभिः	मूलवल्कलदारुभिः
३५३	१०	वहं	वरं
”	१७	अंसे	अंगसे
३५५	११	स्त्वधो	स्तब्धो
”	२३	विटो	विटपो
३५६	१२	मदे	मेद
३६०	१०	प्रतुयुपकार	प्रत्युपकारं
”	२०	प्रादुरुष्ययम्	प्रादुरव्ययम्
३६२	७	अस्थित्तः	आस्थितः
”	१०	त्यक	त्यक्त
”	१५	कृत्या	कृत्वा
”	१६	यहश्वत्ये	यदश्वत्थे
”	”	प्रतिष्ठत्	प्रतिष्ठम्
”	२३	सच्चिघानन्दके	सच्चिदानन्दके
३६३	१	जगत्सेत्य	जगत्सेव्य
”	३	मुख	मुख्य
३६३	१०	श्वोद्ऽपि	श्वोऽपि
”	१४	विविध	विविधलीला
”	१७	पलयित	पल्लवित

३६४	१४	युगपसृष्ठि	युगपत्सृष्टि
३६६	१२	दुष्टान्त	दृष्टान्त
३६७	६	पदार्थोसा	पदार्थोका निरूपन
३६८	१८	देवागदिकी	देवादिकी
३६९	३	स्वरूपपत्वात्	स्वरूपत्वात्
”	८	संज्ञौ	संज्ञै
”	१७	शशांके	शशांको
”	२०	स्वयं प्रकाश है, न चन्द्र, न अंग्नि	न चन्द्र, न अग्नि, स्वयं प्रकाश है,
३७४	११	जीड–जीवा	जडाजीवाश्च
”	”	विनिर्गताः	निर्गताः
”	१२	पादान्तार्वतो	पादान्तात्सर्वतो
”	”	मुखान्	मुखात्
”	१३	तादशा इति	तादृशादिति
”	१४	चिदंशेनेतरे	चिदंशेनेतरा
३७७	१५	चोत्तरमो	चोत्तरयोः
३७९	९	है	जीव
”	२३	परार्थग्रहणमें	पदार्थग्रहणमें
३८०	७	सोSसावह््	सोSसावहम्
३८९	४	बताये वह	बताये वह? वह
३९०	९	अभरिच्छिन्नता	अपरिच्छिन्नता
३९१	७	व्योमेन्	व्योमन्
”	११	भगवद्धात्मक	भगवद्धामात्मक
३९३	२२	जाननंवाले	न जाननेवाले
३९६	९	जीवनव्यवहारवाले	जीवनव्यवहारवाली
३९८	१०	सीघ्रता	शीघ्रता
३९९	१८	निष्फलासे	निष्फलतासे
४००	१४	–मर्यादा–	–मर्यादासृष्टि"–
”	१५	भुतसर्गो	भूतसर्गौ
४०१	४	जमना	जना
४०४	१५	हर्षक	हर्ष–करूँगा

४०५	१	अपचित्र	अपवित्र
”	७	नामयज्ञौस्ते	नामयज्ञैस्ते
४०५	१२	मुझे पुरुषोत्तमको	मेरा पुरुषोत्तमका
”	२१	विविध द्वार	त्रिविध द्वार
४०६	१०	स्नेहंमैकयं सौहूदमेवं	स्नेहमैक्यं– सौहृदमेव
४०९	२३	विभायोगमें	विभागयोगमें
४१५	९	श्रीकृष्णने	श्रीभागवतजीके श्लोक अठारह हजार । श्रीकृष्णने
”	२३	ददाम्येतद्वरतं मम्	ददाम्येतद् व्रतं मम
४१८	७	फलत्याज्ञां	फलत्यागं
४१८	११	त्याष्यं	त्याज्यं
४१९	४	ही	भी
”	१६	शास्त्रो–कर्म	शास्त्रोक्त–कर्म
”	१८	आश्रय लेके	आश्रय लेके कर्म करे
”	१९	अदुष्यरूप	अदृष्टरूप
”	२३	कर्तुत्व	कर्तृत्व
४२१	२	(अदष्ट)	(अदृष्ट)
”	१३	कृतप्रयत्नोपेक्ष	कृतप्रयत्नापेक्ष
४२३	१	आसक्त त्यागसे	आसक्ति त्यागसे करे
”	२	जलक–मंलवत्	जल–कमलवत्
४२६	११	मन्चाद्रवतीति	मन्वाद्रवतीति
४२७	२२	एकमें	एकमेंसे
४३०	२	मुनीनाममआत्मनाम्	मुनीनाममलात्मनाम्
”	२३	नैगुण्य त्तम	नैर्गुण्य उत्तम
४३१	१	न यदधीतवान्	यदधीतवान्
”	१४	निग्रर्नथ	निर्ग्रंथ
४३२	१४	ब्रह्मविदाSनोति	ब्रह्मविदाSSप्नोति
४३३	१९	लभ्यैः	लभ्यः
”	१७	भी	भी ?।
४३५	२२	व्याहर्तुयारभत	व्याहर्तुमारभत
”	”	आभागवतप्रधानः	भागवतप्रधानः

४३६	२०	अहंकारकर	अहंकारका
४३९	१	देतो	यह तो
४४०	१	अनेकल्प	विकल्प
”	२	शरणागर्त	शरणागत
”	२३	श्रुतमेव	श्रुतमेव च
४४१	६	सर्वात्मभावसे	सर्वात्मभावसे आ ।
”	२०	दुःसाध्येच्छो	दुःसाध्येच्छोद्यमौ
”	”	क्तचिंदथ्य	क्वचिदुप
४४२	३	“अकिंचन–अकिंचन”में	“अकिंचन”में
४४३	५	कार्पव्यं	कार्पण्यं
”	”	वाङ्गं मुक्तम्	वाङ्गमुक्तम्
४४४	४	ब्रह्मास्यन्याय	ब्रह्मास्त्रन्याय
४४५	५	नातपस्कायसै”	नातपस्काय” से
”	९	मोचषिप्ये	मोचयिष्ये
”	”	मोक्षायिष्यामि	मोक्षयिष्यामि
”	१०	चर्म	धर्म
”	२२	कच्चिदेतच्छ्रातं	कच्चिदेतच्छ्रुतं
४४८	१७	मत्ति	मति

नोंध : ध्यानसे सुधारने पर भी मुद्रणमें गलतियाँ रह गई हैं। क्षमाप्रार्थी हैं,– प्रभुके । ह्रस्व – दीर्घ – विसर्ग – मात्रा – अक्षरोंकी न्यूनाधिकता तथा संयुक्ताक्षरादिकी एवं विरामचिह्नोंकी – गलतियाँ कृपया सुधारके पढे । सबका तो शुद्धिपत्र शक्य नहीं हुआ है, मुख्य दिया है ।